महामना मदन मोहन मालवीय के सामाजिक और राजनीतिक विचार

डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध सार

2004
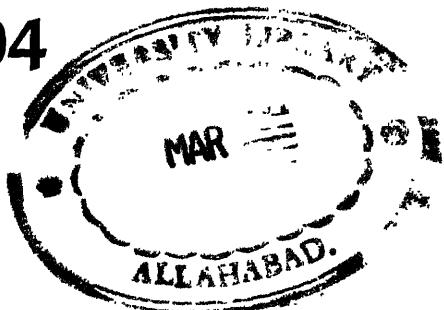
शोध निर्देशक :
डॉ० विजय कुमार राय
रीडर
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्ता :
निरंकार नाथ पाण्डेय
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

महामना मदन मोहन मालवीय महापुरूष और श्रेष्ठ आत्मा थे। उन्होंने त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत किया तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में देश के लोगों की उत्कृष्ट सेवा की। प्रलोभनों से अनाकर्षित और धमकियों से निडर उन्होंने साहस और दृढ़तापूर्वक अपने देशवासियों के सामूहिक हित और उत्कर्ष के लिए पचास वर्ष से अधिक काम किया। वे आध्यात्मिक सद्गुणों, नैतिक मूल्यों तथा सांस्कृतिक उत्कर्ष के असाधारण संश्लेषण थे।

मालवीय जी जीवन और समाज का समन्वित विकास पसन्द करते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक भारत विदेशी दासता के बंधन में बंधा रहेगा उसका विकास नहीं हो सकेगा। उनका मानना था कि स्वस्थ विकास स्वतंत्रता का वातावरण मांगता है। वे चाहते थे कि पुलिस राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जाय, नौकरशाही ढांचे के स्थान पर लोकतांत्रिक संस्थाएं स्थापित हों तथा आधिपत्य की भावना का अन्त हो। मालवीय जी सबको स्वशासन का अधिकार देकर वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र स्थापित करना चाहते थे।

मालवीय जी ने पच्चीस वर्ष तक केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानसभाओं में निर्वाचित सदस्य की हैसियत से कार्य किया। यहाँ उन्होंने सरकार की प्रशासनिक और आर्थिक नीतियों की आलोचना कर जनता की दुर्दशा की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया और जनता के भौतिक, शैक्षिक और नैतिक उत्थान के लिए काम करने हेतु उसके सामने कई योजनाएं प्रस्तुत कीं।

मालवीय जी के धार्मिक विचार शास्त्र की प्रामाणिकता तथा उदारवाद के मिश्रण थे। उन्होंने अपने ढंग से हरिजनों के उत्थान तथा हिन्दू समाज के शेष भाग से उनके निकट सम्मिलन में बहुत योगदान किया। मालवीय जी नैतिक सिद्धान्तों और नैतिक व्यवहार को धर्म और संस्कृति का सार समझते थे। उनका अपना व्यक्तिगत जीवन प्राचीन हिन्दुस्तान की सर्वोत्तम नैतिक परम्पराओं और

उदार लोकतंत्र के नैतिक आदर्शों का मूर्तरूप था। वे चाहते थे कि भारत के नवयुवक भारत के इतिहास और संस्कृति में अच्छे तौर पर शिक्षित किये जायें और उत्तम आदर्शों से अनुप्राणित किये जायें तथा पश्चिम के संचित ज्ञान और अनुभव तथा आधुनिक विचारधाराओं में परिशिक्षित किये जायें तथा अपनी बौद्धिक और शारीरिक शक्तियां विकसित करें और अपने जीवन में सामाजिक उत्तरदायित्व के विवेक का तथा निःस्वार्थ सेवा का और सर्व सामान्य हित के निमित्त समर्पण की भावना का पोषण करें। इसके लिए उनहोंने बहुत सी रचनात्मक योजनाओं को प्रवर्तित और समर्थित किया और बहुत सी संस्थाओं को स्थापित किया, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय" है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में सर्वप्रथम महामना मालवीय जी का संक्षिप्त जीवन परिचय दिया गया है तत्पश्चात् अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित पॉच अध्यायों में बॉटकर उसे प्रस्तुत किया गया है-

प्रथम अध्याय : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विविध धाराएं एवं महामना मदन मोहन मालवीय के राजनीतिक विचार।

द्वितीय अध्यायः महामना पं मदन मोहन मालवीय : सामाजिक-शैक्षिक अग्रदूत के रूप में ।

तृतीय अध्यायः राष्ट्रवाद की अवधारणा एवं महामना मदन मोहन मालवीय : एक विश्लेषण।

चतुर्थ अध्यायः आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के उन्नायकः महात्मा गांधी एवं महामना मालवीय जी।

पंचम अध्यायः बदलते परिप्रेक्ष्य में महामना के विचारों की प्रासंगिकता।

I

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विविध धाराएं एवं महामना मालवीय जी के राजनीतिक विचार का अध्ययन किया गया है। इसमें आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के उदय

एवं विकास पर प्रकाश डाला गया है। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन को सुविधा की दृष्टि से छः भागों में बाँटा गया है :-

1. उदारवादी विचारधारा,
2. आदर्शवादी विचारधारा,
3. मानववादी विचारधारा,
4. सम्प्रदायवादी विचारधारा,
   (क) मुस्लिम सम्प्रदायवाद,
   (ख) हिन्दू सम्प्रदायवाद,
5. समाजवादी विचारधारा, और
6. गाँधीवादी विचारधारा ।

उदारवादी विचारधारा के अंतर्गत मुख्य रूप से राजा राम मोहन राय, दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, फिरोजशाह मेहता, और गोपाल कृष्ण गोखले के विचारों पर प्रकाश डाला गया है। सभी उदारवादी विचारकों के विचारों पर ब्रिटिश उदारवाद की मान्यताओं का प्रभाव स्पष्ट है। उदारवादी विचारधारा में व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करते समय व्यक्ति को साध्य ओर समाज को साधन माना जाता है तथा यह विश्वास किया जाता है कि किसी समाज में व्यक्ति को आत्मनिर्णय के लिए जितनी स्वतंत्रता प्राप्त होगी, वह समाज प्रगति के रास्ते पर उतनी दूरी तय कर पायेगा।

आधुनिक भारत के उदारवादी विचारक इसी मान्यता को मानते थे। इसलिए वे भारतीय परम्परा और समाज-व्यवस्था की आलोचना करने लगे। उनका मानना था कि भारतीय परम्परा में व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध तर्क एवं बुद्धि पर आधारित न होकर भावना एवं परम्परा पर आधारित हो गया है, जहाँ समाज को प्रधान मानते हुए व्यक्ति की स्थिति गौण हो गयी है। भारत के पिछड़ेपन का मूल कारण यही है। इसलिए उदारवादी विचारकों ने घोषणा की कि

जब तक तर्कबुद्धि के आधार पर भारत के सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण नहीं किया जायेगा, तब तक भारत न तो स्वतंत्र अनुभव कर सकता है, न ही महान बन सकता है। इन विचारकों के अनुसार, भारत की सदियों पुरानी गुलामी के बीज उसकी समाज व्यवस्था में निहित थे, उसे अपनी इस स्वाभाविक दासता से मुक्त कराने के लिए धर्म सुधार जैसे महान परिवर्तन की जरूरत थी। अतः इन उदारवादियों ने सम्पूर्ण सामाजिक संगठन को एक ऐसे नये रूप में ढालने की वकालत की, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय को अधिक महत्व मिल सके।

अधिकतर उदारवादी विचारकों ने भारत में ब्रिटिश शासन के आगमन को सामाजिक पुनर्निर्माण के एक अवसर के रूप में देखा। उन्होंने अंग्रेजी शासन की आधुनिकीकरण के साधन के रूप में सराहना की। भारतीय समाज को अंधविश्वास, कुरीतियों, निर्धनता और अज्ञान से मुक्त कराने के ध्येय से उन्होंने ब्रिटिश शासन से सहायता मांगने की नीति को बढ़ावा दिया। वे यह सोचते थे कि अंग्रेजों के मन में न्याय की भावना जागृत कर भारत के सामाजिक पुनर्निर्माण का लक्ष्य पूरा किया जा सकता है। यह बिडम्बना की बात है कि उदारवादी विचारकों ने यह आशा की थी कि वे विदेशी शासन के माध्यम से राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त कर लेंगे।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की दूसरी महत्वपूर्ण विचारधारा आदर्शवादी है। इस विचारधारा के विचारकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती, लाला लाजपत राय, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल और महर्षि अरविन्द प्रमुख हैं। भारतीय आदर्शवादी विचारक यूरोप के आदर्शवादियों की तरह यह मानते हैं कि सृष्टि का प्रकट रूप वस्तुतः इसमें निहित विचारों के प्रत्ययों की अभिव्यक्ति हैं, क्योंकि विचार या चेतना ही सृष्टि का सार-तत्व है। अतः प्रत्येक सामाजिक संस्था किसी न किसी विचार की अभिव्यक्ति है। मनुष्य के शरीर में उसकी आत्मा के कारण ही जीवन का संचार होता है, अन्यथा शरीर जड़ है,

आत्मा ही चेतन तत्व है। मनुष्य का विकास उसकी आत्मा के विकास से निर्धारित होता है। यही चेतन तत्व या आत्मा मनुष्यों को एक दूसरे से मिलाकर समाज या समुदाय के बन्धन में बाँधती है। प्रत्येक समुदाय अपनी चेतना के विकास के स्तर के अनुरूप अपनी परम्परायें और संस्कृति विकसित करता है। इस तर्क के आधार पर भारतीय आदर्शवादियों ने यह मान्यता प्रस्तुत की कि भारत अपनी तरह का एक समुदाय है, उसकी अपनी संस्कृति है, परंपरा है; अपना व्यक्तित्व है। उसके इस व्यक्तित्व को कायम रखने में ही उसकी सार्थकता है, उसे क्षति पहुँचाने का अर्थ होगा-सृष्टि को स्वाभाविक, व्यवस्था में बाधा डालना। इस तरह भारतीय आदर्शवादी विचारकों ने भारत की राष्ट्रीय पहचान स्थापित करने और उसके आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन का निर्माण करने का संकल्प लिया था।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की एक अन्य विचारधारा मानववादी चिन्तन की है, जिसका विकास स्वामी विवेकानन्द, कविवर रविन्द्र नाथ टैगोर और मानवेन्द्र नाथ राय के विचारों में हुआ। मानववाद वह सिद्धान्त; दृष्टिकोण या जीवन पद्धति है, जिसमें मनुष्य की गरिमा और मूल्यवत्ता को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है और यह माना जाता है कि मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि या विवेक का प्रयोग करके आत्म-साक्षात्कार करने में समर्थ है। यह विचारधारा जाति, धर्म या राष्ट्र की सीमाओं को तोड़कर मनुष्य मात्र को विवेकशील और सहृदय प्राणी मानती है तथा उसे अपने आप में साध्य स्वीकार करते हुये मनुष्य के अस्तित्व या गौरव को ही सृष्टि के सबसे मूल्यवान तत्व के रूप में मान्यता देती है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की चौथी महत्वपूर्ण विचारधारा सम्प्रदायवादी रही है, जिसे मुहम्मद इकबाल और मुहम्मद अली जिन्ना ने मुस्लिम सम्प्रदायवाद के रूप में विकसित किया तो इसकी प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दू सम्प्रदायवाद पनपा, जो भाई परमानन्द, विनायक दामोदर सावरकर, केशव बलिराम हेडगेवार आदि के विचारों में विकसित हुआ। अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवाद की जड़ों को मजबूत करने के लिए "फूट डालो और राज्य करो" की नीति के

तहत इस विचार को बढ़ावा दिया कि मुसलमानों की खराब आर्थिक स्थिति के लिए हिन्दू जिम्मेदार हैं। इस तरह मुस्लिम सम्प्रदायवाद की नींव पड़ी। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू सम्प्रदायवाद का जन्म हुआ, जिससे मुस्लिम सम्प्रदायवाद और भी तीखा हो गया। देश के स्वाधीन होने तक वह देश के विभाजन के रूप में सामने आया। इस तरह धर्म-निरपेक्ष भारत के साथ-साथ एक नया देश पाकिस्तान अस्तित्व में आ गया, जो सम्प्रदायवादी मुस्लिम वर्ग की माँगों और आकांक्षाओं का परिणाम था।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन भी तत्कालीन विश्व की सर्वाधिक प्रभावी विचारधारा, समाजवादी विचारधारा से प्रभावित था और इस प्रकार भारत में एक अन्य महत्वपूर्ण विचारधारा समांजवादी विचारधारा का जन्म हुआ। इस विचारधारा में आचार्य नरेन्द्र देव, जवाहर लाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस, जय प्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया आदि शामिल हैं। यूरोप के समाजवादियों की तरहभारत के समाजवादियों का मुख्य सरोकार निर्धन, कामगार वर्ग के हितों की रक्षा से था। वे सामाजिक - आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उत्पादन के प्रमुख साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने के पक्ष में थे। यह बात ध्यान देने की है कि समाजवादी सिद्धान्ततः भौतिक वादी होते हैं। उन्हें आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति विशेष आस्था नहीं होती। भारत के कुछ समाजवादी विचारकों के मन में आध्यात्मिकता के प्रति झुकाव भी रहा, परन्तु समाजवादी होने के नाते उन्होंने वंचित वर्गों के भौतिक कल्याण के लक्ष्य को सबसे आगे रखा।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की छठी महत्वपूर्ण विचारधारा गाँधीवादी विचारधारा है, जिसे स्वयं इसके प्रणेता महात्मा गाँधी ने विचारधारा मानने से इन्कार कर दिया था, किन्तु समकालीन विश्व में यह विचारधारा मानव-कल्याण के लिए सर्वाधिक प्रशंसनीय विचारधारा बन गयी है। गाँधीवादी विचारधारा 'सत्य' और 'अहिंसा' के आदर्श पर टिकी हुई है और इसी से 'सत्याग्रह', 'सर्वोदय' 'सविनय अवज्ञा', 'असहयोग', 'ट्रस्टीशिप' आदि सिद्धान्तों का जन्म हुआ है। मानव समाज को वर्तमान दशा से उबारकर कल्याण की दिशा में

ले जाने के लिए गाँधी जी न केवल हमें परम आदर्श की झलक दिखाते हैं, जिस तक पहुँचने के लिए समाज युगों तक प्रयत्नशील रहेगा, बल्कि तात्कालिक प्रयोजन के लिए वे यथार्थ और आदर्श के बीच का मार्ग भी निर्दिष्ट करते हैं, जिस के माध्यम से सामाजिक नवनिर्माण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया जा सकता है।

उपरोक्त समस्त विचारधाराएं महामना मालवीय जी के विचारों में किसी न किसी माध्यम से स्थान पाती रही हैं। यद्यपि मालवीय जी का विशेष झुकाव उदारवादी विचारधारा की ओर था। जिसके अनुसार मानवीय स्वतंत्रता के वे सर्वाधिक पक्षधर थे। निरंकुशता का वे सदैव विरोध करते थे। वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था का उन्होंने समर्थन किया था। वे न्याय, स्वतंत्रता और जनकल्याण को अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे। वे चाहते थे कि अन्याय का प्रतिरोध भी यथासंभव संवैधानिक ढंग से कानून की सीमा में रहते हुए किया जायं।

मालवीय जी राज्य का परम कर्त्तव्य जनकल्याण मानते थे, तथा जनता की स्थिति में सुधार ही अच्छी सरकार की कसौटी मानते थे, क्योंकि इससे ही कोई सरकार सभ्य सरकार होने का दावा कर सकती है। वे चाहते थे कि विधितन्त्र, राजकोष तथा वित्तीय नीति द्वारा जनकल्याण की पुष्टि और वृद्धि की जाय, वही कानून बनाये जायँ, जिससे जनता की स्वतंत्रता की रक्षा हो, सामाजिक न्याय की पुष्टि हो तथा श्रमिक जनता एवं किसान मजदूरों का अभ्युदय हो। सरकार दुर्दिन के दिनों में जनता की सहायता करे और अपने शक्ति और साधनों को जनता की शक्ति के निर्माण में, लोगों के मस्तिष्क को ज्ञान से प्रदीप्त करने में, उनके घरों के परिवेश को सुधारने में तथा आमदनी के नये स्रोतों को अपनाने की उनमें क्षमता पैदा करने में लगाये, ताकि वे सभ्य संसार में सुखी और गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। इस प्रकार मालवीय जी सामाजिक उदारवाद के पोषक थे, जो किन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में सामाजिक न्याय के आधार पर उदारवादी समाजवाद का रूप धारण कर सकता था।

आदर्शवादी विचारधारा का समावेश भी महामना के विचारों में था। आदर्शवादियों की भाँति वे राष्ट्रीयता के आधार पर राजनीतिक जीवन का निर्माण करना चाहते थे। वे समस्त भारतवासियों को भारत राष्ट्र का अंग स्वीकार करते थे और देश बन्धुता तथा देश प्रेम के आधार पर भारतीय राष्ट्रीयता को सुदृढ़ करते हुए उसकी बुनियाद पर भारतीय राज्य प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उनका मानना था कि "जिस तरह भगवद्-भक्त वे होते हैं, जो अपने समस्त कार्यों को भगवान को अर्पित कर देते हैं और एकाकी लगन से भगवान का ध्यान और उपासना करते हैं, उसी प्रकार सच्चे देशभक्त वे हैं, जो कुछ करें धरें, सब कुछ देश ही के लिए हो और देश के कार्य में प्रतिक्षण तत्पर रहें तथा एकाकी लगन से देश की सेवा में लगे रहे।" वे चाहते थे कि देश ही समस्त देशवासियों के प्रेम और भक्ति का विषय बन जाय। मतभेद , वर्गभेद और जातिभेद आदि के होते हुए भी राष्ट्रीयता का श्रेष्ठ भाव देश व्यापी हो जाय और इतना बढ़ जाय कि उसके आगे अन्य भावों का दर्जा नीचे गिर जाय। ईश्वर भक्ति और देश भक्ति मालवीय जी के जीवन के दो मूलमन्त्र थे। इन दोनों का उत्कृष्ट संश्लेषण, ईश्वर भक्ति का देश भक्ति में अवतरण तथा देशभक्ति का ईश्वरभक्ति में परिपक्वता उनके व्यक्तित्व का विशिष्ट सद्गुण था।

महामना मालवीय जी के विचारों में मानवतावादी विचारधारा का भी समावेश पाया जाता है। उनका धार्मिक दृष्टि कोण भी विशुद्ध मानवतावादी है। उन्होंने 1909 के कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता में कहा था कि "हमारे धर्म हमें बताते हैं कि मनुष्यों की सेवा द्वारा ही ईश्वर सेवा का मार्ग सर्वोत्तम है।" उन्होंने बताया था कि "वे समस्त भौतिक लाभ, जो हम प्राप्त करने योग्य हैं, मानव के प्रति मानव के उन शाश्वत कर्तव्य के पालन से ही मिल सकते हैं, जिन्हें हमारे धर्म ने हम पर लागू किया है । अगर हम धार्मिक कर्तव्य की भावना से प्रेरित नहीं हैं, तब इस कार्य में जिसे हमने प्रारम्भ किया है, हमारी रूचि स्थायी नहीं होगी। परन्तु अगर इस विश्वास के साथ कार्य करें कि ईश्वर के दीन प्राणियों की सेवा भगवान की सेवा है, उसके प्रति हमारा कर्तव्य है, तब चाहे निन्दा हो या प्रतिष्ठा, दूसरे

सहायता करें या रूकावट डालें, हम अन्त तक अपनी शक्ति भर अपने लोगों के कल्याण की वृद्धि करते रहेंगे। ईश्वर में आस्था, ईश्वर का जनसामान्य में दर्शन, जनसामान्य के कष्टों को दूर करने का संकल्प, उत्साह, धैर्य एवं कर्मठता के साथ प्रयत्नशील होना और उसके लिए सदैव सचेष्ट रहना ही धर्म है।'' मालवीय जी प्राणि मात्र के साथ आत्मौपम्य व्यवहार ही न्याय संगत तथा धर्मनिष्ठों का पुनीत कर्तव्य समझते थे। वे जत्याहंकार, वंशाभिमान तथा पार्थक्य की भावना को समत्व की सिद्धि के लिए घातक समझते थे तथा विश्व बंधुत्व की भावना एवं सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार को उसका धर्म-संगत, नैतिक और सामाजिक साधन स्वीकार करते थे।

आधुनिक भारत की सम्प्रदायवादी विचारधारा से भी मालवीय जी प्रभावित थे। उन्होंने हमेशा साम्प्रदायकिता का विरोध किया। मैक्डोनाल्ड के 'साम्प्रदायिक अवार्ड'' का उन्होंने जमकर विरोध किया था। यह सही है कि मालवीय जी को हिन्दू धर्म के प्रति दृढ़ निष्ठा थी, वे सनातन धर्म को सर्वश्रेष्ठ समझते थे, परन्तु उनकी निष्ठा सहिष्णुता से समन्वित थी। वे समान रूप से सभी धर्मो, धर्मग्रन्थों, धर्मगुरूओं का आदर करना समस्त धर्मनिष्ठ व्यक्तियों का कर्तव्य समझते थे। वे मन्दिर, गुरूद्वारा, गिरजाघर, मस्जिद सबको सम्मान के काबिल समझते थे। यद्यपि उन्होंने शुद्धि आन्दोलन को प्रोत्साहित किया, अपने धर्म का व्यापक प्रचार और प्रसार शास्त्र- संगत और हिन्दुओं का कर्त्तव्य बताया, फिर भी उन्होंने किसी भी धर्म, धर्मगुरू, या धर्मग्रन्थ की निन्दा नहीं की। वे चाहते थे कि धर्म प्रचार का कार्य बहुत शान्ति और धैर्य से होना चाहिए। वे यह स्वीकार करते थे कि सत्य और ईश्वर की आराधना सभी धर्मों का मूलाधार है, कतिपय मूलभूत सद्गुण सभी धर्मों में विद्यमान है, जीवन सिद्धि के अनेक मार्ग हैं, मानव अपनी रूचि और परम्परा के अनुकूल अपना मार्ग निश्चित कर दृढ़ निष्ठा से उस पर चलकर सद्गति प्राप्त कर सकता है। उनकी धार्मिक सहिष्णुता ने वास्तव में धार्मिक सद्भावना का ऐसा अनुपम रूप धारण कर लिया था कि उन्होंने सत्तर वर्ष की आयु में समुद्र यात्रा करते हुए जहाज में बाइबिल हाथ में लेकर पूर्ण निष्ठा के साथ

ईसाइयों की उपासना में निःसंकोच भाग लिया। वे मनुष्यता को जाति - पाँति और साम्प्रदायिक भेदों से ऊँचा समझते थे।

मालवीय जी ने डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद के अनुरोध पर सन् 1922-1925 ई0 तक 5 वर्ष हिन्दू महासभा का नेतृत्व संभाला। उन्होंने हिन्दू समाज को सुसंगठित, प्रबल एवं उत्कर्षोन्मुख बनाने का प्रयत्न किया, साहस के साथ आततायियों का मुकाबला करने का उसे पाठ पढ़ाया पर साथ ही साथ मुसलमानों के साथ सौहार्द्र बनाये रखने का उसे उपदेश दिया। उन्होंने हिन्दुओं के कतिपय हितों की रक्षा के निमित्त कांग्रेस के विरूद्ध राजनीतिक दल संगठित किया पर हिन्दू महासभा को किसी राजनीतिक पक्ष का समर्थन करने की कभी सलाह नहीं दी और स्वराज्य की मांग की प्राथमिकता का सदैव ध्यान रखा।

महामना के विचारों में गाँधीवादी विचारधारा का समावेश होना नितान्त सामान्य बात है, क्योंकि गाँधी जी मालवीय जी को अपना बड़ा भाई मानते थे तथा मालवीय जी गाँधी जी पर छोटे भाई सा स्नेह रखते थे। दोनों ही महान भारतीय संस्कृति के गौरव के प्रतीक थे। इसलिए सत्य और अहिंसा पर दोनों ही विश्वास करते थे। असहयोग आन्दोलन की नीति को सिद्धान्ततः स्वीकार करते हुए भी मालवीय जी ने आन्दोलन के कुछ कार्यक्रमों को अव्यावहारिक और हानिकर बताकर उसका विरोध किया। उनका मुख्य विरोध न्यायालयों, विधानसभाओं तथा शिक्षा-संस्थाओं के बहिष्कार पर था। असहयोग आन्दोलन द्वारा हुई जन-जागृति की मालवीय जी प्रशंसा करते थे जब गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया तो मालवीय जी ने इस जन-जागृति को बनाये रखने के लिए देश का दौरा किया एवं असम में अफीम विरोधी आन्दोलन का नेतृत्व किया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का मालवीय जी ने समर्थन किया, जिसके कारण सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर जेल भेज दिया। मालवीय जी "सत्याग्रह" के भी समर्थक थे तथा भारत छोड़ो आन्दोलन के समय तक अपनी अस्वस्थता के बावजूद भी सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेना चाहते थे। लेकिन गाँधी जी ने उनके

स्वास्थ्य को देखकर उन्हें ऐसा करने से मना किया।

इस प्रकार मालवीय जी आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा के सभी तत्वों का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने राष्ट्रीयता और हिन्दू पुनरूत्थानवादी विचारधारा का विकास किया, जिसके कारण उन पर सम्प्रदायवादी होने का आरोप लगाया गया, लेकिन यह तथ्यों से परे था, क्योंकि मालवीय जी सदैव हिन्दू - मुस्लिम एकता को भारत राष्ट्र के कल्याण के लिए आवश्यक समझते थे।

II

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में सामाजिक- शैक्षिक अग्रदूत के रूप में मालवीय जी के विचारों का अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में मालवीय जी के समाज सुधार सम्बन्धी विचार एवं शैक्षिक विकास सम्बन्धी विचारों का अध्ययन किया गया है।

मालवीय जी मानवता के उपासक एवं महान ज्ञानशील 'कर्मयोगी' थे। वे समाज में व्याप्त अधार्मिक, अन्धविश्वासपूर्ण, रूढ़िगत एवं साम्प्रदायिक बातों का उन्मूलन तथा शिक्षा द्वारा समाज को समुन्नत बनाना चाहते थे। उनके समाज सुधार सम्बन्धी कार्यक्रम वैसे तो विशेष रूप से हिन्दू समाज के लिए ही थे, किन्तु वे हिन्दू सम्प्रदायवाद के समर्थक या प्रेरक नहीं थे। वे यह चाहते थे कि विश्व- शान्ति और विश्व-बन्धुत्व जैसी मानवतावादी धर्म, संस्कृति एवं दर्शन का विकास करने वाली जाति को अपनी सुरक्षा का मौलिक अधिकार मिले। उनके विचार में हिन्दू जाति स्वभाव से ही सहिष्णु, शान्त, संयमी, दयालु तथा नम्र होती है। ये गुण जिस व्यक्ति में न हों, उसे हिन्दू कहलाने का अधिकार नहीं।

मालवीय जी ने 'हिन्दू समाज' नामक संस्था से अपने सामाजिक कार्यों का सार्वजनिक सम्पादन प्रारम्भ किया था। यह एक अर्द्ध-राजनीतिक और अर्द्ध-सामाजिक संस्था थी। सन् 1887 ई0 में 'भारत धर्म महामण्डल' की स्थापना के समय से ही मालवीय जी उससे जुड़े रहे। बाद में 'मण्डल' की कार्यप्रणाली को लेकर स्वामी ज्ञानानन्द (जो मण्डल के तत्कालीन प्रबन्धक थे) से मतभेद उत्पन्न

होने पर मालवीय जी ने 'मण्डल' से अलग होकर 'सनातन धर्म महासम्मेलन' के आयोजन में सहायता की। 'सम्मेलन' में हिन्दू समाज के अभ्युत्थान के लिए सर्वसम्मति से अनेक कार्यक्रमों की घोषणा की गयी, मालवीय जी के 'सनातन धर्म संग्रह' नामक पुस्तिका का विमोचन हुआ, तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए मालवीय जी द्वारा प्रस्तुत प्रारूप सर्वसम्मति से पारित हुआ।

भोपाल में हिन्दू - मुस्लिम दंगों के कारणों की व्याख्या कर मालवीय जी ने सभी अत्याचारियों को धर्महीन और नास्तिक कहा। उन्होंने तीन प्रमुख कारणों को बताया, जिसके लिए हिन्दू और मुसलमानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। पहला कारण, यह कि हम सभी एक ही ईश्वर की संतान हैं। दूसरा, यह कि सभी धर्म हमें इन्सान बनने का आदेश देते हैं। अतः इन्सानियत के नाते हमें परस्पर सद्भाव और भाईचारा बढ़ाना चाहिए, और तीसरा, कारण यह कि हम सभी एक ही देश के वासी हैं अतः हममें इस भावना का विकास होना चाहिए। उन्होनें हिन्दू और मुसलमान दोनों से एक धर्म - निरपेक्ष 'नागरिक सेना' गठित करने का सुझाव दिया, जिसमें दोनों समुदायों के सदस्य हों और आततायियों से निरीह एवं निर्दोष लोगों की रक्षा करें।

मालवीय जी हिन्दू - मुस्लिम एकता के लिए सदैव प्रयासरत रहते थे। असहयोग आन्दोलन की विफलता के बाद जब महात्मा गॉंधी ने मौलाना मुहम्मद अली के घर में 21 दिन का उपवास किया था, उस समय मालवीय जी ने वहीं उन्हें श्रीमद्भागवत् की साप्ताहिक पारायण सुनाया था। सारा देश इस बात पर चकित था, क्योंकि यह एक नवीन बात थी कि एक मुसलमान के घर पर सात दिनों तक श्रीमद्भागवत् का पाठ हो और वह भी मालवीय जी द्वारा। यही नहीं किसी ब्राह्मणेत्तर व्यक्ति के हाथ का छुआ अन्न- जल ग्रहण न करने वाले मालवीय जी एकबार लखनऊ में 'रिफ़ा-ए-आम' की अध्यक्षता कर रहे थे। उनके दोनों ओर मुसलमान प्रतिनिधि बैठे थे, परन्तु मालवीय जी ने पानी मांगकर पिया। लोगों के आश्चर्य व्यक्त करने पर उन्होंने बताया कि मुसलमानों को एकता के बंधन में बॉंधने के लिए यदि उन्हें नरक भी हो, तो वे उसे भोग लेंगे। मालवीय जी दंगों के

समय हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से सहायता भिजवाते थे।

उनकी इस मानवीयता के बावजूद यह आश्चर्य है कि उन पर साम्प्रदायिक होने का आरोप लगा। वस्तुतः मालवीय जी कट्टर धार्मिक पुरूष थे। धार्मिकता और साम्प्रदायिकता एक चीज नहीं है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति साम्प्रदायिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह ईमानदार होता है। मालवीय जी साम्प्रदायिक आधार पर निर्वाचन के विरूद्ध थें, क्योंकि उनका मानना था कि ब्रिटिश सरकार पृथक् निर्वाचन द्वारा जनता को विभाजित कर सदा के लिए अधीनस्थ बनाये रखना चाहती है।

साम्प्रदायिक एकता के तहत मालवीय जी ने न केवल हिन्दू-मुसलमानों को परस्पर जोड़ने का कार्य किया, बल्कि विभिन्न हिन्दू धर्मावलम्बी शाखाओं को भी संगठित करने का प्रयास किया। उनके नेतृत्व में हिन्दू महासभा का लक्ष्य एवं संविधान निर्मित हुआ, जिसमें हिन्दू समाज के सभी पंथ एवं वर्ग वालों में परस्पर प्रेम की वृद्धि एवं एकीकरण कर उसे सुसंगठित, प्रबल तथा उत्कर्षोन्मुख बनाना, साम्प्रदायिक सौहार्द्र द्वारा स्वशासित स्वराज्य के लिए संघर्ष करना, हिन्दू जाति के निम्न वर्गों को सभी वर्गों के साथ ऊँचा उठाना, स्त्रियों की स्थिति सुधारना, गो- रक्षा एवं गो-संवर्द्धन करना, हिन्दू जाति के धर्म, सदाचार, शिक्षा और सामाजिक, राजकीय तथा आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना आदि शामिल था।

मालवीय जी वर्ण व्यवस्था के उन्मूलन के स्थान पर उसमें सुधार चाहते थे। वे जन्म के आधार प्रचलित वर्ण व्यवस्था को गुण और कर्म पर आधारित करना चाहते थे। वे असवर्ण विवाह के पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि उनका मानना था कि सवर्ण विवाह का प्रावधान ऋषियों ने सोच समझकर ही किया है। वे प्रत्येक वर्ण को पहले सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने पर जोर देते थे। उनका मानना था कि हिन्दू समाज में कोई छोटा-बड़ा नहीं है। वे चाहते थे कि जिसको जिस कर्म में रूचि हो, उसे वह स्वतंत्रतापूर्वक बिना किसी हस्तक्षेप एवं नियंत्रण के करे, किन्तु धार्मिक

अनुष्ठानों के विषय में वे शास्त्र विहूत पवित्रता एवं नियम पालन के साथ- साथ वर्ण - कर्म को भी महत्व देते थे।

मालवीय जी ने 'अन्त्यजोद्धार विधि' नामक एक गवेषणात्मक लेख में सैकड़ों ग्रंन्थों के प्रमाणों को उद्घृत कर यह सिद्ध किया कि शूद्रों एवं अन्त्यजों को भी (कुछ बातों को छोड़कर) उन सभी सुविधाओं को पाने का अधिकार है, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को प्राप्त हैं। मालवीय जी जाति के स्थान पर विद्या, गुण, कर्म एवं सच्चरित्रता को महत्व देते थे। जिसमें ये सब विशेषतायें मौजूद हैं, वे सदैव सम्मान के पात्र हैं।

स्त्रियों के प्रति मालवीय जी का विशेष ध्यान था। वे चाहते थे कि पर्दा-प्रथा का अंत हो। स्त्रियां भी पुरूषों के समान सभी कार्यों में अपना हाथ बँटाकर देश की सेवा करें। आदर्श नारी सिर्फ घर की शोभा नहीं, कर्म तथा धर्म के क्षेत्र में स्वावलम्बी हैं। मालवीय जी छात्राओं के मानसिक एंव शारीरिक स्वास्थ्य पर पढ़ाई से अधिक बल देते थे। वे स्त्रियों को भारत के भविष्य का आधार मानते थे, इसलिए उनके व्यक्तित्व का विकास नितान्त आवश्यक था।

मालवीय जी बाल विवाह के विरोधी थे। 20-25 वर्ष की आयु में होने वाले विवाह को वे उत्तम मानते थे। विधवा पुनर्विवाह के बारे में उनका विचार था कि यदि विधवा चाहे तो उसका विवाह कर देना चाहिए।

मालवीय जी दहेज - प्रथा के घोर विरोधी थे, क्योंकि यह शास्त्र धर्मों के विरूद्ध है और अनेक अधर्मों का मूल है। शास्त्र में 'अपत्य विक्रय' की घोर निन्दा है। 'अपत्य' शब्द के अर्थ में कन्या और पुत्र दोनों आते हैं। सनातन धर्म की रक्षा और सम्पूर्ण हिन्दू जाति के हित के लिए यह आवश्यक है कि करार की प्रथा सर्वथा बन्द की जाय, संस्कारों में अधिक धन व्यय न किया जाय तथा फैशन समाप्त होना चाहिए।

मालवीय जी अपने शैक्षिक विचारों में यह चाहते थे कि जीवन का सर्वांगीण विकास शिक्षा का मूल मंत्र हो । शिक्षा का प्रबन्ध ऐसा हो कि विद्यार्थी अपनी

शारीरिक, बौद्धिक तथा भावात्मक शक्तियों को परिपुष्ट कर ईमानदारी से अपना जीवन निर्वाह कर सकें, वे कलापूर्ण और सौंदर्यमय जीवन व्यतीत कर सकें, समाज में आदरणीय और विश्वासपात्र बन सकें तथा देशभक्ति से, जो मनुष्य को उच्च कोटि की सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती है, अपने जीवन को अलंकृत कर राष्ट्र की समुचित सेवा कर सकें।

मालवीय जी माध्यमिक स्तर तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था चाहते थे। वे यह भी चाहते थे कि सभी स्तर पर शिक्षा का प्रबन्ध ऐसा हो कि कोई बालक निर्धन होने के कारण शिक्षा से वंचित न रह पाये, क्योंकि गरीबों की सुख शान्ति बहुत हद तक शिक्षा पर निर्भर है। इसके जरिये ही वे विवेक और आत्मसम्मान का स्वभाव प्राप्त कर सकते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उन्होंने प्रारम्भ से ही हरिजन विद्यार्थियों के लिए शिक्षा निःशुल्क कर दी थी।

मालवीय जी स्त्री - शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उनका कहना था कि पुरूषों की शिक्षा से स्त्रियों की शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि वे भारत के भावी सन्तानों की माताएं हैं। वे भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, तत्वज्ञानियों, व्यापार, तथा कलाकौशल के नेताओं आदि की प्रथम शिक्षिकाएं हैं। वे स्त्री-शिक्षा का प्रबन्ध इस प्रकार चाहते थे कि प्राचीन तथा नवीन सभ्यताओं के सभी सदगुणों का समन्वय हो और वे अपनी शिक्षा द्वारा भावी भारत के पुनर्निर्माण में पुरूषों से पूर्ण रूप से सहयोग कर सके।

मालवीय जी मानव के सर्वांगीण विकास तथा उत्कृष्ट एवं आनन्दमय जीवन के लिए विकासोन्मुख शिक्षा तथा चरित्र-गठन के साथ-साथ स्वस्थ, निर्मल जीवन, ज्ञान-विज्ञान का विस्तार, ललित कलाओं के प्रति अभिरूचि तथा सुख साधन की भौतिक सुविधाओं को भी आवश्यक समझते थे। स्वास्थ्य की रक्षा तथा शक्ति के विकास के लिए वे 25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन तथा नियमित व्यायाम आवश्यक मानते थे। उनके विचार में व्यायाम तथा क्रीड़ा के प्राचीन और अर्वाचीन साधन

स्वास्थ्य की रक्षा और शरीर की पुष्टि के साथ-साथ मनोरंजन, पारस्परिक सद्‌भाव और सहयोग की क्षमता की वृद्धि के उत्तम साधन भी बन सकते हैं।

मालवीय जी का मानना था कि कला के बिना व्यक्ति का जीवन शुष्क तथा नीरस होता है। इसके विपरीत जीवन को सरस और आनन्दमय बनाये रखने के लिए ललित कलाओं का ज्ञान, उनको परखने की क्षमता, शुद्ध भावनाओं के साथ उनके प्रति अभिरूचि और समयानुकूल उनका अभ्यास अत्यंत आवश्यक है। इसलिए विद्यालयों में संगीत, काव्य, नाट्यकला, चित्रकला, वास्तुकला तथा मूर्तिकला आदि का प्रबन्ध होना चाहिए।

मालवीय जी भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, दर्शन तथा अन्य भारतीय विद्याओं के अध्ययन, अध्यापन तथ अनुसंधान का समुचित प्रबन्ध आवश्यक समझते थे। इसके साथ ही वे अर्वाचीन नीतिशास्त्र, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, और राजनीतिशास्त्र का ज्ञान भी चाहते थे, साथ ही अर्वाचीन एवं प्राचीन विद्याओं का तुलनात्मक एंव समन्वयात्मक अध्ययन चाहते थे, जिससे मानवीय ज्ञान का विकास हो सके।

मालवीय जी वैज्ञानिक अध्ययन में प्रयोगात्मक पद्धति तथा व्यवहार में उसके प्रयोग की बड़ी प्रशंसा करते थे कि वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा प्रचलित सिद्धान्तों ओर संचित अनुभवों की सच्चाई प्रयोगशाला में सिद्ध करवाई जाती है और विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया जाता है कि वे निजी अनुभवों द्वारा उन सिद्धान्तों को संशोधित तथा नये सिद्धान्तों को प्रतिपादित करें। वे चाहते थे कि प्रारम्भिक विज्ञान की शिक्षा को प्रारम्भिक शिक्षा पद्धति का अनिवार्य अंग बना दिया जाय तथा माध्यमिक विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में विज्ञान और वैज्ञानिक शिल्प-विद्या की उच्च स्तरीय शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाय, ताकि हमारा देश बौद्धिक विकास और व्यावसायिक उन्नति में दूसरे प्रगतिशील देशों के समकक्ष बन सके। वे चाहते थे कि प्रत्येक प्रान्त में एक उच्च स्तरीय औद्योगिक शिक्षा महाविद्यालय खोला जाय, जिसमें शिल्प-विज्ञान सम्बन्धी विषयों की उच्च स्तरीय शिक्षा दी जाय एवं

प्रत्येक जिले या कम से कम प्रत्येक कमिश्नरी में माध्यमिक स्तर की ऐसी औद्योगिक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की जाय, जिनमें बुनाई, धुलाई, वस्त्र छपाई, बढ़ईगीरी, मीनाकारी आदि की शिक्षा की व्यवस्था हो। मालवीय जी जापान की कृषि की उन्नति की बहुत प्रशंसा करते थे और चाहते थे कि जापान की ही भाँति प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा के साथ - साथ कृषि की शिक्षा दी जाय। उनका विचार था कि टोकियो के कृषि महाविद्यालय की भाँति भारत में भी प्रत्येक प्रान्त में कृषि महाविद्यालय खोले जायँ। महाविद्यालयों का सम्बन्ध विश्वविद्यालयों से कर दिया जाय, जहाँ कृषि विज्ञान विशेषज्ञ दूसरे विज्ञान विशेषज्ञों के साथ मिलकर काम कर सकें।

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में मालवीय जी चाहते थे कि आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्सा प्रणाली दोनों की शिक्षा का सरकार समुचित प्रबन्ध करें तथा आयुर्वेद के क्षेत्र में अनुसंधान को बढ़ावा दें।

मालवीय जी संस्कृत को संसार की सर्वश्रेष्ठ भाषा मानते थे, जो मनुष्य के विचारों को सुन्दर और सुचारु रूप से प्रकट करती है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता और धर्म की समुचित जानकारी संस्कृत साहित्य के अध्ययन से ही सम्भव है। मालवीय जी का विचार था कि हिन्दी भाषा संस्कृत की उत्तराधिकारी हैं। अतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान मिलना चाहिए। वे चाहते थे कि प्रत्येक भारतवासी अपनी प्रान्तीय भाषा की उन्नति के साथ हिन्दी भाषा की उन्नति का अवश्य प्रयास करें। देश और साहित्य की उन्नति राष्ट्रीय भाषा द्वारा ही हो सकती है। जनसाधारण अपनी भाषा में ही उचित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं तथा राष्ट्र के क्रियाकलापों में सक्रिय भाग ले सकते हैं। अतः देशी भाषा में ही कानून, राजकाज, कौंसिल आदि का कार्य होना चाहिए। वे चाहते थे कि हर स्तर पर शिक्षा हिन्दी भाषा में दी जाय। परन्तु उनका विचार कदापि यह नहीं था कि अंग्रेजी भाषा का सर्वथा त्याग कर दिया जाय, क्योंकि किसी विदेशी भाषा में हमारे लिए सर्वाधिक आसान भाषा अंग्रेजी ही है। इसलिए दूसरी भाषा के रूप में विद्यार्थियों को अंग्रेजी भाषा का ज्ञान कराना चाहिए, किन्तु उसे ज्ञान का माध्यम बना देना उचित नहीं है।

मालवीय जी ने केवल शिक्षा सम्बन्धी विचार ही नहीं दिया, बल्कि उसे कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने अपने प्रयास से सन् 1916 ई0 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करायी। इस विश्वविद्यालय में समस्त विद्याओं तथा विश्व की अधिकाँश भाषाओं की शिक्षा का प्रबन्ध उन्होंने कराया। गरीबों के लिए शिक्षा-शुल्क में छूट की उन्होंने व्यवस्था की। इस प्रकार 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' मालवीय जी के शैक्षिक विचारों की प्रयोगशाला हैं।

III

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में राष्ट्रवाद की अवधारणा एवं महामना मदन मोहन मालवीय जी के विचारों का अध्ययन किया गया है, जिसमें भारतीय एवं पश्चिमी राष्ट्रवाद की तुलना के साथ-साथ मालवीय जी के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों का अध्ययन किया गया है।

राष्ट्रीय भावना मनुष्य के राजनीतिक जीवन को सदा से प्रभावित करती रही है। उस समय से लेकर जब राजनीतिक संगठन का रूप जनपदात्मक था, अब तक, जब उसका रूप राष्ट्रीय राज्यों का हो गया है, यह भावना सदा किसी न किसी रूप में राजनीतिक संगठनों के निर्माण को प्रभावित करती रही है। परन्तु राष्ट्रीयता का एक राजनीतिक विचारधारा का स्वरूप, जिसे हम राष्ट्रवाद कहते हैं, आधुनिक काल की देन है। वस्तुतः राष्ट्रवाद एक भावना विशेष का नाम है, जिसके कारण कोई व्यक्ति या समुदाय पारस्परिक एकता की भावना का अनुभव करता है।

पश्चिमी राष्ट्रवाद का दार्शनिक आधार भौतिकवाद और जड़वाद है, जबकि भारतीय राष्ट्रवाद तत्वतः एक मानसिक और आध्यात्मिक प्रत्यय है। इसलिए जहाँ पश्चिमी राष्ट्रवाद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का समर्थक हो जाता है, वहीं भारतीय राष्ट्रवाद मानव मात्र की समानता में विश्वास करता है। यह विश्व बंधुत्व की बात करता है।

महामना मालवीय जी भी इसी भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उनके अनुसार, सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद की

आवश्यकता थी कि जनता के सभी वर्गों के कल्याण और हितों का सम्बर्द्धन किया जाय। वे देश के नागरिकों के हृदय में देशभक्ति तथा भाईचारे की भावना भरना चाहते थे। उनके राष्ट्रवादी विचारों को समझने के लिए उनके द्वारा विभिन्न मंचों एवं समयों पर व्यक्त किये गये विचारों का अध्ययन करना समीचीन होगा, जिनमें मुख्य हैं – राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास के लिए उनके प्रयास, विधानसभाओं (केन्द्रीय एवं प्रांतीय) में उनके द्वारा व्यक्त राजनीतिक विचार, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भागीदारिता आदि।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है, लेकिन राजभाषा अभी नहीं बन पायी है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा बनाने के लिए मालवीय जी ने अथक प्रयास किया था। 'हिन्दी उद्धारिणी सभा', 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' आदि संस्थाओं की स्थापना द्वारा उन्होंने हिन्दी के विकास में अपना अमूल्य योगदान दिया। उनके प्रयासों से 'एंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा' का माध्यम उर्दू एवं फारसी के साथ हिन्दी को भी मान लिया गया। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए उन्होंने चीन, जापान, जर्मनी आदि देशों का उदाहरण देते हुए बताया कि इन देशों में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक उन्नति का माध्यम उनकी अपनी भाषा रही है। इसलिए भारत के विकास के लिए उसके पास एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। हिन्दी देश के अधिकांश लोगों द्वारा व्यवहृत होने के कारण तथा संस्कृत की उत्तराधिकारी होने के कारण राष्ट्रभाषा बनने की सर्वाधिक योग्यता रखती है। इसलिए मालवीय जी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिये जाने की माँग की। उनके प्रयासों को स्वतंत्र भारत में सफलता मिली और हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना दिया गया।

मालवीय जी ने विधानसभाओं का प्रयोग अपने राष्ट्रवादी विचारों के प्रचार एवं प्रसार के लिये किया। उन्होंने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की वित्तीय नीति, सैन्य नीति, प्रशासकीय नीति आदि की गहन समीक्षा की। नागरिक अधिकारों पर सरकारी हमले का उन्होंने डटकर विरोध किया, सरकार की सम्प्रदायिक नीतियों की उन्होंने आलोचना की और जब उन्हें लगा कि राष्ट्रवाद का विकास विधानसभाओं के द्वारा नहीं हो सकता, तो उन्होंने उसका बहिष्कार कर दिया।

मालवीय जी ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन (कलकत्ता, 1886) में पहली बार भाग लिया था। वे कांग्रेस के चार बार अध्यक्ष चुने गये– 1909 में लाहौर, 1918 में दिल्ली, 1930 में पुनः दिल्ली तथा 1932 में कलकत्ता अधिवेशन के लिए। 1930 और 1932 का अधिवेशन सरकार द्वारा प्रतिबन्धित होने के कारण सम्पन्न नहीं हो सका था। मालवीय जी ने कांग्रेस की सदस्यता अपने राष्ट्रवादी विचारों के विकास के लिए ग्रहण की थी, इसलिए जब इसमें बाधा उन्होंने महसूस की तो कांग्रेस से बाहर नये दलों की स्थापना करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय जन-जागृति फैलाने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। साथ ही उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के उन विचारों का विरोध किया, जिससें जनता में बैर-भावना बढ़ती हो तथा लोगों में कु-संस्कार पैदा होते हों। वे सदैव भारत के विकास की चिन्ता करते थे। उनका राष्ट्रवाद राष्ट्रीय चरित्र के विकास का संदेशवाहक था। यहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता उनके राष्ट्रवाद के विकास का एक माध्यम थी, क्योंकि स्वाधीनता के बिना राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना का विकास नहीं हो सकता।

मालवीय जी ने निरंकुशता और परतंत्रता का विरोध किया था, क्योंकि निरंकुशता से जनता का पुरुषत्व नष्ट होता है, जो उसकी नैतिक प्रकृति को विकृत कर देता है तथा पराधीनता से विजयी और विजित दोनों समुदायों में से मनुष्यत्व दूर भागता है। मालवीय जी ने अपने जीवन का लक्ष्य न्याय, स्वतंत्रता और जनकल्याण की प्रतिष्ठा घोषित कर रखा था।

मालवीय जी व्यस्क मताधिकार तथा संयुक्त निर्वाचन प्रणाली पर आधारित जनता द्वारा निर्वाचित सरकार को ही सर्वोत्तम मानते थे। वे चाहते थे कि देश के नागरिक लोकतांत्रिक मर्यादाओं और भद्रताओं का हर परिस्थिति में पालन करें। समस्त नागरिक, विधायक, अधिकारी और कर्मचारी देश की स्वतंत्रता, गरिमा और सम्पत्ति का रक्षा को ही अपना कर्त्तव्य मानें तथा ऐसा कोई कार्य न करें, जिससे देश के हित को क्षति पहुँचती हो।

मालवीय जी उत्तरदायित्व के आधार पर संसदीय प्रणाली की संघीय सरकार को भारत के लिए अधिक उपयुक्त मानते थे। संसदीय प्रणाली में उत्तरदायित्व के कारण जनता के अधिकार सुरक्षित रहते हैं। संघीय सरकार में विकेन्द्रीकरण के कारण सरकार के निर्णयों में जनता की सहभागिता होती है। वे संवैधानिक सरकार को अच्छी सरकार मानते थे। जहाँ जनता द्वारा चुनी हुई संविधान सभा लिखित संविधान का निर्माण करे, जिसके आधार पर शासन का संचालन किया जाय। वे कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का पृथक्करण चाहते थे, क्योंकि एक ही संस्था में कार्यपालिका और न्यायिक अधिकारों के केन्द्रित होने पर मानवीय स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रह सकती।

इस प्रकार महामना मालवीय राष्ट्रवाद की भारतीय अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे देश हित को सभी हितों पर प्रधानता देते हैं। वे मानवीय स्वतंत्रता को राष्ट्रवाद के विकास का माध्यम मानते हैं। उन्होंने जन-कल्याण को अपने समस्त विचारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया। वे चाहते थे कि देश से गरीबी दूर हो और सभी जाति एवं सम्प्रदाय के लोगों में एकता की स्थापना हो। देश के सभी नागरिक सबसे पहले भारतीय हों, तब किसी जाति या धर्म को स्थान दें। वस्तुतः मालवीय जी के राष्ट्रवाद की अवधारणा अधिक विकसित होकर विश्व-बंधुत्व के आधार पर अपने राष्ट्र का विकास करना चाहती है।

IV

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के चौथे अध्याय में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दो महान् कर्मधारों दो मनीषियों, महामना पंडित मदन मोहन मालवीय और महात्मा गाँधी के विचारों का अध्ययन किया गया है। गाँधी जी नें मालवीय जी के बारे में बताया है कि उनका मालवीय जी से प्रथम साक्षात्कार सन् 1890 में लन्दन से निकलने वाले 'इण्डिया' पत्र में छपे एक चित्र द्वारा हुआ था। महात्मा गाँधी और महामना मालवीय में गहरी आत्मीयता थी। गाँधी जी मालवीय जी से उम्र में आठ वर्ष छोटे थे और उन्हें बड़ा भाई कहकर पुकारते थे। मालवीय जी भी उन्हें स्नेह देते थे। कांग्रेस के विशेष

अधिवेशन सन् 1920 के समय गाँधी जी ने कहा था कि पं० मालवीय जी का नाम तो जनता पर जादू कर देता है। जब (1915) से हिन्दूस्तान आया तबसे मेरा उनका गहरा परिचय है। उनके साथ मेरा बहुत समागम है और मैं उन्हें भली-भाँति जानता हूँ। कट्टर एवं पुराने विचार के होते हुए भी उनके विचार समाज के पक्ष में बड़े उदार हैं। हम लोग एक-दूसरे को सगे भाई से बढ़कर प्यार करते हैं।''

सादगी के मामले में महामना मालवीय जी एवं महात्मा गाँधी जी दोनों बेजोड़ थे। गाँधी जी की सादगी कुछ अधिक ही थी। एक धोती से पूरा शरीर ढँके, वे बिना हिचक किसी सभा, सम्मेलन या यात्रा पर निकल जाते थे। लन्दन-गोलमेज सम्मेलन में भी वे इसी वेश में गये, जहाँ ठण्ड अधिक पड़ती थी। मालवीय जी को बराबर यह चिन्ता बनी रहती थी कि गाँधी जी को कुछ हो न जाय। उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना भी की कि ''अगर कुछ हो तो मुझे हो, गाँधी जी को न हो।'' परन्तु गाँधी जी तो मालवीय जी की सादगी पर मुग्ध थे।

गाँधी जी और मालवीय जी दोनों की महानता बेमिसाल थी। अगर एक 'महात्मा' थे तो दूसरे 'महामना'। महामना के आदर्श भगवान 'श्री कृष्ण' थे तो महात्मा के भगवान 'श्री राम'। दोनों अहिंसा - प्रेमी थे, किन्तु भारतीय जीवन दर्शन से पूर्णतया अनुप्राणित होने के कारण महामना मालवीय जी जहाँ अहिंसा के साथ-साथ अनिवार्यता की स्थिति में हिंसा के समर्थक भी बन जाते थे, वहाँ महात्मा गाँधी जी पश्चिमी ईसाईयत, मुख्यतः टालस्टाय से प्रभावित होने के कारण अपने अहिंसावाद के अन्तर्गत गाली को भी हिंसा मानते थे। वे अपने सिद्धान्त को लचीला बनाना नहीं चाहते थे। यद्यपि सन् बयालीस के आन्दोलन में उन्हें मजबूर होकर 'करो या मरो' का नारा देना पड़ा। यह एक तरह से पश्चिमी अहिंसावाद पर भारतीय राजनीतिक दर्शन की विजय ही थी।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के तरीकों के बारे में दोनों महानुभावों के विचारों में अंतर था। असहयोग आन्दोलन का समर्थन करने के बावजूद मालवीय जी इसके कतिपय तरीकों का विरोध करते थे। उनका मुख्य विरोध शिक्षा संस्थाओं के

बहिष्कार पर था, क्योंकि शिक्षा किसी भी हालत में बन्द नहीं होनी चाहिए। आन्दोलन के प्रारम्भ हो जाने के बाद उन्होंने गाँधी, रीडिंग समझौता कराने का भी असफल प्रयास किया। गाँधी जी और मालवीय जी दोनों देशोद्धार के लिए ऐसे समय में हिन्दू-मुस्लिम एकता को आवश्यक समझते थे। गाँधी जी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए दोनों धर्मों में से किसी भी पक्ष की धार्मिक माँग का समर्थन या विरोध नहीं करते थे, परन्तु मालवीय जी हिन्दू महासभा के सदस्य थे एवं कई बार वे इसके अध्यक्ष भी रहे तथा हिन्दू धर्म के विकास के लिए वे प्रयास भी करते थे। फिर भी उन्होंने हमेशा धार्मिक वैमनस्य का विरोध किया तथा दोनों धर्मों के रीति-रिवाजों में ऐसा सुधार चाहते थे, जिससे किसी के धार्मिक विचारों को ठेस न लगे।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय मालवीय जी ने गाँधी जी के विचारों का समर्थन किया, परन्तु मैक्डोनाल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय के मालवीय जी प्रखर आलोचक थे। उसका उन्होंने खुलकर विरोध किया। जहाँ गाँधी जी मैक्डोनाल्ड अवार्ड के मामले पर कुछ अंश तक समझौता के पक्षधर थे, मालवीय जी थोड़ा भी झुकने को तैयार न थे तथा इसी आधार पर उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता से भी इस्तीफा दे दिया। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में जहाँ गाँधी जी दरिद्र और दलित भारत के एक दरिद्र - नारायण के प्रतीक के रूप में उपस्थित हुए थे, वहीं मालवीय जी आध्यात्मिक भारत के धर्म, सदाचार, संस्कृति, सभ्यता तथा मानवता की प्रतिमूर्ति या प्रस्तोता के रूप में उपस्थित थे। वे एक आदर्श राजनीतिज्ञ थे और धर्महीन राजनीति को पापों का गर्त मानते थे। उनका धर्म संकुचित और मजहब परस्त न होकर व्यापक था तथा मानवता एवं विश्व-बंधुत्व का आधार था।

वस्तुतः भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में गाँधी जी और मालवीय जी दोनों लोगों का स्थान एक दूसरे का पूरक हैं। इसलिए दोनों महान लोगों की तुलना करना अत्यंत कठिन काम है। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की समाप्ति पर जब एक अंग्रेज अधिकारी से, जो हमेशा इन लोगों की सेवा में उपस्थित था, गाँधी जी एवं मालवीय जी के विषय में पूछा गया, तो उसका जबाव था कि "महान लोगों की

तुलना करना थोड़ा कठिन काम है। गाँधी निःसन्देह गाँधी जी हैं, किन्तु मालवीय जी की आँखो में स्वयं ईश्वर जैसी कोई चीज दिखाई पड़ती हैं।'' कुछ ऐसी ही बात श्रीमती सरोजनी नायडू ने भी कहा था कि ''पंडित मालवीय जी की महानता निर्विवाद थी। उनकी मधुरता तथा भद्रता अवर्णनीय थी। अपनी शिष्टता के लिए पूरे विश्व में विख्यात एक और व्यक्ति थे, जिन्हें महात्मा गाँधी नाम से पुकारा जाता था, किन्तु पंडित मालवीय जी की भद्रता गाँधी जी की अपेक्षा अत्यधिक महान तथा मधुर थी। पंडित मालवीय जी हृदय से एक राष्ट्रवादी तथा महान् मानवतावादी थे।'' सी० वाई० चिन्तामणि लिखते हैं-''अगर मिस्टर मोहनदास करम चन्द गाँधी 'महात्मा गाँधी' कहे जा सकते हैं, जब पंडित मदन मोहन मालवीय निश्चित रूप से 'धर्मात्मा पंडित मदन मोहन मालवीय' कहे जा सकते हैं।''

V

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के पाँचवे अध्याय में बदलते परिप्रेक्ष्य में महामना के विचारों की प्रासंगिकता का अध्ययन किया गया है। भारतीय संविधान 26 जनवरी, सन् 1950 को लागू किया गया था। इस संविधान के द्वारा जिन आदर्शों एवं मूल्यों की स्थापना की गयी है, वे आदर्श एवं मूल्य महामना के विचारों में पहले से ही विद्यमान थे एवं मालवीय जी ने उनकी स्थापना हेतु अपने मन, वचन एवं कर्म से प्रयास किया था। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारतीय संविधान की रचना मालवीय जी के विचारों को आधार बनाकर ही की गयी है। स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय के साथ विचार, अभिव्यक्ति, धर्म आदि की स्वतंत्रता को मानव मात्र के लिए सुलभ बनाना ही मालवीय जी के विचारों का लक्ष्य था। विश्व-बंधुत्व की संकल्पना उनके विचारों का मूल है।

मालवीय जी ने सर्वोदय की कल्पना की थी, जिसके लिए उन्होंने शिक्षा को अनिवार्य माना था। शिक्षा की उन्नति के लिए उन्होंने कोई काल्पनिक वक्तव्य नहीं दिया, बल्कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी शिक्षण संस्था की स्थापना कर उन्होंने सार्वभौमिक शिक्षा को सर्वसुलभ कर दिया है। वास्तव में मानव-व्यक्तित्व के विकास

के लिए शिक्षाकी अपरिहार्यता निर्विवाद है। शिक्षा के द्वारा ही बेरोजगारी, भुखमरी, आदि समस्याओं का समाधान हो सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शिक्षा भी व्यावहारिक होनी चाहिए। जैसा कि मालवीय जी का विचार था कि शिक्षा रोजगार-परक हो। कृषि की शिक्षा को वर्तमान भारतीय समाज नकार नहीं सकता, इसके लिए मालवीय जी ने जापान की शिक्षा प्रणाली को भारत में अपनाने की बात की थी, जहाँ कृषि के विकास के लिए अनेक कृषि विश्वविद्यालय खोले गये थे। स्वतंत्र भारत में कृषि की शिक्षा के लिए कई बड़े-बड़े संस्थान खोले गये हैं। वर्तमान सरकार ने कृषि आयोग का गठन किया है, जो सन् 2005 तक कृषि विकास हेतु सुझाव देगा।

स्वतंत्रता के बाद भारत में राष्ट्र-निर्माण एवं राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या खड़ी हुई थी। भारत की स्वतंत्रता एवं देश का विभाजन दोनों एक साथ की घटना थी। इससे उबरने के लिए देश के सभी नागरिकों में देश-हित के लिए बलिदान होने की भावना का विकास अनिवार्य था। स्वतंत्रता के पूर्व ही मालवीय जी ने इसकी (देश प्रेम की) अनिवार्यता को समझ लिया था। उन्होंने देश-प्रेम की शिक्षा को अनिवार्य रूप से पाठ्यक्रम में शामिल करने की बात की थी, ताकि देश के सभी नागरिक सदैव देश-हित के बारे में ही सोचें, उनके (नागरिकों के) मन में देश-हित के भाव की प्रधानता हो, जिसके आगे सभी प्रकार के हित गौण हों। आज देश के विकास के लिए इस प्रकार की भावना की अनिवार्यता महसूस की जा रही है। अतः इसकी स्थापना हेतु मालवीय जी के विचारों से मदद ली जा सकती है।

आज देश में सम्प्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद आदि की समस्याएँ देश को कमजोर करने पर तुली हुई हैं। इन समस्याओं के निदान के लिए मालवीय जी ने बताया था कि राष्ट्रीय भावना का विकास जरूरी है, साथ ही स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ को प्रतिस्थापित करना होगा, तभी मानव के रूप में जन्म लेना सार्थक सिद्ध हो सकेगा। सम्प्रदायवाद के निदान के लिए जहाँ धर्म-निरपेक्षता की बात की जा रही हैं, वहाँ मालवीय जी का विचार था कि सभी लोगों को अपने धर्म पर अटल रहना चाहिए, अपने धार्मिक क्रियाकलापों को सम्पन्न करना चाहिए, तभी

साम्प्रदायिक सद्भाव की स्थापना हो सकती है, क्योंकि सच्चा धार्मिक व्यक्ति कभी सम्प्रदायिक नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्यत्व को ईश्वरत्व में परिणत करना ही धर्म है। यह मालवीय जी के व्यक्तित्व से सर्वथा सही सिद्ध होता है। जातिवाद से मुक्ति के लिए उन्होंने अछूतोद्धार के साथ रोजगार को बढ़ावा देने की बात की थी, जिससे परम्परागत व्यवसायों के आधार पर रचित जाति-व्यवस्था का अपने आप लोप हो जायेगा। भाषावाद के लिए मालवीय जी के विचारों का सारांश यह था कि देशी भाषाओं का विकास होना चाहिए, किन्तु हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया जाना चाहिए, क्योंकि राष्ट्रभाषा के द्वारा ही कला, विज्ञान, उद्योग, संस्कृति आदि का विकास हो सकता है। विदेशी भाषा के रूप में अंग्रेजी को अपनाया जा सकता है। इन समस्याओं पर विचार करने पर जब हम इनका निदान एवं उपचार खोजते हैं, तो मालवीय जी के विचारों से अच्छा विचार नहीं खोत पाते।

इसीलिए मालवीय जी के बारे में अनेक तत्कालीन महापुरूषों ने एवं वर्तमान में भी अनेक विद्वानों ने यह कहा है कि मालवीय जी देश और काल से परे विश्व मानव बनने की क्षमता रखते हैं। उनके मन में किसी के भी प्रति कभी दुराव की भावना नहीं रही। उन्होंने देश-हित को सदैव प्रधानता दी, लेकिन किसी का अहित नहीं चाहा।

वस्तुतः किसी भी विचारक के विचार तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होने के कारण उन्हीं परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्यक्त होते हैं, लेकिन उनकी महानता चिरकाल तक तभी अक्षुण्ण बनी रहती है, जबकि उनके विचारों में मौलिकता हो और देश-काल से परे हटकर उनके विचार मानवीय हित के लिए सार्थक सिद्ध हों। ये गुण मालवीय जी के विचारों में विद्यमान होने के कारण वे सदा-सदा के लिए प्रासंगिक बने रहेंगे।

अन्त में संदर्भ ग्रन्थ सूची के अन्तर्गत हिन्दी, अंग्रेजी की उन महत्वपूर्ण पुस्तकों की सूची संकलित की गयी है, जिनकी सहायता मैंने अपने अध्ययन के समय से ली थी। पत्र-पत्रिकाओं को अलग उपसंदर्भ में रखा गया है।

महामना मदन मोहन मालवीय के सामाजिक और राजनीतिक विचार
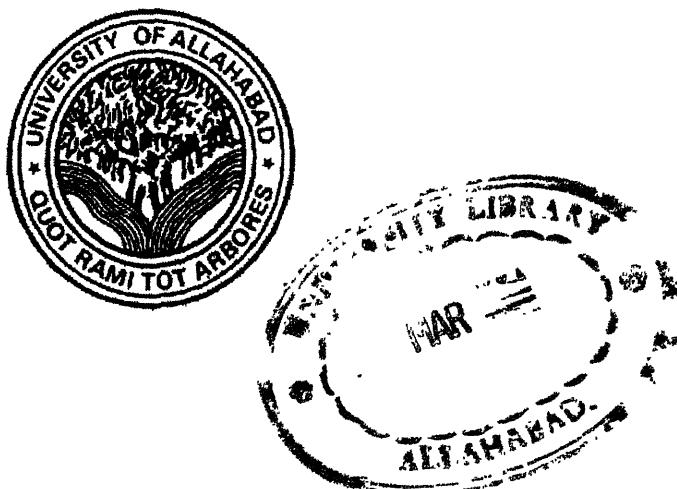
डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2004

शोध निर्देशक :

डॉ० विजय कुमार राय
रीडर
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्ता :

निरंकार नाथ पाण्डेय
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
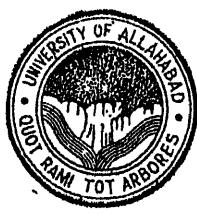
University of Allahabad
ALLAHABAD-211002

Dr. V.K. RAI
Reader
Political Science Department

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री निरंकार नाथ पाण्डेय ने अपनी डी० फिल० उपाधि हेतु मेरे शोध निर्देशन में "महामना मदन मोहन मालवीय के सामाजिक और राजनीतिक विचार" विषय पर अपना शोध कार्य प्रस्तुत किया है। इनका शोध कार्य पूरी तरह से मौलिक है तथा इन्होंने अपने शोध प्रबन्ध में प्राप्त नवीनतम सामग्रियों का संकलन करके प्रस्तुत किया है।

मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

(डॉ० वी०के० राय)

दिनांक: 14 अप्रैल, 2004
स्थान : इलाहाबाद

समर्पण

पूजनीया माता जी एवं पूज्य पिताजी को
जिनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद से यह
कार्य सम्भव हो सका।

प्राक्कथन

महामना मदन मोहन मालवीय महापुरूष और श्रेष्ठ आत्मा थे। उन्होंने त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत किया तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में देश के लोगों की उत्कृष्ट सेवा की। प्रलोभनों से अनाकर्षित और धमकियों से निडर उन्होंने साहस और दृढ़तापूर्वक अपने देशवासियों के सामूहिक हित और उत्कर्ष के लिए पच्चास वर्ष से अधिक काम किया। वे आध्यात्मिक सद्गुणों, नैतिक मूल्यों तथा सांस्कृतिक उत्कर्ष के असाधारण संश्लेषण थे।

मालवीय जी जीवन और समाज का समन्वित विकास पसन्द करते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक भारत विदेशी दासता के बंधन में बँधा रहेगा, उसका विकास नहीं हो सकेगा। उनका मानना था कि स्वस्थ विकास स्वतंत्रता का वातावरण माँगता है। वे चाहते थे कि पुलिस राज्य के स्थान पर कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जाय, नौकरशाही ढाँचे के स्थान पर लोकतांत्रिक संस्थाएं स्थापित हों तथा आधिपत्य की भावना का अन्त हो। मालवीय जी सबको स्वशासन का अधिकार देकर वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र स्थापित करना चाहते थे।

मालवीय जी ने पच्चीस वर्ष तक केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानसभाओं में निर्वाचित सदस्य की हैसियत से कार्य किया। यहाँ उन्होंने सरकार की प्रशासनिक और आर्थिक नीतियों की आलोचना कर जनता की दुर्दशा की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया और जनता के भौतिक, शैक्षिक और नैतिक उत्थान के लिए काम करने हेतु उसके सामने कई योजनाएँ प्रस्तुत की।

मालवीय जी के धार्मिक विचार शास्त्र की प्रामाणिकता तथा उदारवाद के मिश्रण थे। उन्होंने अपने ढंग से हरिजनों के उत्थान तथा हिन्दू समाज के शेष भाग

से उनके निकट सम्मिलन में बहुत योगदान किया। मालवीय जी नैतिक सिद्धान्तों और नैतिक व्यवहार को धर्म और संस्कृति का सार समझते थे। उनका अपना व्यक्तिगत जीवन प्राचीन हिन्दुस्तान की सर्वोत्तम नैतिक परम्पराओं और उदार लोकतंत्र के नैतिक आदर्शों का मूर्त्तरूप था। वे चाहते थे कि भारत के नवयुवक भारत के इतिहास और संस्कृति में अच्छे तौर पर शिक्षित किये जायँ और उत्तम आदर्शों से अनुप्राणित किये जायें तथा पश्चिम के संचित ज्ञान और अनुभव तथा आधुनिक विचारधाराओं में परिशिक्षित किये जायें तथा अपनी बौद्धिक और शारीरिक शक्तियां विकसित करें और अपने जीवन में सामाजिक उत्तरदायित्व के विवेक का तथा नि:स्वार्थ सेवा का और सर्व सामान्य हित के निमित्त समर्पण की भावना का पोषण करें। इसके लिए उन्होंने बहुत सी रचनात्मक योजनाओं को प्रवर्तित और समर्थित किया और बहुत सी संस्थाओं को स्थापित किया, जिनमें सबसे महत्व पूर्ण **''काशी हिन्दू विश्वविद्यालय''** है।

मैने अपने अध्ययन के दरम्यान विभिन्न पुस्तकालयों, विद्वानों एवं शोध संस्थानों की मदद ली, उन सबका मेरे प्रति सदैव सहयोगात्मक, सकारात्मक दृष्टिकोण था। उन सभी के प्रति मै विनयावनत् हूँ। यह कार्य अपने में अत्यन्त ही कठिन था, लेकिन श्रद्धेय गुरू डॉ० वी०के० राय के मार्गदर्शन एवं उनकी सहज उपलब्धता ने इसे सरल बना दिया। विभागाध्यक्ष प्रो० आलोक पंत के पितृवत् स्नेह व आशीर्वाद से मुझे सतत् प्रेरणा मिली, जिसके लिए मै उनका अति आभारी हूँ। विभाग के गुरूजनों डॉ० डी०डी० कौशिक, डॉ० पंकज कुमार, डॉ० अनुराधा कुमार, डॉ० शाहिद मोहम्मद के प्रति आभर व्यक्त करना मै अपना धर्म समझता हूँ जिनका सहयोग मुझे सदैव मिलता रहा।

इस कार्य में मेरी धर्मपत्नी श्रीमती प्रज्ञा पाण्डेय का सहयोग एवं प्रोत्साहन सदैव मिलता रहा जिससे यह पूर्ण हो सका। मेरे साले श्री सौरभ, मम्मी एवं प्रीती के सहयोग के बिना यह कार्य कदापि संभव नहीं था। मेरे मित्रों एवं कार्यालयीय सहयोगियों के सकारात्मक सहयोग के बिना यह कार्य संभव ही नहीं था। मै श्री राधेश्याम राय, श्री सौमेन साहा, श्री उदयवीर सिंह, श्री निरमेश कुमार सिंह सेंगर, श्री संजय सिंह, श्री अजीतपाल सिंह, श्री दिनेश पाण्डेय, श्री रामदुलार प्रसाद एवं श्री शरद वर्मा के प्रति ह्दय से आभार व्यक्त करना अपना परमधर्म समझता हूँ। स्वच्छ, त्रुटिहीन एवं शीघ्रता पूर्ण टाइपिंग के लिए श्री अनिल कटियार को मै ह्दय से धन्यवाद देना चाहता हूँ।
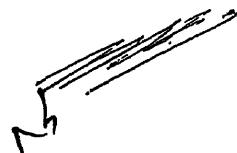
दिनांक: 01 फरवरी, 2004
स्थान : इलाहाबाद

(निरंकार नाथ पाण्डेय)
शोध अध्येता
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद ।

विषयानुक्रम

मालवीय जी -एक परिचय

भारत के पहले स्वतंत्रता संग्राम (1857) के साढ़े चार वर्ष बाद 25 दिसम्बर सन् -1861 ई0 (पौष कृष्ण अष्टमी, सम्बत् 1918 विक्रमी) को बुद्धवार के दिन प्रयाग के लालडिग्गी मुहल्ले में मदन मोहन जी ने जन्म लिया। मदन मोहन जी बाल्यावस्था से ही बहुत चेतन्य रहते थे। उन्हें मुहल्ले के लोग 'मस्ता' कहा करते थे।

जब मदन मोहन जी पाँच वर्ष के हुए, तब उनको विद्यारम्भ कराया गया। वे एक पडित के पास पहाड़ा पढ़ने के लिए, महाजनी पाठशाला भेज दिये गये। उसके बाद वे पंडित हरदेव जी की ''धर्मज्ञानोपदेश' पाठशाला' में भरती हुए। इस पाठशाला में मदन मोहन जी ने संस्कृत, लघुकौमुदी आदि पढ़ी। यहाँ उन्होंने धार्मिक तथा शारीरिक बल बढ़ाने की शिक्षा प्राप्त की तथा अपने सहपाठियों के साथ मालवीय जी ने मनुस्मृति, गीता और नीति के बहुत से श्लोक कंठस्थ कर लिया।

आठ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। पिताजी ने ही उन्हें गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, तब से उन्होंने नियमित रूप से प्रात:काल जप और सायंकाल संध्या का जो नियम बनाया, उसका हर परिस्थिति में जीवन भर निर्वाह किया।

'धर्मज्ञानोपदेश पाठशाला' के बाद मदन मोहन जी ने 'विद्याधर्म प्रवर्द्धिनी सभा' की पाठशाला में पढ़ना शुरू किया। इसके सर्वेसर्वा पंडित देवकीनन्दन जी थे।वे माघमेले के अवसर पर मदन मोहन जी से व्याख्यान दिलवाया करते थे।

सन् 1868 में प्रयाग में गवर्नमेन्ट हाईस्कूल खुला। मदन मोहन जी ने अंग्रेजी पढ़ना चाहा और माता जी की आज्ञा से उन्होंने वहाँ पढ़ना आरम्भ कर दिया। वे अपने बड़े भाई पं0 जयकृष्ण जी के साथ, जो उनसे 6 वर्ष बड़े थे, स्कूल जाया करते थे। घर पर पढ़ने की सुविधा प्राप्त न थी। इसलिए मदन मोहन जी शाम को लालटेन और पोथी लेकर अपने मकान से थोड़ी दूर सोहनलाल के बाग में अपने साथी गंगाप्रसाद के पास उनके साथ पढ़ने के लिए चले जाया करते थे, यहाँ पढ़ाई के साथ गप-शप भी होती थी। स्कूल में भर्ती होने के बाद भी वे पाठशाला संस्कृत पढ़ने जाया करते थे। वहाँ

उन्होंने पंडित ठाकुर प्रसाद जी से, जो भागवत् के बड़े विद्वान् थे, संस्कृत श्लोकों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा प्राप्त की।

मदन मोहन जी स्कूल में पानी नहीं पीते थे, प्यास लगने पर घर जाकर पी आते थे। एक दिन मौलवी साहब ने छुट्टी देर से दी, प्यास अधिक लगने के कारण वे घर तक रोते हुए गये तथा उन्होंने स्कूल जाने से मना कर दिया। इसके बाद पानी की व्यवस्था स्कूल में ही की गयी। एक लोटा रखा गया, जिसे नन्हकू कहार माँजकर अलग रखते थे, प्यास लगने पर मदन मोहन जी उसी से पानी पीते थे।[1]

निरन्तर पढ़ते रहने की इच्छा मदन मोहन जी को पहले से ही थी। 15 वर्ष की अवस्था से वे घर में रखी हुई पोथियों के बेठन खोलने और बाँधने लगे। उन्हें बीच-बीच में पढ़ते भी जाते थे। कुछ पोथियाँ खराब भी हुई होंगी, लेकिन उनमें से उन्होंने अनेक श्लोक याद कर लिए। इन्हीं पोथियों में से एक पोथी 'इतिहास समुच्चय' नाम की थी, जिसमें 'महाभारत' के चुने हुए 32 ऐतिहासिक उद्धरण थे। इस पुस्तक ने उनके धर्म सम्बन्धी विचार और ज्ञान को बढ़ाने में काफी सहायता की।

सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था में उन्होनें प्रवेश परीक्षा पास किया। इस परीक्षा को पास करने के बाद उन्होंने अपने चचेरे भाई पंडित जय गोविन्द जी से सम्पूर्ण कोशिका पढ़ी. उन्होंने अपने चाचा पंडित गजाधर प्रसाद जी से जो संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, भागवत् पढ़ी। गजाधर प्रसाद जी ने पहले ' वेणी संहार का भाषानुवाद किया था, बाद में ' प्रबोध चन्द्रोदय', 'शुक्रनीतिसार' 'मृच्छकटिक' और 'प्रचण्ड कौशिकी' का भी अनुवाद किया। वे हिन्दी काफी अच्छी लिखते थे।

मदन मोहन जी का विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में उनके चाचा पंडित गजाधर जी के माध्यम से मिर्जापुर के पंडित नन्दलाल जी की कन्या कुनन देवी से हुआ।[2] मालवीय जी ने पंडित रामनरेश त्रिपाठी को बताया था कि पति-पत्नी दोनों वैवाहिक

---

1 पंड़ित रामनरेश त्रिपाठी कृत ''तीस दिन मालवीय जी के साथ'', 1946, सस्ता साहित्य मण्ड़ल, नई दिल्ली, नामक पुस्तक के अनेक पृष्ठों से संकलित।

2 शिवराम पाण्ड़ेय, मालवीय कामेमोरेशन वाल्यूम, 1932, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पृष्ठ1079।

जीवन के प्रारम्भ से ही रामकृष्ण के उपासक थे। मालवीय जी अपनी पत्नी के व्यवहार से काफी प्रसन्न थे। उन्होंने पंडित रामनरेश त्रिपाठी को बताया था कि '''उनकी पत्नी सदा शान्त और जो कुछ मिल गया उसी में संतुष्ट रहने वाली गृहलक्ष्मी. थी।''[1] उन्होंने अपनी पत्नी के साथ धर्म के अनुसार गृहस्थ आश्रम का सारा सुख प्राप्त किया।[2]

मालवीय जी छुट्टियों मे प्रायः मिर्जापुर अपने चाचा पं0 गजाधर जी के पास, जो मिर्जापुर गवर्नमेन्ट हाईस्कूल में हेड पंडित थे, जाया करते थे। प्रवेश परीक्षा पास करने के बाद जब वे मिर्जापुर गये तो उसी समय वहां एक धर्म सभा का अधिवेशन हो रहा था, मालवीय जी उसमें चले गये। एक महन्त सभापति थे। अनेक वक्ताओं के बोल चुकने के बाद अपने चाचा से पूछकर मालवीय जी ने भी धर्म विषय पर अपना व्याख्यान दिया। जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई लोगों के द्वारा पीठ थपथपाने से उनका उत्साह बढ़ता गया।

धार्मिक मावों की ओर मालवीय जी का झुकाव लड़कपन से ही था। स्कूल जाने के पहले वे प्रतिदिन हनुमान जी का दर्शन करने जाया करते थे तथा निम्नलिखित श्लोक पढ़ा करते थे-

''मनोजवं मारूत तुल्य वेगं, जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठं।
वातात्मजं वानर-यूथ मुख्यं, श्री राम दूतं शिरसा नमामि।।

मालवीय जी कथा सुनने के प्रेमी थे। वे लोकनाथ महादेव के पास मुरलीधर चिमनलाल गोरे वाले के चबूतरे पर, जहां उनके पिता कथा कहा करते थे, नित्य जाकर कथा सुना करते थे।

एक दिन बचपन में प्रातःकाल छत पर टहलते हुए पड़ोस के आँगन में एक नंगी युवती पर अनायास ही उनकी दृष्टि पड़ गयी। उन्हें दृष्टि-दोष का काफी दुःख हुआ। बचपन से ही मालवीय जी अपने हर कार्य की सूचना अपने माता-पिता को देने का नियम बना रखे थे। उन्होंने छत से नीचे उतरकर उसकी सूचना भी अपनी पूज्य माता जी

1 रामनरेश त्रिपाठी; तीस दिन मालवीय जीके साथ, पृष्ठ 80।
2 रामनरेश त्रिपाठी; तीस दिन मालवीय जी के साथ, पृष्ठ 81।

को दी। माँ ने उन्हें बताया कि ''अनिच्छा से ऐसा हो जाने से कोई विशेष दोष नहीं, भगवान का भजन कर लो'' लेकिन इससे मालवीय जी नहीं माने, वे भजन तो प्रतिदिन करते थे, इसलिए कोई दूसरा प्रायश्चित करना चाहते थे। उन्होंने दिन भर उपवास रखा और अपनी खाट उन्होनें नीचे उतार ली। इस दिन के बाद मालवीय जी नीचे ही सोने लगे। मालवीय जी ने बताया कि अपने दैनिक क्रियाकलापों की सूचना माता-पिता को देने वाले नियम से वे कई पापों से बचे थे, उन्हें इससे काफी शक्ति मिली और उनका जीवन उत्साह और दिव्य ज्योति से उज्जवल हुआं।[1]

प्रवेश परीक्षा पास करने के बाद मालवीय जी 'म्योर सेन्ट्रल कालेज' में पढ़ने लगें। परिवार के लिए कालेज की पढ़ाई का आर्थिक बोझ वहन करना कठिन था, परन्तु उनकी माता जी ने काफी कष्ट सहन कर, अपना पेट काट कर, अपने जेवर गिरवी रखकर, उन्हें पढ़ाया। प्रिंसिपल हैरीसन ने उन्हें एक मासिक वजीफा दिया। कालेज में एक ''फ्रेंड्स डिबेरिंग सोसायटी'' थी। उसमें जब मालवीय जी ने अपनी पहला भाषण अंग्रेजी में दिया, तब उस संस्था के मन्त्री लाला सांवलदास ने उनका उत्साह-वर्द्धन किया। लाला सांवलदास बाद में डिप्टी कलक्टर हो गये और उससे रिटायर होने के बाद वे रेवेन्यू मेम्बर के पद पर कुछ समय तक काम करते रहे। लाला सांवलदास मालवीय जी से आयु में आठ वर्ष बड़े थे। मालवीय जी उन्हें ' उस्ताद' कहकर पुकारते थे और सांवलदास जी उनकी पढ़ाई में मदद करते थे।[2]

कालेज में एक बार 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का नाटक खेला गया। मदन मोहन जी ने उसमें पोर्शिया की भूमिका बखूबी निभाया। इसी समय 'आर्य नाटक मण्डली' की ओर से 'शकुन्तला' नाटक खेला गया, जिसमें मुख्य भूमिका मालवीय जी ने निभाया। पर्दा उठने पर प्रियम्बदा और अनुसुय्या सखियों के साथ जब शुकन्तला हाथ में घड़ा लिये रंगमंच पर आयी, तब दर्शक दंग रह गये। श्रृंगार और करूणा दोनों रसों के हाव-भाव दिखलाकर शकुन्तला के अभिनेता (मालवीय जी) ने दर्शकों को मुग्ध कर दिया।[3]

---

1 पद्मकान्त मालवीय ; मालवीय जी: जीवन झलकियाँ (संकलन), 1962, दिल्ली, नेशनल, पृष्ठ 61।

2 सीताराम चतुर्वेदी; 'महामना पं0 मदन मोहन मालवीय', 1937, वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, खण्ड 1।

3 रामनरेश त्रिपाठी; तीस दिन मालवीय जी के साथ पृष्ठ 37।

कालेज में संस्कृत मालवीय जी का प्रिय विषय था। इस सिलसिले में वे संस्कृत के प्राध्यापक पंडित आदित्यराम भट्टाचार्य के सम्पर्क में आये। लोक सेवा के कार्य में मालवीय जी की रूचि देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और जीवन भर उन्हें सार्वजनिक कार्यो के लिए प्रोत्साहित करते रहे। पंडित आदित्यराम भट्टाचार्य मालवीय जी पर पुत्र सा स्नेह रखते थे। मालवीय जी भी उनके साथ गुरू के योग्य भक्तियुक्त बर्ताव करते थे। आदित्य राम जी ने प्रयाग में सन् 1880 में एक सभा स्थापित की, जिसका नाम उन्होंने 'हिन्दू समाज' रखा था। मालवीय जी भी उस सभा में जाने लगे।[1]

मालवीय जी ने अपने गुरू के बारे में बातया था कि वे सागर (मध्य प्रदेश) से काशी आये थे, जहाँ संस्कृत कालेज में अंग्रेजी के अध्यापक के रूप में ढाई वर्ष तक रहे। इसके बाद पंडित आदित्यराम जी प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए। यहीं मालवीय जी को उनका स्पष्ट वादिता के कारण प्रायः लोग उनसे चिढ़ आते थे, लेकिन उनकी के प्रति उत्साह रखते थे। वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य और शुभेच्छु थे। जब श्रीमाती एनी वेसेन्ट बाबू गोविन्द दास, डॉ0 भगवान दास, बाबू उपेन्द्रनाथ बसु तथा अन्य सज्जनों ने हिन्दू छात्रों के स्वधर्म मे प्रेम की स्थापना एवं निरन्तरता बनाए रखने के लिए सेन्ट्रल कालेज, खोला, तब भट्टाचार्य जी ने उसमें उत्साह पूर्वक सहयोग किया। फिर जब काशी विश्वविद्यालय स्थापित करने की चर्चा उठी तब पंडित जी का उत्साह दोगुना हो गया। यद्यपि उस समय उनकी अवस्था अधिक हो गयी थी फिर भी उन्होंने इस कार्य में बहुत प्रोत्साह न दिया। विश्वविद्यालय को आदर्श विश्वविद्यालय बनाने के लिए उन्होंने कठिन परिश्रम किया। जिससे उनके नेत्रों की ज्योति चली गयी तथा शरीर भी टूट गया। अतएव 61 वर्ष की अवस्था में वे प्रयाग के अपने मकान में लौट आये। 18 अक्टूबर 1921 ई0 को अरूणादेय के समय वे उसी भवन में ब्रह्मलीन हो गये।

---

1 पण्डित जी के निधन पर मालवीय जी फूट-फूट कर रोये थे। उनकी स्मृति में मालवीय जी ने विश्वविद्यालय के बगल में 'आदित्य नगर' नामक एक गाँव बसाया, जो आज भी है।

भट्टाचार्य जी का मकान प्रयाग के दारागंज मुहल्ले में स्थित थी, जिसे उन्होंने सन् 1879 में खरीदा था, जिस समय वहाँ पहले कोई मकान नही था, उस समय झोपड़ी बनाकर एक बड़े विद्वान महापुरूष रहते थे। उन्हीं के नाम पर पंडित जी ने अपने व्यय से एक संस्कृत पाठशला स्थापित करायी, जिसका प्रबन्ध अब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय करता है। पं0 अदित्यराम भट्टाचार्य जी हिन्दूओं की प्राचीन सम्पत्ति और धर्म के प्राणस्वरूप शास्त्रों का संग्रह भी किया था जो अब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पास सुरक्षित है। एक बार पंडित आदित्यराम भट्टाचार्य जी ने कहा था-" यदि संसार मुझे किसी का अभिमान है तो अपने शिष्य मदन मोहन का।[1] मदन मोहन को महामना बनाने में गुरू जी का बड़ा हाथ था। वे पथ-प्रदर्शक की तरह थे। जीवन की लोक यात्रा कठिन नहीं होती, पथ-प्रदर्शक दुर्लभ होता है।"[2]

मालवीय जी ने बी0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद धर्म प्रचार करने का मन बनाया। वे एम0ए0 भी करना चाहते थे। लेकिन उनकी पारिवारिक स्थिति, जो अत्यंत खराब थी, उन्हें अर्थोपार्जन को प्रेरित करती थी। उसी समय गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में एक अध्यापक की जगह खाली हुई, माँ के कष्ट को देखकर मालवीय जी ने चालीस रूपये महीने की अध्यापक की नौकरी स्वीकार कर ली। दो महीने ने बाद वेतन साठ रूपये हो गया। यहां वे अंग्रेजी पढ़ाते थे, जिसके लिए घर पर पूरी तैयारी करते थे तथा अंग्रेजी शब्दों की व्युत्पत्ति, उसके मूल अर्थ तथा इतिहास का उन्होंने पूरा परिचय प्राप्त कर लिया था।

मालवीय जी ने अपने गुरू प्रोफेसर आदित्य. राम भट्टाचार्य के प्रोत्साहन से सन् 1880 मे ही सार्वजनिक कार्यो में सक्रिय योगदान देना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने अपने गुरू के आदेश पर 'प्रयाग 'हिन्द समाज' नाम की संस्था के संचालन में काफी काम

---

1 अपने गुरूदेव के प्रति सन् 1935 में लिखी संक्षिप्त जीवनी का अंश। उद्‌धृत वेंकटेश नारायण तिवारी: 'महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय की जीवनी, (संकलन सम्पादन), 1962, का0 हि0 वि0 वि0, वाराणसी, पृष्ठ 9-10। पुस्तक के लेखक ने इस पुस्तक में एक संस्मरण दिया है- "एक दिन पड़ित आदित्यराम जी प्रातःकाल गंगातट से लौट रहे थे। उसी समय मालवीय जी वहाँ आ गये। मालवीय जी ने सब वस्त्र धारण किये हुए लोटकर आदित्यराम जी को साष्टांग प्रणाम किया। उस समय तक मालवीय जी की ख्याति पूरे देश में फैल चुकी थी।

2 पं0 रामनरेश त्रिपाठी, तीस दिन, मालवीय जी के साथ, पृष्ठ 28।

किया।[1] पंडित बालकृष्ण भट्ट के संपादकत्व में प्रकाशित होने वाले पत्र में मालवीय जी ने सामयिक विषयों पर लेख लिखना प्रारम्भ किया। सन् 1882 में उन्होंने स्वदेशी का व्रत लेकर उसका प्रचार शुरू कर दिया। इसी समय उनके कतिपय मित्रो ने 'देशी तिजारत कम्पनी' खोली, जो कई वर्ष तक चलती रही। मालवीय जी ने इसमें अपने मित्रों को यथासम्भव परामर्श और सहयोग दिया था।[2] इसी समय लार्ड रिपन इलाहाबाद आने वाले थे और मालवीय जी के कालेज के तत्कालीन प्रधानाचार्य मिस्टर हैरिसन उनका स्वागत नहीं करना चाहते थे। यह जानकारी होने पर मालवीय जी ने अपने प्राचार्य के विचारों के विपरीत जाकर देश-हितैषी लार्ड रिपन का अपने कालेज-प्रांगण में स्वागत करने का निश्चय किया। बैंड-बाजे, हाथी घोड़े आदि की पूरी तैयारी के साथ लार्ड रिपन का स्वागत हुआ।[3] सन् 1882 में माघ मेले के अवसर पर उन्होंने अपने सहपाठियों के उपहास की उपेक्षा करते हुए व्याख्यानों द्वारा जनता में अपने धार्मिक सिद्धान्तों तथा स्वदेशी का प्रचार-प्रसार किया। वे सन् 1884 में प्रयाग मे स्थापित 'हिन्दी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा' के सक्रिय कार्यकर्त्ता बन गये।

सन् 1885 में पंड़ित आदित्यराम भट्टाचार्य ने 'इण्डियन यूनियन' नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया। बाद में उनके आदेश से मालवीय जी ने इसके सम्पादन का भार अपने ऊपर ले लिया।

सन् 1886 में कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन, कलकत्ता में मालवीय जी पंडित आदित्य राम भट्टाचार्य के साथ सम्मिलित हुए। वहाँ पर अपने गुरू की अनुमति से उन्होंने श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव का समर्थन करते हुए प्रतिनिधि संस्थाओ की स्थापना पर एक उत्तम भाषण दिया। उन्होंने कहा कि "प्रतिनिधि संस्थाएं अंग्रेजों के जीवन का महत्वपूर्ण अंग हैं और वे संसार के सभी सभ्य समाजों की प्रगति के लिए

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल: पंडित मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व 1978, मालवीय अध्ययन संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 36।

2 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल: पंडित मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, 1978, मालवीय अध्ययन संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृ0 36।

3 उमेशदत्त तिवारी: भारतभूषण महामना पंडित मदन मोहन मालवीय (जीवन एवं व्यक्तितत्व) 1988, का0 हि0 वि0 वि0 वाराणसी, पृ0 12।

आवश्यक हैं। इसलिए भारत में निरंकुश संस्थाओं को बनाये रखने का प्रयत्न करने के बजाय प्रतिनिधि संस्थाएं प्रतिष्ठित करना ही अंग्रेजों का कर्त्तव्य है। जबकि 'प्रतिनिधित्व के बिना कोई कर नहीं' यह ब्रिटिश राजनीति का मूलमंत्र है, तब प्रतिनिधि संस्थाओं को प्रतिष्ठित किये बिना भारतवासियों पर टैक्सों का बोझ लादते जाना अंग्रेजों के लिए सर्वथा अनुचित है। उन्होंने कहा कि कांग्रेस का अस्तित्व हमारी क्षमता का प्रमाण है। अच्छे अंग्रेज को यह जानकर दुःख होगा कि भारत सरकार 'निरंकुश' है, वह हमारे साथ 'गुलामों' जैसा व्यवहार करती है। देश के शासन में भाग लेने से हमें वंचित करना अनुचित है। प्रतिनिधित्व का अधिकार ब्रिटिश प्रजा का मूल अधिकार है, वह हमें मिलना ही चाहिए।''[1]

उक्त अधिवेशन के अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी ने मालवीय जी के इस भाषण को सुनकर कहा कि इस नवयुवक की वाणी में स्वयं भारतमाता ही मुखर हो रही है। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने यह स्वीकार किया कि 'यह भाषण उनके द्वारा सुने हुए भाषणों में सबसे अच्छा था, जिसका कांग्रेस के प्रतिनिधियों के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा और जिसने उन्हें कांग्रेस के भावी नेता के रूप में निर्दिष्ट कर दिया'

कलकत्ता अधिवेशन में मालवीय जी की पंडित दीनदयाल शर्मा से पहली भेंट हुई।, सम्पर्क शीघ्र ही घनिष्ठ मित्रता और सहयोग में बदल गया। धर्म के प्रति दोनों की एक जैसी निष्ठा थी। दोनों ही उदार सनातन धर्म के व्याख्याता तथा प्रभावशाली वक्ता थे। पंडित दीनदयालु जी अपनी वाक्पटुता के कारण आगे चलकर 'व्याख्यान वाचस्पति' के नाम से विख्यात हुए। दोनों एक दूसरे को 'भाई' कहा करते थे। मालवीय जी कुछ मास बड़े थे। इसलिए पंडित दीनदयाल उन्हें 'ज्येष्ठ भ्राता' कहा करते थे।[2]

सन् 1887 में पंडित दीनदयालु शर्मा ने हरिद्वार में सनातन धर्मियों की एक विशाल सभा आयोजित की। लाहौर के राजा हरिवंश सिंह, पंडित नंदकिशोर देव शर्मा, पंडित अम्बिका दत्त व्यास, पंडित देवी सहाय, बाबूलाल, मुकुन्द गुप्त आदि अनेक विद्वान उसमें

---

1 दी आनरेबुल पण्डित मदन मोहन मालवीयः लाइफ स्व स्वीचेज, सेकण्ड् एड्रीशन 1918, गनेशन, मद्रास, पृ0 6–7

2 पद्मकान्त मालवीयः मालवीय जी, जीवन झलकियां, पृ0 126।

सम्मिलित हुए। प्रसिद्ध थियोसोफिस्ट कर्नल आल्काट ने भी इस सम्मेलन में उपस्थित होकर व्याख्यान दिया। इस सभा में 'भारत धर्म महामण्डल' की नींव पड़ी और मालवीय जी भारत धर्म महामण्डल के महोपदेश को में गिने जाने लगे। लगभग 15 वर्ष तक वे इस संस्था से जुड़े रहें।

सन् 1902 में भारत धर्म महामण्डल की रजिस्ट्री हुई। बाद में महामण्डल स्वामी ज्ञानानन्द के प्रबन्ध में चला गया। स्वामी जी से महामण्डल की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण मालवीय जी ने धर्म महामण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और अपने उदार धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए उन्होंने सन् 1906 में प्रयाग में कुम्भ के अवसर पर सनातन धर्म महासभा का विराट सम्मेलन आयोजित किया। पंडित दीनदयालु शर्मा भी मालवीय जी के साथ आ गये। सन् 1906 के सनातन धर्म महासभा सम्मेलन में राय बहादुर पंडित दुर्गादित्त पन्त भी उपस्थित थे, जिन्होंने हरिद्वार में 'ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम' खोलने का प्रयत्न किया। इस कार्य में मालवीय जी ने उनका सहयोग दिया। वे शुरू से ही उसके ट्रस्टियों में रहे तथा लगभग दस वर्षो तक उसकी शिक्षा-समिति के अध्यक्ष भी रहे।

सन् 1889 में मालवीय जी के निवास स्थान के निकट 'भारती भवन' नाम से एक पुस्तकालय स्थापित हुआ, जिसका उद्देश्य था-हिन्दी और संस्कृत की पुस्तकों का संग्रह तथा उनके अध्ययन को बढ़ावा देना। मालवीय जी इसकी परिरक्षक समिति (बोर्ड आफ ट्रस्टीज) के अध्यक्ष नियुक्त हुए और आजीवन इस पद से पुस्तकालय की सेवा करते रहे।

मालवीय जी सन् 1902 में दो वर्ष के लिए संयुक्त प्रांत की कौसिल के सदस्य चुने गये। इसके बाद लगातार चुने जाने पर 1912 तक उन्होंने निर्वाचित सदस्य की हैसियत से काम किया। सन् 1910 में मालवीय जी केन्द्रीय कौसिल के सदस्य निर्वाचित हुए थे तथा लगातार 1920 तक वहाँ कार्य करते रहे। सन् 1910 के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन की मालवीय जी ने अध्यक्षता की थी तथा हिन्दी को

राष्ट्रभाषा का दर्जा दिये जाने की उन्होंने वकालत की थी। भारतीय गौरव का कीर्ति स्तम्भ काशी हिन्दू विश्व विद्यालय मालवीय जी के प्रयासों से ही सन् 1916 में स्थापित हुआ।

मालवीय जी ने हिन्दू विद्यार्थियों के रहने के लिए एक छात्रावास के निर्माण का सफल प्रयास किया, जिसके लिए उन्होंने घूम घूमकर चन्दा इकट्ठा किया।[1] सन् 1903 में 'मेक्डोनेल हिन्दू बोर्डिंग हाउस' के नाम से छात्रावास निर्मित हुआ, जिसमें लगभग 230 विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था थी। मालवीय जी की मृत्यु के बाद इसका नाम बदलकर 'मालवीय हिन्दू बोर्डिंग हाउस' कर दिया गया।इस छात्रावास का उद्घाटन करते हुए मैकडोनेल ने कहा था- "इस तरह के छात्रावासों में ही उचित धार्मिक और नैतिक प्रशिक्षण दिया जा सकता है। मुऐ ऐसा लग रहा है कि हिन्दू अपने बच्चों के प्रति अपने उत्तरादियत्व का अब बोध करने लगे हैं। भारत के प्रत्येक कालेज में हिन्दुओं की देखरेख में इस तरह के बोर्डिंग हाउस की व्यवस्था होनी चाहिए।[2]

सन् 1910 में मालवीय जी ने विचार किया कि जिस स्थान पर गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग ने 1 नवम्बर सन् 1858 को महारानी विक्टोरिया की घोषणा पढ़ाकार सुनाया था, उस स्थान पर एक 'घोषणा स्तम्भ खड़ा करके उस पर घोषणा के वाक्य खुदवा दिये जायँ, ताकि उसकी यादगार बनी रहे और उसके चारों ओर एक पार्क बनवाया जाय। शिलान्यास के लिए उन्होंने तत्कालीन वायसराय लार्ड मिन्टो को निमंत्रित किया। उन्होंने मालवीय जी की बात स्वीकार कर ली, तिथि निश्चित हो गयी। इससे गोपाल कृष्ण गोखले को चिन्ता हो गयी कि यदि निश्चित समय तक धन इकट्ठा नहीं हो सका तो मालवीय जी ही क्या सभी भारतीय सार्वजनिक कार्यकत्ताओं की बदमानी हो जायेगी। इसलिए उन्होंने मालवीय जी को सलाह दी कि वे और सब काम छोड़कर धन जमा करने में जुट जायें। पर मालवीय जी ने पत्रों द्वारा ही मिन्टो पार्क के लिए एक लाख

1 वेंकटेश नारायण तिवारी: मालवीय जी की जीवनी, पृ0 33-34।

2 दास एवं सोमस्कन्दन हिस्ट्री आफ दी बी0 एच0 यू0 1966, का0 हि0 वि0 वि0 , वाराणसी, पृ0 39।

बत्तीस हजार आठ सौ सत्तानवे रूपया जमा कर लिया।[1] भारी उत्सव हुआ, प्रयाग सेना ने तोपों की सलामी दी, मोतीलाल नेहरू ने स्वागत-पत्र पढ़ा तथा 9 नवम्बर सन् 1910 को किले के पास यमुना के तट पर लार्ड मिन्टो ने पार्क का शिलान्यास कियां।[2]

सन् 1912 के अर्द्धकुम्भ के अवसर पर मालवीय जी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र पंडित रमाकान्त मालवीय को यात्रियों की सेवा हेतु एक स्वंयं सेवक दल संगठित करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस दल ने उक्त अवसर पर जनता की बहुत सेवा की। सन् 1914 के माघ मेले के अवसर पर उसका नाम 'दीन-रक्षक समिति' पड़ गया। यही समिति सन् 1915 में मालवीय जी की अध्यक्षता में 'प्रयाग सेवा समिति' के रूप में संगठित हुई। पंडित ह्रदय नाथ कुंजरू इसके प्रधानमंत्री बनाए गए।[3] मालवीय जी की अनुमति से महाभारत में बताई गयी शिवि की प्रार्थना, समिति का आदर्श स्वीकार हुआ।

न त्वअहंकामये राज्यं न स्वर्ग ना पुनर्भविम्।
कामये दुःख ताप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्।।

अर्थात मुझे राज्य, स्वर्ग और मोक्ष की कामना नहीं है। में तो दुःखों से तत्प प्राणियों के दुःख का निवारण करना चाहता हूँ।

अप्रैल सन् 1915 में पंडित कुंजरू के नेतृत्व में आयोजित स्वयं सेवकों की मण्डली में गांधी जी और उनके 19 साथियों ने भी शामिल होकर हरिद्वार कुम्भ मेले में स्नानार्थी की सेवा की। मालवीय जी के प्रोत्साहन और पंडित ह्रदय नाथ कंजरू की लगन, क्षमता और सेवा भावना के कारण प्रयाग सेवा समिति ने सन् 1918 में अखिल भारतीय संस्था का स्वरूप धारण कर लिया। समिति ने कुम्भ मेलों के अतिरिक्त बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि विपत्तियों के अवसर पर भी जनता की सेवा की।[4] सन् 1919 में समिति ने अपने मंत्री श्री वेंकटेश नारायण तिवारी की देखरेख में तथा मालवीय जी की

---

1 बाबू शिवप्रसाद गुप्त; प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यानय, वाराणसी, 1961, पृ0 148।
2 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल; पं0 मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, पृ0 52।
3 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल; पं0 मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, पृ0 53।
4 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल; पं0 मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, पृ0 54।

प्रेरणा से पंजाब में वहाँ की जनता की बहुत साहस ओर तत्परता से सेवा की, जबकि वह मार्शल-ला के अत्याचारों से बहुत व्यथित हो गयी थी।[1]

मालवीय जी ने सन् 1918 के कुम्भ के अवसर पर यात्रियों की सेवा के लिए श्री राम वाजपेयी (शाहजहाँपुर) के 'व्वायजस्काउट' के साथ अपनी' सेवा समिति' को सम्बद्ध कर अखिल भारतीय व्वायजस्काउट की स्थापना की। मालवीय जी उसके चीफ स्काउट थे और पंडित हृदयनाथ कुंजरू उसके कमिश्नर। यह संस्था धीरे-धीरे देशव्यापी बन गयी। मेलों, पर्वो, सार्वजनिक विपत्ति आदि के समय सेवा पहुँचाना उसका मुख्य काम था।

मालवीय जी द्वारा संचालित व्वायज स्काउट आन्दोलन बेडिन पावेल द्वारा संचालित संस्था से कुछ बातों में विशेष रूप से भिन्न था। बेडिन पावेल का चीफ स्काउट एक सरकारी अधिकारी (गवर्नर जनरल) था, जबकि एक देश भक्त राजनीतिज्ञ सेवा समिति बालचर का चीफ स्काउट था। ब्रिटेन का राष्ट्रीय गान बेडिन पोवल के बालचरों की मुख्य वन्दना थी, जबकि 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रीय गीत सेवा समिति बालचरों की वन्दना थी। इसी तरह बेडिन पावेल के बालचरों देशभक्ति की शपथ लेते थे। को सम्राट की भक्ति की शपथ लेनी होती थी, जबकि सेवा समिति के बालचर दोनों बालचर संस्थाओं को एकीकृत करने के प्रयास के तहत् सन् 1921 में वेडिन पावेल और मालवीय जी के बीच बातचीत हुई, पर समझौता नहीं हो सका। सेवा समिति स्काउट आन्दोलन अलग से चलता रहा। बाद में वेडिन पावेल ने भी स्वीकार किया कि उन्हें यह नहीं कहना चाहिए था कि भारतीय युवक स्काउट बनने की क्षमता नहीं रखते।

असहयोग आन्दोलन के समय गांधी जी की गिरफ्तारी के बाद मालवीय जी देश में जागृति फैलाने में सक्रिय रहे। इसी सन्दर्भ में वे डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के साथ आसाम गये तथा वहाँ पर उन्होंने अफीम विरोधी आन्दोलन चलाया। चौरी चौरा काण्ड के अरोपियों को छुड़ाने के लिए मालवीय जी ने वकालत की, जिससे 143 व्यक्ति सजा से मुक्त हुए।

---

1 प्रो० मुकुट बिहारी लाल; पं० मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, पृ 54।

मालवीय जी ने सन् 1922 से 1927 तके हिन्दू महासभा का नेतृत्व किया तथा उसके उद्देश्यों को निश्चित करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

सन् 1923 में मालवीय जी ने एक स्वतंत्र उम्मीदवार की हैसियत से इलाहाबाद-झांसी डिवीजन से केन्द्रीय असेम्बली का चुनाव लड़कर विजय प्राप्त की। उन्होंने मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में 24 सदस्यों की 'इंडिपेंडेन्ट पार्टी' गठित की थी। कुछ शर्तों के साथ इस पार्टी ने 43 सदस्यों की स्वराज्य पार्टी से मिलकर 'नेशनलिस्ट पार्टी बनायी।[1] सन् 1930 में उन्होंने असेम्बली की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। उन्होंने अपने नौ पृष्ठ के त्याग पत्र में सरकार की प्रशासनिक, सैनिक, आर्थिक और वित्तीय नीतियों की अलोचना की। 1930 में ही मालवीय जी अन्य राष्ट्रीय नेताओं के साथ गिरफ्तार कर लिये गये, किन्तु शीघ्र ही उन्हें रिहा कर दिया गया। बाद में पुनः गिरफ्तार कर उन्हें छःमास की सजा देकर नैनी जेल भेज दिया गया।

दूसरे तथा तीसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए मालवीय जी लन्दन गये थे तथा भारतीय समस्याओं से विश्व जनमत को परिचित कराने के उद्देश्य से उन्होंने कई यूरोपीय देशों की यात्रा की।

सन् 1932 में उन्होंने अखिल भारतीय स्वदेशी संघ स्थापित किया तथा उनके आदेश पर संघ ने 29मई सन् 1932 को अखिल भारतीय स्वदेशी दिवस मनाया। मालवीय जी चारबार कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। पहली बार 1909 के लाहौर अधिवेशन के लिए, दूसरी बार 1918 में दिल्ली अधिवेशन के लिए, तीसरी बार पुनः 1930 में दिल्ली अधिवेशन के लिए तथा चौथी बार 1932 में कलकत्ता अधिवेशन के लिए। 1930 और 1932 का अधिवेशन सरकार द्वारा प्रतिबन्धित होने के कारण सम्पन्न न हो सका।[2]

सन् 1934 में मालवीय जी के प्रयासों से 'काँग्रेस नेशनालिस्ट पार्टी', का गठन हुआ। 1932 के मैकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक घोषणा से मालवीय जी काफी दु:खी थे तथा हिन्दुओं की रक्षा और समृद्धि के लिए उन्होंने पुनः सन् 1935 में हिन्दू महासभा का

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल; पं0 मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, पृ0 354।

2 उमेश दत्त तिवारी; भारत भूषण महामना पं0 मदन मोहन मालवीय पृ0 19।

अध्यक्ष पद स्वीकार किया। उन्होंने सन् 1936 में डी0ए0वी0 कालेज लाहौर के जुबली समारोह की अध्यक्षता की।

सन् 1937 में कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन में मालवीय जी ने कहा था कि " मै पचास वर्ष से कांग्रेस के साथ हूँ। संभव है मै बहुत दिन तक न जिऊँ और अपने हृदय् में यह कलह लेकर मरूँ कि भारत अभी भी पराधीन है। फिर भी मै यह आशा कर सकता हूँ कि मैं इस भारत को स्वतंत्र देख सकूँगा।[1]

16 जनवरी सन् 1938 को मालवीय जी ने तपसी बाबा की देखभाल में रामबाग (शिवकोटि प्रयाग) में कायाकल्प का प्रयोग आरम्भ किया तथा 24 फरवरी को काफी स्वस्थ होकर बाहर निकले लेकिन कायाकल्प के नियमों का ठीक से पालन न करने के कारण उनको पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई। अपनी अस्वस्थता के कारण ही मालवीय जी ने सन् 1919 से जिस काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति के पद का 1939 तक सफल निर्वाह किया था, उसे किसी अन्य को सौप देना चाहा तथा इसमें उन्हें डॉ0 राधाकृष्णन जैसा योग्य उत्तराधिकारी भी मिल गया।

सन् 1940 में मालवीय जी ने द्वितीय विश्वयुद्ध के जमाने में विश्वशांति के निमित्त महारूद्रप्रयाग का अनुष्ठान किया जिसमें उन्होंने यज्ञ देवता से प्रार्थना की कि-

1. संसार में शांन्ति, न्याय और धर्म का राज्य स्थापित हो,
2. भारत को स्वराज्य प्राप्त हो और
3. हिन्दुओं को हिन्दुस्तान में उचित गौरव और मान से रहने की स्वतंत्रता प्राप्त हो।[2]

सन् 1940 के बाद मालवीय जी का स्वास्थ्य खराब होने लगा और वे प्राय: बिस्तर पर ही पड़े रहते थे, फिर भी देश-धर्म की चिन्ता उन्हें लगी रहती थी, देश का समाचार सुने बिना उन्हें नींद न आती थी, जबकि शरीर धीरे-धीरे निर्बल होता जा रहा

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल, पं0 मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, पृ 550।

2 रामनरेश त्रिपाठी: तीस दिन मालवीय जी के साथ, पृ 40-42।

था। 12 नवम्बर सन् 1946 को उन्होंने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया तथा वे सदा के लिए अमर हो गये। उनके निधन से पूरे देश में शोक छा गया। महात्मा गांधी ने अपनी श्रृद्धांजलि में लिखा- मालवीय जी अमर है....प्रारम्भिक यौवन से लेकर परिपक्व बुढ़ापे तक परिश्रम ने उन्हें अमर बना दिया है। वे अपने अनुयायियों के प्रेरक थे, समझौते की भावना उनके स्वभाव का अंग था। उनका आंतरिक जीवन पवित्रता का मूर्तिमान था। वे करूणा और कोमलता के निधान थे। धार्मिक ग्रन्थों का उनका ज्ञान वृहद् था।''[1]

पं0 जवाहर लाल नेहरू ने कहा, ''हमें अत्यंत शोक है कि अब हम उस उज्जवल नक्षत्र का दर्शन नहीं कर सकेंगे, जिसने हमारे जीवन में प्रकाश दिया, बालकाल से ही प्रेरणा दी तथा भारत से प्रेम करना सिखाया।[2] डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा, ''एक महान व्यक्तित्व आज संसार से उठ गया। पंडित मालवीय जी के काम और उनके नाम से भावी पीढ़ी को यह प्रेरणा मिलेगी कि दृढ़ भक्ति से मनुष्य के लिए सब कुछ सम्भव है। मालवीय जी की सेवाएं बहुत ऊँची है और कुछ शब्दों में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मालवीय जी के रिक्त स्थान की पूर्ति नहीं हो सकती। वे सच्चे देशभक्त थे।[3]

* * * * *

* * *

*

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल,पं0 मदन मोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व,पृ0 573-574।

2 आज, 15 नवम्बर, सन् 1946।

3 आज, 15 नवम्बर, सन् 1946।

अध्याय - १

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विविध धाराएं एवं महामना मदनमोहन मालवीय के राजनीतिक विचार

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विविध धाराएं एवं महामना मालवीय के राजनीतिक विचार

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के उन विचारकों और आन्दोलनों के साथ जुड़ा है, जिन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अधीन भारत की दुर्दशा पर गहरी चिन्ता प्रकट की। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के फलस्वरूप एक तरफ जहाँ भारत का आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण हुआ, वहीं आधुनिक ज्ञान विज्ञान एवं शिक्षा का प्रसार भी हुआ। भारत में पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से वैज्ञानिक अविष्कारों एवं नई खोजों का प्रसार होने लगा तथा पश्चिमी विचारकों के मतों का विवेचन और विश्लेषण होने लगा। इस प्रकार जिस देश में समुद्र पार करना धर्म विरोधी कार्य घोषित किया गया था, वहीं पश्चात्य विचारधारा का बड़ा तेजी से प्रसार होने लगा। उपरोक्त प्रभावों के अधीन भारत मे पुनर्जागरण युग की शुरूआत हुई।

भारत में आधुनिक राजनीतिक चिन्तन ब्रिटिश शासन से ही सकारात्मक या नकारात्मक रूप से प्रभावित था, लेकिन उसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति की गूँज भी सुनाई देती है। साथ ही तत्कालीन विश्व की अन्य विचारधाराओं का प्रभाव भी आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर पड़े बिना नहीं रह सका।

इस प्रकार विभिन्न प्रभावों एवं कारकों के फलस्वरूप भारत में अनेक विचारधाराओं का विकास हुआ। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का वर्गीकरण करना वैसे तो काफी कठिन कार्य है, क्योंकि यह चिन्तन आंशिक रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद से प्रभावित था तो कुछ मात्रा में तत्कालीन विश्व की अन्य राजनीतिक विचारधाराओं से भी प्रभावित था। साथ ही इसमें मौलिकता का भी समावेश था। फिर भी भारतीय राजनीतिक चिन्तन को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से छः प्रमुख विचारधाराओं के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है-

1. उदारवादी विचारधारा,
2. आदर्शवादी विचारधारा,
3. समाजवादी विचारधारा,
4. सम्प्रदायवादी विचारधारा,
5. मानववादी विचारधारा, तथा
6. गांधीवादी विचारधारा ।

भाग–1

उदारवादी विचारधारा

भारतीय उदारवादियों में राजाराम मोहन राय, दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, फिरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भारतीय उदारवादी चिन्तन को समझने के लिए इनकी विचारधाराओं का पृथक-पृथक अवलोकन अधिक सहायक होगा।

।। राजाराम मोहन राय ।।
(1772 – 1833)

राजाराम मोहन राय को भारतीय पुनर्जागरण का अग्रदूत माना जाता है। कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने उन्हें 'आधुनिक भारत का सूत्रधार कहा है।[1] वे हीगल एवं बेथम के समकालीन थे उन्होंने मानवीय क्रियाकलाप में तर्कबुद्धि या विवेक की प्रधानता को स्वीकार किया। वे मध्युगीन अंधविश्वासों तथा उनसे उत्पन्न कुरीतियों को दूर कर भारत को आधुनिक बनाना चाहते थे। वे मानवीय स्वतंत्रता पर आधारित प्राकृतिक अधिकारों

---

1 रवीन्द्रनाथ ठाकुर; "भारत पथिक राममोहन राय," निबन्ध माला, पृ0 9-2 ।

के साथ-साथ नैतिक अधिकारों पर भी बल देते थे। उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता मनुष्य की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति है, जो कि राष्ट्र के लिए भी आवश्यक है। उन्हें यूनानियों तथा नेपल्सवासियों की स्वतंत्रता की माँग से सहानुभूति थी। जब वे यूरोप जा रहे थे तो मार्ग में एक फ्रांसीसी जलयान को देखकर उन्होंने कहा था कि "यदि मै स्वतंत्र फ्रांसीसी राष्ट्र की जहाज में इंग्लैण्ड़ जा सकता तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती।"[1]

राजाराम मोहन राय नकारात्मक स्वतंत्रता के इस सिद्धान्त को मानते थेकि 'विचार-अभिव्यक्ति' की स्वतंत्रता में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु उन्होंने मानवीय स्वतंत्रता की रक्षा के लिए राज्य को प्रहरी की भूमिका प्रदान कर स्वतंत्रता को सकारात्मक रूप भी प्रदान किया। उनका विचार था कि जिस समाज में व्यक्ति की स्वतत्रता का स्तर बहुत गिरा हुआ हो और उसके उन्नत होने की संभावनायें बहुत कम हों, वहां राज्य को इसके लिए उपयुक्त परिस्थितियां पैदा करने हेतु सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिए। राष्ट्रीय आन्दोलन में लाल, बाल, पाल की तिकड़ी के रूप में प्रसिद्ध विपिनचन्द्र पाल ने बताया है कि "राजा पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता का सन्देश दिया। उनके लोग इस स्वतंत्रता को खो बैठे थे, इसका उन्हें बहुत दुःख था। विदेशी आधिपत्य को वे विदेशी है, फिर भी उसके अन्तर्गत देशवासियों का उद्धार अधिक तीव्रगति तथा निश्चय के साथ होगा।"[2]

राजाराम मोहन राय का मानना था कि ब्रिटिश शासन में भारत को अनेक लाभ हुए हैं। उन्होंने कहा था कि "हम अपनी गम्भीर भक्ति-भावना से अन्य वस्तुओं के साथ-साथ ईश्वर को भारत में अंग्रेजी शासन के वरदान के लिए प्रायः विनम्र धन्यवाद अर्पित किया करते हैं और प्रार्थना करते है कि वह शासन आगे आने वाली अनेक शताब्दियों तक अपना कृपापूर्ण कार्य करता रहे।"[3]

---

1 डा0 वी0 पी0 वर्मा; आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, तृतीय संस्करण, 1982-1983मेसर्स लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक, आगरा-3, पृ0 16-17 में उल्लिखित।

2 विपिनचन्द्र पाल: राममोहन एजरीकांस्ट्रम्टर ऑफ इण्डियन लाइफ एण्ड् सोसायटी" कलकत्ता म्युनिसिपल गजट, दिनाँक-22 दिसम्बर 1928।

3 वर्म्स आफ राम मोहन राय (ब्रह्म समाज, कलकत्ता, 1928): संपादक: जोगेन्द्रचन्द्र घोष, कलकत्ता, श्रीकान्त राय 1901 जिल्द1, पृ0 222।

यद्यपि उनका मानना था, कि उपनिवेशवाद अपने आप में बुरा है, क्योंकि इसके अन्तर्गत एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों को पराधीन बनाकर उनकी स्वतंत्रता का दमन करते हैं। राय ने ब्रिटिश अधिकारी तंत्र की आलोचना भी की थी कि वह भारतवासियों की स्वाभाविक आकांक्षाओं का विरोध कर रहा था। उन्होंने यह मत प्रकट किया था कि औपनिवेशक शासन चाहे कितना भी हितकारी क्यों न हो, देर-सवेर उसका अंत जरूरी है।

राममोहन राय ने प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन किया। उनका विचार था कि "असाधारण संकट के समय जिन प्रतिबन्धों को लगाने का अधिकार दिया जा सकता है, उनका शांतिकाल में प्रयोग कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता।"[1] उन्होंने न्यायिक और कार्यकारी शक्तियों को पृथक् करने की बात की, जिससे स्वतंत्रता सुनिश्चित रहती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने न्यायालय के सुधार, देश के न्यायालयों का यूरोपीय लोगों पर क्षेत्राधिकार, जूरी प्रथा, विधि का संहिताकरण, विधि-निर्माण में जनता से परामर्श, देशी लोकसेना की स्थापना, देशवासियों को अधिक नौकरियां देना, असैनिक अधिकारियों की आयु तथा शिक्षा, रैय्यत की दशा का सुधार तथा उसकी रक्षा के लिए कानूनों का निर्माण तथा स्थायी भूमि सुधार आदि विषयों के समर्थन में अपने विचार व्यक्त किये थे।[2]

राजाराम मोहन राय ने समाजसुधार को राजनीतिक सुधार से महत्वपूर्ण माना। उनका मानना था कि जिस देश में नागरिकों को आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त नहीं है, वहाँ स्वाधीनता प्राप्त करने से पहले समाजसुधार का कार्य हाथ में लेना चाहिए। उन्होंने यह माँग की कि मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, बाल -बिवाह,विधवा-पुर्नविवाह-निषेध, सतीप्रथा, जातिप्रथा और पुरोहित प्रथा जैसे अंधविश्वासों और कुरीतियों को दूर किया

---

1 राजा राम मोहन राय ने 'संवाद कौमुदी' नामक वंगला पत्रिका तथा 'मिरातुल अखबार' नामक फारसी पत्रिका एवं ब्रह्मनिकल मैगजीन नामक पत्रिका प्रारम्भ की थी।

2 जोगेन्द्रचन्द्र घोष; इन्ट्रोड्क्सन टू द इंग्लिस वर्क्स आफ राजा राम मोहन राय: 1901 कलकत्ता, श्रीकान्त राय के विभिन्न अध्यायों से

जाय। साथ ही साथ शिक्षा का व्यापक प्रसार किया जाय, जिसमें विशेष जोर प्राकृतिक विज्ञानों की शिक्षा पर दिया जाय।[1]

राजाराम मोहन राय ने राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों समस्यायों पर अपना विचार रखा। वे औपनिवेशिक उदारवाद के मूल प्रवर्त्तक थे, फिर भी उन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद की सराहना आँख मूँद कर नहीं की। उनके समय तक अंग्रेजों का रूढ़िवादी एवं अनुदारवादी चरित्र स्पष्ट नहीं था, लेकिन उनके द्वारा व्यक्त किये गये स्वतंत्रता के प्रति असीम उत्साह ने बाद के भारतीय चिन्तकों को काफी प्रभावित किया।

दादाभाई नौरोजी
(1825–1917)

'भारत के महावृद्ध नाम से विख्यात दादाभाई नौरोजी आधुनिक भारत के सुलझे हुए अर्थशास्त्रवेत्ता, साम्राज्यवाद के आलोचक और भारतीय राष्ट्रवाद के अग्रदूत के रूप में विख्यात है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उत्कर्ष के समय उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्ड़िया' के अन्तर्गत सांख्यिकीय आंकड़ों की सहायता से भारत की तत्कालीन दुर्दशा और उसके कारणों का सटीक, प्रामाणिक और मर्मस्पर्शी विवरण प्रस्तुत किया। इसके द्वारा उन्होंने ब्रिटिंश साम्राज्यवाद की कूर नीतियों को बदलने की माँग की।

उन्होंने ब्रिटिश शासकों की अप्राकृतिक वित्तीय एवं आर्थिक नीति की आलोचना की, जिसके द्वारा ब्रिटेन भारत के भौतिक एवं मानवीय संसाधनों का शोषण कर रहा था, और उसका परिणाम था–देश का आर्थिक और नैतिक अपवाह।

आर्थिक अपवाह से तात्पर्य था कि एक बड़ी धनराशि भारत से इंग्लैण्ड़ निरन्तर जा रही थी। यह राशि भारत पर शासन करने वाले प्रशासकों के वेतनों और पेंशनों

---

1 जोगेन्द्र चन्द्र घोष : इन्ट्रोडक्सन टू द इंग्लिश वर्क्स ऑफ राजा राममोहन राय, 1901 कलकत्ता, श्रीकान्तराय, जितव 3, पृ0 327।

के रूप में, गैर-सरकारी ब्रिटिश उद्यमियों की आय के रूप में, भारत में रह-रहे ब्रिटिश सैनिकों पर होने वाले खर्च के रूप में तथा ब्रिटिश व्यावसायिक वर्ग की आय के रूप में प्रतिवर्ष लगभग तीन या चार करोड़ पौण्ड़ भारत से ब्रिटेन ले जायी जा रही थी। इस राशि को पुनः भारत में लगाकर अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर उसे ब्रिटेन भेजा जा रहा था। इस प्रकार इंग्लैण्ड़ के लाभ के लिए भारत की सम्पदा और संसाधनों का दोहन लगातार बढ़ता जा रहा था।[1]

नैतिक अपवाह से तात्पर्य यह था कि उच्च्च पदों की सारी नौकरियां अंग्रेजों के लिए सुरक्षित थी, भारतीयों को निम्न या अधीनस्थ पद ही दिये जाते थे। इससे भारतीयों के लिए धन-संचय या पूँजी-निर्माण का कोई अवसर उपलब्ध न था। इसके बाद उच्च्च पदों और व्यवसायों से जुड़े हुए अंग्रेज अपने कार्य के दौरान प्राप्त राज-काज, प्रशासन, विधि, निर्माण, वैज्ञानिक एवं सुरक्षित व्यवसायों का अनुभव और ज्ञान सेवा-निवृत्ति के पश्चात इंग्लैण्ड़ लेकर चले जाते थे, क्योंकि भारत को स्वदेश नहीं समझते थे।[2] दादाभाई ने बताया कि अंग्रेजों से पहले के शासक कसाइयों के सदृश थे, जो अनियमित रूप से जहाँ-तहाँ से माँस काट लेते थे, किन्तु अंग्रेज अपनी यान्त्रिक क्षमता के बल पर तेज चाकू से देश के हृदय को काटकर ले जा रहे थे।[3]

नौरोजी ने कहा था कि ''भारत की गरीबी आर्थिक नियमों के स्वाभाविक प्रवर्तन का परिणाम न होकर उन नियमों में जान-बूझकर किए गये हस्तक्षेप का परिणाम है। सच्ची बात तो यह है कि यदि आर्थिक गतिविधि के प्राकृतिक नियमों को काम करने दिया जाय, तो भारत दूसरा इंग्लैण्ड़ बन जायगा। इससे भारत और इंग्लैण्ड़ दोनों को बहुत बड़ा फायदा पहुँचेगा।''[4]

---

1 दादाभाई नौरोजी: पावर्टी एण्ड़ अनब्रिटिश रूल इन इण्ड़िया लन्दन, स्वान सोनेनशीन एण्ड़ कं, 1901, पृ0 211-225 तथा स्पीचेज एण्ड़ राइटिंग्स आफ सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, जी0 ए0 नटेसन एण्ड़ कं मद्रास, पृ0 297।

2 दादाभाई नौरोजी: पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्ड़िया लन्दन, स्पान सोनेनशीन एण्ड़ कं, 1901, पृ0 211-225 तथा स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, जी0 ए0 नटेसन एण्ड़ कं मद्रास, पृ0 256-57

3 दादाभाई नौरोजी : पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्ड़िया, पृ0 211 ।

4 दादाभाई नौरोजी : पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्ड़िया, पृ0 16 ।

राजनीतिक सत्ता के नैतिक औचित्य को बताते हुए नौरोजी ने कहा था कि "आप एक साम्राज्य का निर्माण अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा या भौतिक शाक्ति के बल पर कर सकते हैं, परन्तु उसका परिरक्षण केवल शाश्वत नैतिक शक्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। उन्होंने सॉंज्जबरी के इस कथन को उद्धृत किया था कि "अन्याय सबसे ताकतवर सरकार को भी धूल में मिला देता है।"[1]

अन्य उदारवादियों की भाँति दादाभाई भी यह स्वीकार करते थे कि भारत को ब्रिटिश शासन से अनेक लाभ हुए हैं। उन्होंने कहा था कि "ब्रिटेन की उन्नत मानवतावादी सभ्यता ने मानव को बहुत कुछ दिया है। इसने मानव को यांत्रिक, वैज्ञानिक और संगठनात्मक ढ़ंग से सभ्य बनाया है।"[2] किन्तु उन्होंने यह भी कहा कि स्वशासन के लिए जो परिस्थितयाँ और योग्यता अपेक्षित है, वे अभी तक भारत में नहीं आ पायी है। यदि अंग्रेज अपनी उच्च सभ्यता, सहज स्वभाव, स्वस्थ संस्कारों और परंपराओं का पालन करते हुए अपने व्यवहार में समानता , न्याय और ईमानदारी का परिचय देंगे, तो वे भारत को स्वतंत्रता प्राप्त करने में सहायता ही देंगे, उसे पराधीन नहीं बनाना चाहेंगे। उन्होंने कहा था कि "ब्रिटिश शासन को भारत के लिए 'वरदान' और इंग्लैड के लिए 'लाभ तथा यश' का साधन बनाने का एकमात्र उपाय यह है कि भारत को उनके नियंत्रण तथा निर्देशन के अन्तर्गत अपना प्रशासन स्वयं चलाने दिया जाय।[3] "लेकिन ब्रिटेन तो जनता की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा चुका था तथा जनता को निःशस्त्र कर रखा था, ऐसे में आश्चर्य नहीं होगा, यदि प्रकृति उससे इस आचंरण का बदला ले ले, जो उसने भारत में किया है।[4]

नौरोजी समाजवाद से भी प्रभावित थे तथा 1904 के प्रथम अंतराष्ट्रीय समाजवादी कंग्रेस, एम्सटरडम में सम्मिलित भी हुए थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध तथा अपनी पुस्तक 'श्रमिकों के अधिकार' में औद्योगिक न्यायालय की स्थापना की बात की थीं[5]

1 नौरोजी का 1893 की लाहौर कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण रिपोर्ट आफ दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस, 1893।

2 सर एम0 ई0 ग्राट डफ आन इण्डिया दादाभाई नौरोजी :स्वीचेज एण्ड् राइटिग्स, जी0 ए0 नेटसन एण्ड कं0 मद्रास, 1917, पृ0 571।

3 दादाभाई नौरोजी : पावर्टी एण्ड् अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया, पृ0 219।

4 दादाभाई नौरोजी : पावर्टी एण्ड् अनब्रिटिश रूल इन इण्ड्या, पृ0 214

5 आर-पी-मसानी, दादाभाई नौरोजी: द ग्रैण्ड ओल्ड मैन आफ इण्डिया, लन्दन, जार्ज ऐलन एण्ड अनविन लि0 , 1939,पृ0 430-431।

समय के साथ-साथ नौरोजी के विचारों में परिवर्तन होता गया तथा ब्रिटिश शासन की उदारता से उनका विश्वास हटता गया तथा उन्होंने मांग की कि ''स्वराज्य का अधिकार प्राप्त किये बिना भारत राष्ट्रीय महानता को प्राप्त नहीं कर सकता।[1] उन्होंने कहा कि ''भारतीयों को भी वैसा ही स्वराज्य' मिलना चाहिए, जैसा कि इंग्लैण्ड अथवा उसके उपनिवेशों में प्रचलित है''[2]।

नौरोजी ने निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की मांग की, जिसमें सभी तरह की उच्च और व्यावसायिक शिक्षा की मांग भी सम्मिलित थी। उन्होनें सदैव अपनी मांगों के लिए संवैधानिक साधनों का समर्थन किया। उन्हें सदैव यह आशा बनी रही कि वे अंग्रेजों की अंतरात्मा को जगाकर और उनकी परम्परागत संस्कृति की दुहाई देकर भारत के लोगों के लिए आवश्यक अधिकार प्राप्त कर लेंगे। लेकिन ऐसा सम्भव नहीं हो सका और भारत को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह और क्रांतिकारी साधनों का प्रयोग करना ही पड़ा।

महादेव गोविन्द रानाडे
(1842–1901)

'महाराष्ट्र के सुकरात' नाम से लोकप्रिय श्री रानाडे ने भारत के उदारवादी आन्दोलन को दार्शनिक आधार प्रदान किया। उन्होंने पूँजीवाद को आर्थिक उन्नति का आवश्यक साधन मानते हुए भारत के लिए राज्यं समर्थित पूँजीवाद की वकालत की। अपनी प्रसिद्ध कृति 'ऐसेज ऑन इण्डियन इकॉनॉमिक्स' में उन्होनें बताया कि भारत की आर्थिक समस्याओं के निदान के लिए 'आर्थिक मानव' की ब्रिटिश संकल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ के लोग स्वतन्त्र रूप से स्वार्थ पूर्ण निर्णय नहीं लेते बल्कि यहाँ लोग परिवार और जाति के बंन्धनों के वशीभूत होकर कर्मफल और भाग्यवाद पर विश्वास करते हैं। यहाँ श्रम और पूँजी दोनों गतिहीन है इसे गतिमान करने के लिए राज्य के

1 1906 , कलकत्ता काग्रेस का अध्यक्षीय भाषण।
2 1906 , कलकत्ता काग्रेस का अध्यक्षीय भाषण।

सक्रिय हस्तक्षेप की आवश्यकता है। उन्होंने बताया कि 'न केवल उदार और तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में, बल्कि रेल-व्यवस्था, नहर निर्माण, डाक तार विभाग तथा नये उद्यमों और उद्योगों की स्थापना के लिए प्रबृद्ध राज्य की सहायता और प्रोत्साहन की जरूरत है।[1]

रानाडे नौरोजी के 'निर्गम सिद्धान्त' का विरोध करते थे तथा वे चाहते थे कि बाहर के लोग आकर देश में बसें और देश के लोग बाहर जाकर अपने उपनिवेश बसायें।[2] उन्होंने देश की गरीबी के छः कारणों को बताते हुए अपना विचार व्यक्त किया कि देश का आर्थिक कल्याण तभी हो सकेगा, जब उद्योग, व्यापार तथा कृषि तीनों का एक साथ विकास किया जाय।[3]

रानाडे ने आस्तिकवादी तत्वमीमांसा के आधार पर यह तर्क दिया कि ''संपूर्ण सृष्टि का संचालक ईश्वर है। एक आत्मचेतन ओर विवेकशील प्राणी के नाते मनुष्य में स्वयं ईश्वर का अंश विद्यमान है। मनुष्य का विवेक उसे अच्छे या बुरे, उचित या अनुचित में से चयन की क्षमता प्रदान करता है। कानून, सरकार, नैतिकता, शिष्टाचार, धर्म, परिवार, समाज आदि समस्त मानवीय संस्थाओं का आधार मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा है। मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह आत्मसंयम का विकास कर केवल अपनी अंतरात्मा के निर्देशों का पालन करे, किसी विवेक शून्य आदेश या दबाव, रीति-रिवाज या धार्मिक अवरोधों के सामने न झुके।[4]

मनुष्य के ईश्वरीय गुण के कारण रानाडे स्त्री और पुरूष की समानता का समर्थन करते थे। इसके लिए उन्होंनें भारत के प्राचीन इतिहास से उदाहरण दिया था।

---

1 एम0 जी0 रानाड़े, ऐसेज ऑन इण्डियन इकोनॉमिक्स, द्वितीय संस्करण, जी0 ए0 नटेसन एण्ड् कं0 मद्रास, 1906, पृ0 231-261।

2 रानाड़े द्वारा लिखित निबन्ध ''इण्डियन फोरेन इमिग्रेसन' 1893, श्रीमती रमाबाई: दी मिसलेनियस राइटिंग्स ऑफ एम0 जी0 रानाडे बम्बई, मनोरंजन प्रेस, 1915, पृ0 261।

3 एम0 जी0 रानाडे, ऐसेज आन इण्डियन इकोनॉमिक्स, पृ0 6-200।

4 जेम्स कैलक: महादेव गोबिन्द रानाडे: पेट्रियट एण्ड सोशल सर्वेन्ट, (एसोशियेशन प्रेस कलकत्ता, 1926), पृ0 115।

अपने राजनीतिक विचारों में रानाडे विधि के शासन तथा संसदीय शासन प्रणाली का समर्थन करते थे एवं न्यायापालिका को स्वतन्त्रता के लिए आधार स्तम्भ मानते थे।[1] उन्होंने विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हुए प्रशासन के अत्यधिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति की आलोचना की थीं[2] उन्होंने प्रेस की स्वतन्त्रता सहित अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक बताया था।

श्री रानाडे भारत की प्राचीनता का उदाहरण देते हुए भारत को सर्वाधिक महत्वपूर्ण देश मांनते थे। ईश्वर में अटूट विश्ंवास के कारण वे भारत में ब्रिटिश शासन को भी कृपालु ईश्वर के विधान का ही अंग मानते थे। वे वह स्वीकार करते थे कि भारत को ब्रिटिश शासन से अनेक लाभ हुए हैं। लेकिन समय के साथ उनके विचार परिवर्तित होते गये तथा उन्होंने भारत में भारतीयों के साथ ब्रिटिश शासक वर्ग के अहंकार, घमण्ड, नीचता तथा तिरस्कार की भावना का विरोध किया।[3]

रानाडे भारत के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के लिए सदैव प्रयास करते रहे, जबकि वे स्वयं एक सरकारी कर्मचारी (न्यायाधीश) थे। वे चाहते थे कि समाज सुधार के मामले में कोई कानून लागू करने से पहले जनमत को जगाना जरूरी है। वे मानवीय प्रगति एंव कल्याण के लिए पूर्व के मूल्यों तथा मान्यताओं और पश्चिम की राजनीतिक तथा आर्थिक विचारधारा का समन्वय चाहते थे। उन्हें गोखले ने अपना 'राजनीतिक गुरू'' माना था। वे भारतीय राष्ट्रवाद के संदेशवाहक के रूप में प्रसिद्ध हुए।

---

1 बी0 पी0 वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ0 195।

2 रानाडे; ऐसेज आन इण्डियन इकोनॉमिक्स, पृ0 231-61।

3 जेम्स.कैलक: महादेव गोबिन्द रानाडे: पोट्रियट एण्ड सोशल सर्वेन्ट, पृ0 117-118।

।।गोपाल कृष्ण गोखले।।
(1866-1915)

गोखले राजनीति में नैतिकता को प्रथम स्थान देते थे। उन्हेंने राजनीति के आध्यत्मीकरण की माँग की थी। वे भारत के नैतिक पुनरूत्थान के लिए सदैव प्रयासरत रहते थे। उन्होंने राजनीति को संभाव्य की कला माना था। महात्मागांधी ने श्री गोखले को अपना राजनीतिक गुरू, माना था।

गोखले के अनुसार, ''मनुष्य एक नैतिक प्राणी है। अतः नैतिक तथ्यों की सिद्धि ही मानव जीवन का स्वाभाविक साध्य है। चूँकि राजनीति भी मानव जीवन का एक अंग है, इसलिए राजनीति को नैतिकता से अलग नहीं किया जा सकता। नैतिकता की राह पर चलते हुए यदि मनुष्य सांसारिक दृष्टि से असफल भी हो जाये तो भी उसकी शक्ति बढ़ जायेगी और उसका जीवन अधिक सार्थक हो जायेंगा। सार्वजनिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि नैतिक-लक्ष्य सिद्धि के ध्येय से प्रेरित होनी चाहिए। सच्चे सार्वजनिक कार्यकर्ता को अपने समस्त कार्य 'अंतरात्मा' के निर्देश से करना चाहिए और फल की इच्छा से कोई सरोकार न रखना चाहिए।[1]

अन्य उदारवादियों की तरह गोखले भी ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्ध को अज्ञेय ईश्वरीय विधान का परिणाम मानते थे, जो भारत के कल्याण के लिए था।[2] वे भारत के लिए ब्रिटेन के उपनिवेशों के तरह का स्वराज्य चाहते थे। उन्होंने सुझाव दिया था कि भारतीयों का दीर्घकालीन लक्ष्य तो औपनिवेशिक शासन से मुक्ति होनी चाहिए परन्तु इसे तात्कालिक लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। उन्होंने कहा कि विदेशी शासन से मुक्ति से पहले भारतीय समाज की कुरीतियों को दूर करना जरूरी है, अन्यथा स्वतंत्रता के नाम पर एक विशिष्ट वर्ग जनसाधारण पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा। उन्होंने जाति-व्यवस्था, पारंम्परागत रूढ़िवादिता तथा पुराने रीति-रिवाजों का विरोध किया। स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने का उन्होंने सक्रिय एवं सफल

---

1 स्पीचेज ऑफ मि0 जी0 के0 गोखले, जी0 ए0 नट्रेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1908, पृ0 44।

2 स्पीचेज ऑफ मि0 गोखले , पृ0 3-45

प्रयास किया। उन्होंने कहा कि केवल सरकार बदल जाने से जनसाधारण को स्वतंत्रता नहीं मिल जायेगी। स्वतंत्र राष्ट्र वह है, जिसमें प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र हो, वह अपनी अंतरात्मा के उज्जवल प्रकाश से मार्गदर्शन प्राप्त करे। उनका मानना था कि राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरूआत मनुष्य के नवजीवन से होनी चाहिए।[1] इसीलिए उन्होंने 1905 में भारत सेवक समाज' की स्थापना की थीं। इस समाज के सदस्य देश प्रेम के लिए सर्वस्व त्याग हेतु तत्पर रहते थे।

गोखले ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया था। उन्होंने 'स्वदेशी' का मतलब बताया था-. 'देश के लिए उच्चकोटि का गम्भीर तथा व्यापक प्रेम।[2] वे ब्रिटिश सरकार के साथ लगातार संवाद कायम रखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने 'बहिष्कार' का विरोध किया था।[3] वे सदैव संवैधानिक आन्दोलन में ही विश्वास करते रहे। उन्हें अंग्रेजों की सद्भावना पर आस्था थी।गोखले ने भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीति की आचोलना की थीं। जिस भारतीय स्थिति को अंग्रेज 'अर्थशास्त्र के नियमों'का परिणाम मानते थे, गोखले ने उसका विरोध करते हुए तर्क दिया था कि मानवीय लक्ष्यों की सिद्धि के लिए 'अर्थशास्त्र के नियमों पर मानवीय नियंत्रण रखना जरूरी है। उन्होंने ब्रिटिश नौकरशाही से मांग की कि वह कार्यकुशलता पर अधिक बल न देकर भारतीयों को प्रशासन के मार्ग पर बढ़ने का यथोचित अवसर प्रदान करे।[4]

गोखले सरकार को अनेक कल्याणकारी कार्य सौंपना चाहते थे। वे अनिवार्य और नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा प्रदान करना राज्य का कर्तव्य मानते थे। उन्होंने सरकार से भूमि-कर सहित आम जनता के जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक करों को कम करने की माँग की। वे चाहते थे कि भारत के नवजात उद्योगों को संरक्षण दिया जाय।[5]

---

1 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ0 740-47।
2 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ0 795।
3 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ0 819।
4 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ0 546।
5 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ0 803।

गोखले आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के पुजारी थे। उनके राष्ट्रवाद का लक्ष्य राष्ट्र के सदस्यों का नैतिक पुनरूत्थान करना था। उन्होंने संयम, विवेक और समझौते पर बल देते हुए आन्दोलन के संवैधानिक तरीके का ही समर्थन किया, उग्र विरोध को वे कभी भी स्वीकार नहीं करते थे।

।। फिरोजशाह मेहता।।

(1845-1915)

दबंग व्यक्तित्व के धनी सरफिरोज शाह मेहता बम्बई के 'बिना मुकुट के बादशाह' कहलाते थे। अपनी युवावस्था में ही वे दादा भाई नौरोजी के प्रभाव में आ गये थे। वे भारतीय उदारवाद के प्रमुख स्तम्भ थे तथा राजनीति में किसी भी प्रकार के अतिवाद का सदैव मुखर विरोध करते थे।

उनका मानना था कि विवेक, बुद्धिमत्ता तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से ही राजनीतिक शक्ति को बल मिलता है।राजीनतिक शक्ति को पक्षपात जन्य कुटिलता एवं निराधार तथा पथभ्रष्ट करने वाले दुर्भावों से मुक्त करता होगा।[1] वे ब्रिटिश सम्राट के प्रति भक्ति तथा ब्रिटिश साम्राज्य के स्थामित्व में विश्वास करते थे।[2] फिर भी उन्होंने अंग्रेजों की उस नीति का विरोध किया था, जिसके द्वारा वे शक्ति को प्रशासन का आधार बना रहे थे।[3] वे अंग्रेजी साम्राज्य की श्रेष्ठता और सर्वोच्चता को स्वीकार करते हुए भी उग्र अंग्रेजों ओर आंग्ल भारतीयों की व्यापारिक लाभों के लिए की गयी विजयों की निन्दा करते थे तथा सदैव उसका माखौल उड़ाते थे।[4] उनके विचार स्पष्ट तथा राजनीतिक आदर्श संयत एवं सीमित थे। भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में भारतीयों

---

1 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 406-408

2 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 812।

3 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 164।

4 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 455।

के अधिक प्रतिनिधित्व तथा भारतीयों के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सुधारों की माँग करते हुए उन्होंने कई बार ब्रिटिश सरकार के लोगों को निरूत्तर कर दिया था तथा एक बार वे विधानसभा से बहिर्गमन भी कर गये थे।

सरफिरोजशाह मेहता ने स्थानीय स्वराज की प्राप्ति के लिए प्रयास किया था तथा वे काफी हद तक स्थानीय स्वायत्ता के पक्षधर थे।[1] वे चाहते थे कि कार्यकारी काम किसी परिषद अथवा उप समिति की उपेक्षा किसी एक ही अधिकारी के सुपुर्द किये जायँ।[2]

शिक्षा की माँग सभी उदारवादियों ने की थी। मेहता भी लोक शिक्षा के प्रसार के पक्ष में थे। वे बुद्धिवाद तथा प्रबुद्धिकरण के समर्थक थे। उन्होंने बौद्धिक तथा नैतिक दोनों प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उनका कहना था कि ''इतिहास तथा मानवशास्त्र नैतिकता की पाठशाला है।[3] उनका विश्वास था कि भारतीयों में उत्तरदायित्व तथा व़फादारी के उच्च आदर्शो को केवल शिक्षा के माध्यम से प्रविष्ट किया जा सकता है।[4] वस्तुतः वे पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे तथा संस्कृत भाषा एवं साहित्य के आलोचक थे।[5]

सरफिरोजशाह मेहता इतिहास को निरन्तर वृद्धिमान तथा प्रगति की प्रक्रिया के रूप मं देखते थे। इसी के फलस्वरूप उन्होनें उदारवादी विचारधारा के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पक्षपोषण किया था। उनका विश्वास था कि देश को आधुनिक सभ्यता के मूल्यों को अंगीकार करने के लिए धीरे-धीरे तैयार किया जाना चाहिए।

---

1 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 637।

2 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 256।

3 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ़ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 77।

4 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 267।

5 सी0 वाई0 चिन्तामणि (संपादक) :स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905, पृ0 7।

उन्होंने समय की माँग को समझते हुए यह देख लिया था कि भारत की राजनीतिक प्रगति के कमिक विकास की उज्जवल सम्भावनाएं विद्यमान हैं।[1] वे निर्भीक देशभक्त थे तथा भावनाओं की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित होते थे। उन्होंने धैर्य तथा अध्यवसाय पर बल दिया था। श्री मेहता उदारवादी विचारधारा के प्रबुद्ध उन्नायक थे तथा आजीवन उदारवाद के अपने विचार पर दृढ़ रहे।

।। सुरेन्द्र नाथ वनर्जी।।
(1848-1925)

बंगाली राष्ट्रवाद के जनक श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए केवल वनर्जी संवैधानिक साधनों का समर्थन करते थे। पत्रकारिता के क्षेत्र में विचार - अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर वे किसी प्रकार के प्रतिबन्ध को स्वीकार न करते हुए, अपने स्वतंत्र विचारों के कारण 1883 में ही जेल की सजा काट चुके थे, फिर भी वे समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे। कांग्रेस के प्रारम्भिक वर्षो में वे उसके स्तम्भ रहे।

वे नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनरूत्थान को राजनीतिक उन्नति का प्रमुख आधार मानते थे।. वे चाहते थे कि देशवासियों के मन में राष्ट्रीयता की भावना की अनभूति हो। उनके अनुसार ''विरादराना एकता की यह मानसिक अनुभूति राष्ट्रीयता की प्रगति की अपरिहार्य शर्त थी।''[2] वे बर्क के संविधानवाद के प्रशंसक थे, तथा भारत में संवैधानिक सुधार को आवश्यक मानते थे।[3]

---

1 फिरोजशाह मेहता का 1890 का कलकत्ता कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण। पृ0 89।

2 रामचन्द्र पालित (संपादक), स्पीचेज बाई बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1878-1884) (एस0 के0 लाहिड़ी एण्ड् कम्पनी, कलकत्ता 1890) पृ0 1-24

3 राज जोगेश्वर मित्तर (संपादक) स्पीचेज बाई बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1886-1890), (एन0 के0 मित्र, कलकत्ता, 1890) पृ0 162-63।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी मानव में दैवी अंश की विद्यमानता स्वीकार करते थे तथा प्राचीन भारतीय विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन आदि की प्रशंसा करते थे।[1] वे मानते थे कि भारत धर्मो की जन्मभूमि और पूर्व की पवित्र भूमि है। वे देश के नवयुवकों को भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान बनाना चाहते थे। उनका मानना था कि नैतिक पुरूत्थान अत्यन्त आवश्यक है और इसके लिए प्राचीन भारतीय संस्कृति सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। वे कहते थे कि ''देश के नैतिक पुनरूत्थान पर ही उसका बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पुनरूद्धार निर्भर है।''[2]

श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी भी अन्य उदारवादियों की भाँति अंग्रेजों की नैतिक भावना में विश्वास करते थे तथा उनको (अंग्रेजों को) भारत के उद्धार के लिए ईश्वरीय देन मानते थे।[3] वे लोकमत को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने कहा था कि लोकमत भौतिक शक्तियों के केन्द्रीयकृत संगठन से अधिक उच्च, श्रेष्ठ तथा शुद्ध है। इतिहास में जब भी किसी संगठन ने लोकमत की अवलेहना की है तब लोकमत ने ही उस संगठन को भंग कर नयी व्यवस्था की स्थापना की है।[4] उन्होंने माँग की, कि भारतीयों को राजनीतिक अधिकार दिये जायँ। उनका कहना था कि सभ्यता का प्रसार पूर्व से पश्चिम की ओर हुआ है।पश्चिम को अपना ऋण चुकाने के लिए भारतीयों के अधिकार को मान्यता देनी ही होगी।

श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने बंग-भंग के समय अंग्रेजी सरकार का जमकर विरोध किया था। वे भारतीय एकता तथा स्वशासन के उत्साही सन्देशवाहक थे।[5] वे हिन्दू-मुस्लिम एकता को भारत की प्रगति के लिए आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि एकता ही देश के पनुरूद्धार का राजमार्ग है।[6]

---

1 रामचन्द्र पालित (संपादक), स्पीचेज बाई बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1878-1884) (एस0 के0 लाहिणी एण्ड् कम्पनी, कलकत्ता, 1890) पृ0 24 जी0 ए0 नटेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1908, पृ0 46 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी।

2 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (का 24 जून, 1878 को कलकत्ता में यंग मैन्स एसोशिएशन की वार्षिक बैठक में दिया गया भाषण।

3 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पृ0 49।

4 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पृ0 19।

5 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पृ0 82-91।

6 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पृ0 50।

श्री बनर्जी ने भारतीय उद्योगों के संरक्षण तथा विकास के लिए काफी प्रयास किया। उनका कहना था कि किसी जाति की आर्थिक दशा का उसकी राजनीतिक प्रगति पर गहरा असर पड़ता है।[1] इसीलिए उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। उनका कहना था कि "स्वदेशी आन्दोलन दुर्भिक्ष, महामारी तथा दरिद्रताजन्य विपदाओं से हमारी रक्षा करेगा।....जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वदेशी बनिये। अपने विचारों, कार्यो, आदर्शो, आकांक्षाओं सबमें स्वदेशी का ब्रत लीजिए।....उस प्राचीन आर्यावर्त्त की पुन: स्थापना कीजिए जब ऋणिगण ईश्वर का गुणानुवाद और मनुष्य का कल्याण करते थे। समस्त एशिया नवजीवन से स्पन्दित हो रहा है....जापान उदीयमान सूर्य का अभिवादन कर चुका है।

अब वह सूर्य मध्याह्न के तेज के साथ भारत के गगन मण्डल से गुजरेगा।"[2] बनर्जी स्वदेशी को देशवासियों के प्रेम का केन्द्र बनाना चाहते थे। इसके लिए वे शक्ति का अर्जन आवश्यक मानते थे, किन्तु किसी हिंसात्मक तरीके का उन्होंने कभी भी समर्थन नहीं किया।

बनर्जी साम्राज्यवाद को मानवीय स्वतंत्रता का विरोधी मानते थे, क्योंकि वह (साम्राज्यवाद) निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन को जन्म देता है। उन्होंने कहा था कि "स्वराज राष्ट्रीय पुर्नजागरण का आवश्यक आधार है। स्वराज का आन्दोलन न केवल राजनीतिक बल्कि धार्मिक ओर नैतिक ध्येय से परिपूर्ण है। स्वराज मानव की शक्तियों के विकास और परिष्कार की सर्वोत्तम पाठशाला है।[3] उनका विचार था कि "प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य का निर्णायक होना चाहिए, यही सर्वशक्तिमान का आदेश है, जिसे प्रकृति ने स्वयं अपने हाथ से और स्वयं अपनी शाश्वत पुस्तक में अंकित किया है।[4]

---

1 पूना कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण,, 1895।

2 1902 के अहमदाबाद कांग्रेस अध्यक्षीय भाषण।

3 स्पीचेज एण्ड् राइटिंग्स आफ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पृ0 89।

4 1886 की कलकत्ता कांग्रेस में भाषण ।

श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी उदारवादी विचारक होने के बाद भी भारतीय स्वतंत्रता के पुजारी थे और उस समय उन्होंने भारत की स्वतंत्रता ओर प्रगति का समर्थन किया, जिस समय राष्ट्रीय आन्दोलन धीरे-धीरे पनप रहा था। लेकिन कालांतर में वे अत्यधिक उदारवादी होते गये तथा सन् 1918 में उन्होंने कांग्रेस को छोड़ दिया, क्योंकि वह श्री बनर्जी के विचारों की अपेक्षा अधिक उग्र हो गयी थी। बनर्जी सदैव संवैधानिक प्रणाली के ही समर्थक बने रहे।

भाग–2

आदर्शवादी विचारधारा

भारतीय आदर्शवादी विचारकों में मुख्य रूप से स्वामी दयानन्द सरस्वती, लाला लाजपतराय, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्र पाल और महर्षि अरविन्द को शामिल किया जाता है। यहाँ इन विचारकों का संक्षिप्त रूप में विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत है।

।।स्वामी दयानन्द सरस्वती।।

(1824–1883)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन में महती जीवनदायिनी शक्ति का काम किया। वे आधुनिक भारत के महान समाज सुधारक और विचारक थे, जिन्होंने हिन्दू समाज को जड़ीभूत प्रथाओं तथा अंधविश्वासों के बंधन से मुक्त कराने और भारत के प्राचीन गौरव के पुनरूत्थान का बीणा उठाया। धार्मिक जीवन में उन्होंने बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा का विरोध कर निराकार एकेश्वरवाद का प्रचार किया। भारतीय समाज के विभाजन को समाप्त कर एकता लाने के लिए उन्होंने 'आर्य समाज' (1875) की स्थापना की।

स्वामी दयानन्द परंपरागत आर्य प्रथाओं एवं वैदिक धर्म के महान समर्थक थे। उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में 'वर्णाश्रम धर्म' का समर्थन किया, लेकिन वे जाति-प्रथा के

आलोचक थे। उन्होंने बताया कि प्राचीन वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाजन पर आधारित थी। वैदिक युग में मनुष्य की जाति जन्म से निर्धारित नहीं होती थी। मनुष्य का गुण, कर्म और स्वभाव ही उसकी जाति के तर्कसंगत आधार थे। आज जन्म को जाति का एकमात्र तर्कसंगत आधार मानकर इसे तर्कशून्य बना दिया गया है।[1] स्वामी जी ने वर्ण व्यवस्था को फिर से तर्कसंगत रूप देने का सुझाव रखकर अंतरजातीय गतिशीलता का समर्थन किया। उन्होंने अस्पृश्यता की प्रथा पर तीखा प्रहार किया। उनका मानना था कि यह प्रथा वैदिक धर्म के विरूद्ध है। महात्मा गाँधी ने स्वामी जी के इस कार्य को आगे बढ़ाया तथा उन्होंने (गाँधी जी ने) कहा था-कि "स्वामी दयानन्द हमारे लिए विरासत में जो मूल्यवान वस्तुयें छोड़ गये है उनमें अस्पृश्यता के विरूद्ध उनकी स्पष्ट घोषणा निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है।"

स्वामी दयानन्द ने राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में किसी कमबद्ध ग्रन्थ की रचना नहीं की है। उनके राजनीतिक विचार छिटपुट रूप से उनकी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में मिलते हैं। उन्होंने वैदिक धर्म तथा मनुस्मृति के आधार पर अपने राजनीतिक विचारों की स्थापना की है। स्वामी जी ने राजतंत्रात्मक व्यवस्था का समर्थन किया है। उनका विचार था कि राजा एक आदर्श क्षत्रिय होना चाहिए। राजपद का सृजन स्वयं ईश्वर ने किया है। राजशक्ति का प्रतीक दण्ड है। जनता का कल्याण ही राजा का कर्त्तव्य है। राजा और प्रजा को मिलकर तीन सभाओं का गठन करना चाहिए, जिससे लोक-कल्याण की अभिवृद्धि हो सके-विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा। राजा स्वयं सभापति होगा, परंतु वह उसी प्रकार सभा के अधीन होगा, जिसप्रकार सभा राजा के अधीन होगी। स्वामी दयानन्द का आग्रह था कि राजनीतिक कार्यो को नैतिक कार्यो से पृथक नहीं किया जाना चाहिए। राजनीतिक शासकों को आध्यात्मिक नेताओं के निर्देशन में कार्य करना चाहिए।[2] स्वामी जी ने निर्वाचित राजतंत्र का समर्थन किया था।

---

1 दयानन्द कामेमोरेशन वाल्यूम; संपादक, हरविलास शारदा अजमेर, 1946।

2 डॉ0 वी0 पी0 वर्मा; आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ0 57।

स्वामी जी ने लोकतांत्रिक आदर्शवाद का समर्थन किया था, जिसके तहत गाँव को प्रशासन की प्रधान इकाई माना गया था। 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने ग्राम प्रशासन का निम्नलिखित स्वरूप बताया है---

1- एक गाँव का प्रधान,

2- दस गाँवों का प्रधान,

3- बीस गाँवों का प्रधान,

4- सौ गाँवों का प्रधान,

5- हजार गाँवों का प्रधान, तथा

6- दस हजार गाँवों का प्रधान,।

उन्होंने प्रत्येक श्रेणी के प्रधान का यह कर्त्तव्य निश्चित किया कि वह अपने अधिकार क्षेत्र में होनें वाले अपराधों की सूचना प्रतिदिन अपने से उच्चतर प्रधान को देगा, जिससे सारी सूचना अंत में राजा तक पहुँचायी जा सके।

स्वामी दयानन्द आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के पैगंम्बर थे। जिसके (आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के) अधीन जड़वाद के स्थान पर आत्मवाद, मानवीय असमानता के स्थान पर मानव समानता और निरा अविवेकवाद के स्थान पर बुद्धिवाद और भावनावाद के समन्वय को प्रोत्साहित किया जाता है। देश के उद्धार के लिए वे कर्मयोग के पालन और चारित्रिक शुद्धता पर बल देते थे।

स्वामी जी ने देशी भाषाओं की उन्नति का प्रयास किया। राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने अपना महत्वपूर्ण ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में ही लिखा। इससे वैदिक ज्ञान का समस्त जनता में प्रसार हो गया तथा वे द्वितीय शंकराचार्य कहलाने लगे।

स्वामी जी ने कहा था कि "विदेशी सुशासन, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता।"[1]

---

1 सत्यार्थ प्रकाश, सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दरियागंज, दिल्ली छठा समुल्लास।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कल्याणकारी राज्य का समर्थन किया। सार्वजनिक शिक्षा, नारी-शिक्षा, अनाथों और विधवाओं का संरक्षण तथा बाल-विवाह, बहु-विवाह एवं छुआछूत जैसी कुप्रथाओं का उन्मूलन करना उन्होंने राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य माना। स्वामी जी ने स्वाधीनता की नैतिक और बौद्धिक नींव तैयार की, जिसके आधार पर उनके बाद के समस्त राष्ट्रवादियों ने स्वतंत्रता के महल का निर्माण किया।

लाला लाजपत राय
(1865-1928)

'पंजाब केसरी' लाला लाजपत राय ने भारत के प्राचीन गौरव की चेतना जगाने के साथ-साथ देश को आधुनिकता की ओर प्रेरित करने का भी कार्य किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो 'स्वराज' का मंत्र देश को दिया था, उसे व्यावहारिक लक्ष्य बनाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ने का श्रेय लाला लाजपत राय को है। लाला जी 'आर्य समाज' के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहे।

लाला जी की राष्ट्रवाद की धारणा उन्नीसवीं शताब्दी की इटली वासियों की धारणा से मिलती थी। वे तर्क देते थे कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने-अपने आदर्श निर्धारित करने और उन्हें कार्यान्वित करने का मूल अधिकार है। इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। शासितों की सम्मति ही किसी सरकार का एकमात्र वैध तथा तर्कसंगत आधार है।[1]

उन्होंने कहा कि स्वराज राष्ट्र की आत्मा है। स्वराज छिन जाने पर कोई भी राष्ट्र "मूक पशुओं का झुंड रह जाता है, उन्हें जिधर हाँक दो, उधर चल देते है।" लाजपत राय ने बताया कि अंग्रेजों ने शस्त्र बल से भारत पर विजय प्राप्त नहीं की है, बल्कि गूढ़ और निर्लज्ज कूटनीतिक युक्तियों से यहाँ अपने प्रभुत्व का जाल फैलाया

---

1 लाजपत रायः द पॉलिटिकल फ्यूचर ऑफ इंण्डिया न्यूयार्क, बी0 डब्ल्यू0 ह्यूब्स, 1919, पृ 30 ।

है। उन्हें मात देने के लिए भारतीयों को उन्हीं के दाँव-पेंच सीखने होंगे।[1] समकालीन उदारवादी जिस संवैधानिक आन्दोलन के तरीके की बात कर रहे थे, वह इसके लिए उपयुक्त नहीं था। हिंसात्मक आतंकवाद भी भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का विरोधी होने के कारण वरेण्य नहीं था। उनका कहना था कि आज का भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन को चुनौती देने में पूरी तरह से समर्थ और तैयार हो चुका है। राष्ट्रवाद शहीदों के रक्त से फलता-फूलता है। दमन और अत्याचार उसे और भी उत्तेजित कर देते हैं। वास्तविक रूप में अंग्रेज तानाशाहों ने ही भारतीय राजनीति में आतंक और प्रतिहिंसा की गतिविधियों को जन्म दिया है।

दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त क़ी भाँति लाला लाजपत राय ने भी भारत के अनंत आर्थिक शोषण का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया कि अंग्रेजों ने किस तरह भारतीय व्यापारियों, कृषकों और श्रमिकों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ रखा है।[2] सैनिक तथा आर्थिक शोषण की लम्बी प्रक्रिया में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने देश को धीरे-धीरे नष्ट कर दिया है।[3] अंग्रेज शासक सरकारी सेवाओं और सेनाओं पर अंधाधुंध खर्च बढ़ाकर भारत के संसाधनों को बेरहमी से निचोड़ रहे थे।[4]

लाला जी ने तर्क दिया कि ऐसी स्थिति में स्वशासन ही भारत के उद्धार का एकमात्र उपाय है। इसके (स्वशासन के) लिए ब्रिटिश शासन का अंत जरूरी है। इसके स्थान पर भारतीयों को स्वयं अपना संसदीय शासन स्थापित करना चाहिए। स्वराज्य के बाद भारत को अपनी लोकतंत्रीय संस्थाएं स्थापित कर जन साधारण के शैक्षिक, आर्थिक तथा सामाजिक उत्थान पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।[5]

---

1 लाजपत राय: अनहैप्पी इंण्डिया, कलकत्ता, बत्रा पबिलशिंग कं, 1928, पृ0 343, लाला लाजपत राय ने अनहैप्पी इण्डिया' कैथरीन मेयो के 'मदर इण्डिया' के जबाब में लिखा था।

2 लाजपत राय, इग्लैण्ड डेब्ट टू इण्डिया, न्यूयार्क, बी0 डब्ल्यू0, ह्यूब्स, 1917 पृ0 339।

3 लाजपत राय: इग्लैण्ड डेब्ट टू इण्डिया, न्यूयार्क, बी0 डब्ल्यू0, ह्यूब्स, 1917 पृ0 327।

4 लाजपत राय: अनहैप्पी इण्डिया कलकत्ता, बत्रा पब्लिशिंग कं0, 1928 पृ0 327-38।

5 लाजपत राय: द काल टू यंग इण्डिया मद्रास, गणेश एण्ड कं0, 1921 पृ0 337।

देशभक्ति की भावना राष्ट्रवाद की पूरक है। लाला जी के अनुसार, सच्ची देशभक्ति यह माँग करती है कि व्यक्ति समाज के वृहत्तर कल्याण के हित में निजी हित का बलिदान दे। देशभक्ति राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना है। यह 'राज्यभक्ति' से भिन्न है। राष्ट्र का स्थान राज्य से ऊँचा है।[1] देशभक्ति की एक शर्त स्वदेशी है। लाला लाजपत राय के अनुसार 'स्वदेशी' का अर्थ यह नहीं कि हमें पश्चिम से कुछ भी नहीं लेना है। हम अपने देश की प्रगति के लिए पश्चिम से जो कुछ सीख सकते हैं, उसे सीखने में किसी प्रकार का संकोच या लज्जा महसूस नहीं करेंगे।[2] हमें अपनी लड़ाई स्वयं आधुनिक परिस्थितियों में आधुनिक प्रणालियों के साथ लड़नी है। अत: हमें उन अस्त्रों के प्रयोग में दक्षता अर्जित करनी है, जिनसे हमारा दमन किया गया है।[3] उनका कहना था कि "भारत के लोगों को पश्चिम से जीवन की कला सीखनी है, जीवन के आदर्श नहीं।"[4]

सन् 1920 में अमेरिका से लौटने के बाद लाला जी ने समाजवादी विचारों को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। उनके अनुसार समाजवाद सामाजिक, आर्थिक विषमता पर प्रहार करके सामाजिक न्याय का संदेश देता है। पूँजीवाद को दूषित, घृणित, अनैतिक और पतनोन्मुख बताते हुए लाला जी ने तर्क दिया कि पूँजीवादी-साम्राज्यवादी सत्य की अपेक्षा समाजवादी सत्य अधिक वरेण्य, मानवीय और विश्वसनीय है।[5] परन्तु लाजपत राय मार्क्सवादी समाजवाद से जुड़े हुए भौतिकवाद और ऐतिहासिक नियतिवाद को स्वीकार नहीं करते थे।[6] उन्होंने मार्क्स की इस व्याख्या का भी खण्डन किया कि समाजवाद की स्थापना से पूर्व पूँजीवाद का विकास जरूरी है।[7]

---

1 लाजपत राय: नेशनल एजुकेशन इन इण्डिया, लन्दन, जार्ज ऐलेन एण्ड अनविन, 1920, पृ0 147।
2 लाजपत राय: द इवोलूशन ऑफ जापान एण्ड अदर पीपुल्स, कलकत्ता, आर0 चटर्जी, 1919, पृ0 96।
3 द इण्डियन नेशनल बिल्डर्स गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, तृतीय संस्करण, भाग 1, पृ0 341-42
4 द इण्डियन नेशनल बिल्डर्स गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, तृतीय संस्करण, भाग 1, पृ0 341-42।
5 प्रथम अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस के बम्बई अधिवेशन (1920) में अध्यक्षीय भाषण, इण्डियाज बिल टू फ्रीडम, गणेश एण्ड कं., मद्रास,1921 पृ0 177।
6 दी पॉलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, न्यूयार्क, बी0 डब्ल्यम0 ह्यूब्स, 1919, पृ0 200-202।
7 दी पॉलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, न्यूयार्क, बी0 डब्ल्यम0 ह्यूब्स, 1919, पृ0 202।

लाला लाजपत राय एक प्रमुख आर्यसमाजी थे। उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति के उच्च आदर्शो को आत्मसात करने की प्रेरणा दी। वे चाहते थे कि हिन्दू धर्म का भारतीय राष्ट्रवाद के महत्तर धर्म के साथ सामन्जस्य स्थापित किया जाय।[1] इसलिए वे पुरात्तनवाद से मिश्रित गतिशीलता की नीति के समर्थक थे।[2] वे चाहते थे कि धर्म जीवन की समस्त संस्थाओं को अनुप्राणित करे। धर्म को जीवन से निष्कासित करना बहुत ही खतरनाक है।[3]

लाला जी जाति प्रथा का विरोध करते थे। स्त्री-शिक्षा द्वारा स्त्रियों की दशा को सुधारने का उन्होंने प्रयास किया था। लघु और कुटीर उद्योगों की स्थापना का वे समर्थन करते थे, किन्तु आवश्यकतानुसार बड़े उद्योगों की स्थापना भी चाहते थे। किसानों और गैर-किसानों के बीच सद्भावना का विकास करना उनका प्रमुख ध्येय था। शुद्धि आन्दोलन का समर्थन करने के बाद भी वे साम्प्रदायिक सौहार्द्र में विश्वास करते थे। उन्होंने राष्ट्र-भाषा हिन्दी के विकास का काफी प्रयास किया तथा हिन्दी को देशी भाषाओं में प्रथम स्थान देते थे।[4]

आर्यसमाजी होने के कारण लाला लाजपत राय ने राष्ट्रीय जीवन में धर्म की भूमिका और देश के अतीत गौरव के पुनरूत्थान को विशेष महत्व दिया, लेकिन इसके साथ ही साथ उन्होंने आधुनिक चिंतन और आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं से गहरा सरोकार प्रकट करते हुए अतीत और वर्तमान के बीच प्रभावशाली संपर्क सेतु का निर्माण किया।

---

1 लाजपत राय: दी आर्यसमाज, लाँगमैन, ग्रीन एण्ड कम्पनी, लंदन, 1915 पृ0 282-83।

2 लाजपत राय: दी आर्यसमाज, लाँगमैन, ग्रीन एण्ड कम्पनी, लंदन, 1915 पृ0 279।

3 लाजपत राय: इण्डियाज बिल टू फ्रीडम, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1921 पृ0 77।

4 1925 में हिन्दू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन में लालालाज राय की अध्यक्षता में पारित प्रस्ताव में ये सारी बातें उल्लिखित थीं।

।।लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक।।

(1856–1920)

भारतीय राष्ट्रवाद के भगीरथ ऋषि लोकमान्य तिलक ने आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन को एक नया मोड़ देकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को देश के स्वाधीनता संघर्ष के लिए आमूल परिवर्तनवादी कार्यक्रम अपनाने के लिए विवश कर दिया। वे एक महान पत्रकार, शिक्षक, जननायक और स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। एक सजग पत्रकार के रूप में उन्होंने दो सप्ताहिक पत्र निकाला: मराठी भाषा में 'केसरी' तथा अग्रेजी भाषा में 'मराठा'। इन्हीं पत्रों में उन्होंने जो विचारोत्तेजक लेख लिखे वही उनके राजनीतिक विचारों का मूल स्रोत है। 'गीता रहस्य' उनकी धार्मिक कृति है, जिसमें अन्याय के विरूद्ध संघर्ष तथा कर्मयोग का प्रेरणदायक संदेश है।

तिलक ने जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना का संचार करने के लिए गणपति[1] और शिवाजी[2] उत्सवों का आयोजन किया। तिलक के अनुसार राष्ट्रवाद कोई मूर्त्त संकल्पना न होकर एक प्रकार की विचार या भावना है। यह देशवासियों को उन महापुरूषों का स्मरण कराती है, जिन्होंने देश के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अपना नाम अंकित कराया है। शिवाजी ऐसे ही महापुरूष थे। शिवाजी का राजतंत्र 'स्वराज्य' कहलाता था, इसी स्वराज्य को तिलक ने अपना मूल लक्ष्य घोषित किया था तथा नारा दिया कि ''स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै इसे लेकर रहूँगा।[3]

तिलक कांग्रेस के उदारवादी राष्ट्रनेताओं के प्रार्थना-पत्र, स्मृतिपत्र और संवैधानिक आन्दोलन के तरीके को पसंद नहीं करते थे। उनका विचार था कि विदेशी सत्ता भारतीयों की उचित मांगों को जल्दी स्वीकार नहीं करेगी। स्वराज्य के लिए ''शांतिपूर्ण प्रतिरोध'' के तरीके को अपनाना होगा। तिलक स्वराज्य को मनुष्य का धर्म मानते थे।[4]

---

1 सन् 1893 में आरम्भ।

2 सन् 1895 में आरम्भ।

3 सन् 1916 के लखनऊ कांग्रेस में भाषण।

4 तिलक का यवतमाल में दिया गया भाषण, 1916 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ तिलक जी0 ए0 नटेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास, पृ0 256 ।

उन्होंने स्वराज्य का नैतिक तथा अध्यात्मिक अर्थ भी बतलाया। राजनीतिक दृष्टि से स्वराज्य का अर्थ राष्ट्रीय स्वशासन है। नैतिक दृष्टि से इसका अर्थ आत्मनिग्रह की पूर्णता प्राप्त करना है, जो स्वधर्म के पालन के लिए अत्यावश्यक है। इसका अध्यात्मिक अर्थ है: आंतरिक अध्यात्मिक स्वतंत्रता और ध्यानजन्य आनन्द की प्राप्ति। अर्थात् अपने पर केन्द्रित और अपने पर निर्भर जीवन ही स्वराज्य है।[1]

तिलक ने बंगाल विभाजन के विरोध में स्वदेशी आन्दोलन चलाया और स्वराज्य का नारा बुलन्द किया। उन्होंने तर्क दिया कि राजनीतिक अधिकार माँगने से कभी नहीं मिलते, लड़कर प्राप्त किये जाते हैं।[2] उन्होंने कहा कि भारतवासियों को बलिदान के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। कर्तव्य का मार्ग कभी फूलों से भरा नहीं होता, यह काँटों से भरा रास्ता है।

स्वदेशी आन्दोलन की नीति के बारे में उन्होंने बताया कि जब तक हम विदेश में बनी वस्तुओं का बहिष्कार नहीं करते, तब तक स्वदेशी में विश्वास का कोई अर्थ नहीं है। तिलक ने स्वदेशी आन्दोलन को स्वराज्य आन्दोलन में बदलने का प्रयत्न किया। स्वराज्य आन्दोलन के चार तरीके थे–स्वदेशी, वहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध।

तिलक के अनुसार स्वदेशी एवं बहिष्कार आन्दोलन से ब्रिटेन के आर्थिक एवं व्यावसायिक हितों को चोट पहुँचेगी तथा इससे भारतीयों के राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता तथा स्वावलम्बन का आधार दृढ़ होगा। उन्होंने कहा कि यदि हम गोरी जातियों का दास नहीं बनना चाहते तो हमें पूरी निष्ठा के साथ स्वदेशी आन्दोलन चलाना होगा।[3] उन्होंने बताया कि स्वराज का अर्थ है, अधिकारीतंत्र की जगह 'जनता का शासन'। तिलक यह चाहते थे कि साम्राज्य परिषद की सांकेतिक प्रभुसत्ता के अन्तर्गत भारत की अपनी

---

1 बी० जी० तिलक, "कर्मयोग एण्ड स्वराज," स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ तिलक जी० ए० नटेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास, पृ० 276-80।

2 1 जून 1916 को अहमद नगर में भाषण, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ तिलक जी० ए० नटेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास, पृ० 276-80।

3 डॉ० वी० पी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ० 259-261।

प्रतिनिधि सभा पूर्ण स्वराज्य का प्रयोग करे। उन्होंने स्पष्ट किया कि हमारी माँग पूर्ण स्वराज्य की है; आंशिक स्वराज्य कुछ नहीं होता, यह शब्द ही निरर्थक है। 'धर्मराज्य' के अन्तर्गत पूर्ण स्वराज्य ही रह सकता है।[1]

तिलक ने राष्ट्रवाद में मनोवैज्ञानिक तत्व को प्रधानता देते हुए कहा था कि कोई जनसमूह तभी राष्ट्र बन सकता है, जब उसके सदस्यों में परस्पर सम्बद्ध होने की चेतना व्यक्त हो।[2] उन्होंने विल्सन के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की संकल्पना को भारत पर लागू करने का समर्थन किया।[3]

तिलक का तर्क था कि किसी भी सार्थक समाजसुधार को लागू करने से पहले स्वराज्य प्राप्ति जरूरी है। टुकड़े-टुकड़े सुधार से कुछ होने वाला नहीं है स्वराज और स्वधर्म, जिन्हें ध्वस्त कर दिया गया है, उनका जीर्णोद्धार आवश्यक है।[4] तिलक का विचार था कि सच्चा समाज-सुधार समाज के भीतर से जन्म लेता है। लम्बे चौड़े कानून बनाकर समाज पर बाहर से थोपने से कोई लाभ नहीं होगा, स्वयं समाज के भीतर सुधार की प्रेरणा जगाना जरूरी है। प्रगतिशील शिक्षा और ज्ञान के प्रसार से स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन का वातावरण तैयार किया जा सकता है। हिन्दू समाज में वैदिक धर्म की विवेक सम्मत परम्परा को पुनरूज्जीवित करके अंधविश्वासों और कुरीतियों पर प्रबल प्रहार किया जा सकता है। तिलक ने समाज-सुधारकों से कहा कि वर्तमान युग में हमारा पतन हिन्दू धर्म के कारण नहीं हुआ, बल्कि इस धर्म के त्याग के कारण हुआ है। उन्होंने कहा कि इन समाज सुधारकों को जन-समर्थन भी प्राप्त नहीं है, वे राज्य को बल प्रयोग मूलक शाक्ति के सहारे और प्रशासन की आज्ञप्तियों के द्वारा भारतीय समाज को पश्चिमी साँचे में ढालने को तत्पर थे।[5]

---

1 तिलक के केसरी में लिखे गये लेख (3 जिल्दों में) जिल्द 3, पृ0 248-49। वी0 डी0 सावरकर ने 'मराठा' में 6 अगस्त, 1937 को यह बताया था कि तिलक ने पूर्ण स्वराज्य का सन्देश दिया था।

2 एन0 सी0 केलकर, लाइफ एण्ड् टाइम्स आंफ तिलक, मद्रास, गणेश एण्ड कं0 पृ0 486-487।

3 तिलक का विल्सन और क्लीमैशो को 1919 में लिखा गया पत्र। बाद में पत्र 'मराठा' में प्रकाशित हुआ था।

4 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ तिलक जी0 ए0 नटेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास, पृ0 255-56।

5 तिलक का 13 दिसम्बर, 1919 को 'मराठा' में लिखा गया पत्र।

तिलक ने भारत में समाज सुधार लागू करने के लिए ब्रिटिश सरकार की मदद लेने का विरोध किया। उन्होंने स्वयं समाज सुधार आन्दोलन का नेतृत्व किया। इसके लिए उन्होंने भारतीयों के विदेश यात्रा का समर्थन किया, ताकि उनके ज्ञान और विचार-शक्ति का विकास हो सके। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह की सराहना की, ताकि स्त्रियों के प्रति अन्याय को रोका जा सके। इसी तरह उन्होंने स्त्री शिक्षा की पैरवी की, अस्पृश्यता का विरोध किया, जाति-पाँति पर आधारित भेद-भाव की निन्दा की और राष्ट्रीय शिक्षा की वकालत की, ताकि जनसाधारण को कम खर्चीली और स्वस्थ शिक्षा प्रदान की जा सके, जो उनमें आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन की भावना भर सके। उनके अनुसार, राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का निर्माण प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्वस्थ और जीवंत परम्परा के आधार पर होना चाहिए, सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर नया ढांचा खड़ा करना चाहेगा।[1]

तिलक ने भारत के स्वराज्य के लिए हिन्दू और मुसलमानों की एकता को आवश्यक माना। उन्होंने कहा था कि हिन्दुओं का बुद्धिबल और मुसलमानों का शौर्य जब एक साथ मिल जाएंगें, तब वे ब्रिटिश अधिकारी तंत्र को तहस-नहस कर देंगे। उन्होंने खिाफलत आन्दोलन को समर्थन देने की बात की थी। शौकत अली और हसरत मुहानी तिलक को अपना राजनीतिक गुरू मानते थे।[2]

तिलक उग्रवादी नेताओं में सर्वप्रथम माने जाते हैं, किन्तु उन्होंने स्वराज प्राप्ति के लिए हिंसा की वकालत कभी नहीं की। उन्होंने क्रांतिकारियों की सराहना की तो इसलिए कि उनमें देशभक्ति की प्रचण्ड भावना विद्यमान थी। वस्तुतः तिलक ब्रिटिश आर्थिक हितों को क्षति पहुँचाकर और ब्रिटिश शासन तंत्र के रास्ते में रोड़े अटकाकर अंग्रेजों को भारत से प्रस्थान करने के लिए विवश करना चाहते थे। उन्होंने राजनीतिक हत्याओं और आतंकवादी गतिविधियों का कभी समर्थन नहीं किया। उनके विचार से ये तरीके नैतिक दृष्टि से तो अनुचित थे ही, तात्कालिक परिस्थितियों में ये राजनीतिक

---

1 डॉ0 वी0 पी0 वर्मा: आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ0 240-50।

2 एस0 पी0 बापत: रीमिनिसेन्स ऑफ तिलक, जिल्द 2, पृ0 576 एवं जिल्द 3, पृ0 36-37।

इष्टसिद्धि की दृष्टि से भी अनुपयुक्त थे। उन्होंने हिंसात्मक कार्यवाहियों की अनुमति नहीं दी किन्तु वे उनकी खुली निन्दा करने की सीमा तक जाने को भी तैयार न थे। उन्होंने 'चाफेकर' के साहस और चतुराई तथा बंगाली कान्तिकारियों की प्रचण्ड देशभक्ति की प्रशंसा भी की थी। उन्होंने निरपेक्ष अहिंसा का कभी समर्थन नहीं किया।[1]

उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्त पर अलग से कोई मत नहीं दिया, किन्तु उन्होंने समय-समय पर इस क्षेत्र में अपने कुछ विचार अवश्य रखे थे। उन्होंने वंशानुगत राजा के स्थान पर निर्वाचित राष्ट्राध्यक्ष का समर्थन किया। उन्हें लोकतंत्र में पूर्ण विश्वास था। वे संघीय व्यवस्था के समर्थक थे तथा संसदात्मक शासन प्रणाली की स्थापना का समर्थन करते थे। उनका मानना था कि किसी भी कानून को संवैधानिक होने के लिए यह आवश्यक है कि वह (कानून) न्याय, नैतिकता तथा लोकमत के अनुकूल हो। इस तरह उन्होंने वैध तथा सांविधानिक कानून में अंतर किया।

तिलक ने पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा के स्थान पर भारतीय शासनतंत्र की प्राचीनता पर विश्वास व्यक्त किया तथा वे भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को प्राचीन भारतीय परम्परा के आधार पर स्थापित करना चाहते थे।

विपिन चन्द्र पाल

(1858-1932)

'लाल, बाल, पाल' की तिकड़ी के तीसरे स्तम्भ श्री विपिनचन्द्र पाल ने राष्ट्रवाद, स्वराज और स्वदेशी की संकल्पनाओं को धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक संदर्भ में विकसित कर भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

---

1 तिलक: 'गीता-रहस्य' पूना, 1950 (हिन्दी संस्करण) पृ0 375, 377, 392-394।

पाल ने व्यक्ति और राष्ट्र के परस्पर सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए बताया कि राष्ट्र के अंतर्गत मनुष्य एक-दूसरे से ऐसे जुड़े हैं, जैसे वे एक ही शरीर के भिन्न-भिन्न अंग हों। राष्ट्र व्यक्ति की आत्मा का विराट रूप है। जैसे अंगों की सार्थकता अपने पृथक्-पृथक् अस्तित्व में न होकर सम्पूर्ण प्राणी के स्वास्थ्य और पुष्टि में निहित है, वैसे ही व्यक्ति की सार्थकता राष्ट्र के सामूहिक जीवन को सवाँरने में है।[1] इस प्रकार उन्होंने राष्ट्र के आँगिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और बताया कि राष्ट्र की रक्षा और कल्याण के लिए व्यक्ति को अपना बलिदान करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। उन्होंने कहा कि वर्तमान युग में राष्ट्रवाद की माँग यह है कि व्यक्ति राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए अर्थात भारतमाता की मुक्ति के लिए सर्वस्व समर्पित कर दें।

पाल ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि देश में एक प्रकार की आध्यात्मिक जागृति हो रही है, उसको कोरा आर्थिक अथवा राजनीतिक आन्दोलन माननाउसे पूर्णतः गलत समझना है। उन्होंने कहा कि आध्यात्मिकता को सब चीजों का मापदण्ड मानने से राजनीति राष्ट्रवाद के वृहत्तर धर्म का अंग बन जाती है।[2] पाल भारत के नये राष्ट्रवाद की धार्मिक प्रकृति पर बल देकर जनता को दो तात्विक सिद्धान्त समझाना चाहते थे-प्रथम, सब चीजों का मूल्यांकन स्वयं जीवन को ध्यान में रखकर करना।[3] द्वितीय, अपने में नैतिक गुणों का विकास करना अर्थात न्याय तथा उदारता के लिए अंग्रेजों से प्रार्थना करने की अपेक्षा अपने को बलिष्ठ बनाकर अपने मन और आत्मा को ज्ञान से प्रदीप्त करना।[4]

पाल ने 'यौगिक राष्ट्रवाद'[5] की धारणा को व्यक्त करते हुए बताया कि भारत एक संघात्मक राष्ट्र होगा।[6] उन्होंने साम्राज्यीय संघ का आदर्श प्रस्तुत करते हुए बताया कि यह एक सामाजिक संघ होगा, जिसमें भारत भी उतना ही स्वाधीन होगा, जितना

---

1 6 जुलाई, सन् 1906 को 'वन्देमातरम्' लेख में प्रकाशित विपिनचन्द्र पाल का ब्याख्यान।

2 बी0 सी0 पाल: दी स्पिरिट ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, लन्दन, दि हिन्दू नेशनलिस्ट एजेन्सी, 140, सिनक्लेयर रोड वेस्ट केनासिंगटन, पृ0- 47।

3 बी0 सी0 पाल: एन इनट्रोडक्सन टू द स्टडी ऑफ हिन्दुइज्म, कलकत्ता, कार्नवालिस स्ट्रीट, 1908, पृ0-65-80।

4 वी0 सी0 पाल: दी स्पिरिट ऑफ इण्डियन नेशानालिज्म, । लन्दन, दि हिन्दू नेशानालिस्ट एजेन्सी, 140, सिनक्लेयर रोड वेस्ट केनासिंगटन, पृ0 33।

5 बी0 सी0 पाल: रेसपान्सिबुल गवर्नमेन्ट, कलकत्ता, बनर्जी, दास एण्ड कम्पनी, 1917, पृ0 12-13।

6 लाइफ एण्ड यूटेरेन्सेज ऑफ विपिनचन्द्र पाल, मद्रास, गणेश एण्ड कम्पनी, पृ0 151।

ब्रिटेन या कनाड़ा।[1] संघ से पाल का गहरा अनुराग था।[2] उन्होंने कहा कि विश्व के राजनीतिक विकास में भारत का यह निर्धारित कार्य है कि वह मानव जाति के सार्वभौमिक संघ की स्थापना में नेतृत्व करे।[3]

पाल ने 'दैवी लोकतंत्र' के आदर्श का प्रतिपादन किया। उन्होंने इस आदर्श का प्रवर्त्तक चैतन्य को बताया था।[4] इस आदर्श की पूर्ति के लिए उन्होंने 'संयुक्त राज्य भारत' की स्थापना को आवश्यक बताया था, जहाँ भारतीयों का स्वराज्य होगा। उन्होंने कहा कि मनुष्य देवता है और भारतीय लोकतंत्र की समानता प्रत्येक व्यक्ति में निहित दैवी प्रकृति, दैवी संभावनाओं और दैवी होतव्यता की समानता है, वह व्यक्ति हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध या ईसाई कुछ भी होसकता है।[5] दैवी लोकतंत्र का यह आदर्श 'एक व्यक्ति एक मत' के यांत्रिक तत्व को आध्यात्मिकता प्रदान करता है।

भारत की स्वाधीनता के लिए पाल ने आध्यात्मिक रूपक का प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि 'आत्मा' का ध्येय 'ब्रह्म' का साक्षात्कार करना है, किन्तु इन दोनों के बीच 'माया' बाधा उपस्थित करती है। इस रूपक में व्यक्ति 'आत्मा' है; राष्ट्र या भारतमाता 'ब्रह्म' तथा ब्रिटिश उपनिवेशवाद 'माया' है। उन्होंने बताया कि 'माया' आकर्षक परन्तु छलावा है। उस पर विजय प्राप्त करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता है, जहाँ 'शक्ति' के स्थान पर 'राजनीति' का सहारा लेना होगा। उन्होंने राजनीति की तुलना 'शतरंज' से की, जो सूझ-बूझ और दांव-पेंच का खेल है।[6] उन्होंने कहा कि ब्रिटिश चुनौतियों का सामना करने के लिए आत्मबल बढ़ाने की आवश्यकता है। आत्मबल बढ़ाने का उपाय है 'स्वराज' जो सच्ची स्वतंत्रता का साधन है। मनुष्य की आत्मा स्वभावतः स्वतंत्र है। मनुष्य को अपनी आत्मा से सीधा संवाद स्थापित करने के

---

1 बी0 सी0 पाल: रेसपोन्सिबुल गवर्नमेन्ट, कलकत्ता, बनर्जी, दास एण्ड कम्पनी, 1917, पृ026।

2 बी0 सी0 पाल: ने, स्वराज के पृ0 9 पर लिखा कि संघवाद का आदर्श प्राचीन भारतीय साम्राज्यतंत्र का प्रमुख तत्व था।

3 बी0 सी0 पाल: नेशनलिटी एण्ड एम्पायर, कलकत्ता, थैकर स्पिंक एण्ड कं0, 1916, पृ0 115।

4 बी0 सी0 पाल: मेमोरीज ऑफ माई लाइफ एण्ड टाइम्स, (1858-1885) कलकत्ता, माडर्न बुक एजेन्सी, 1932, जिल्द। पृ0 355-357।

5 लाइफ एण्ड युटेरेन्स ऑफ विपिनचन्द्र पाल मद्रास गणेश एण्ड कम्पनी, पृ0 . 95-96।

6 बी0 सी0 पाल: स्वदेशी एण्ड स्वराज, बम्बई, वाधवानी एण्ड कम्पनी, 1922, पृ0 208।

लिए 'माता' का ध्यान करना चाहिए, जो शक्ति का साक्षात् रूप है। माता की आराधना स्वराज का मूलमंत्र है। सांसारिक जीवन में 'राष्ट्र' ही माता के तुल्य है, जो 'भारतमाता' के रूप में सार्थक होता है। उन्होंने सुझाव दिया कि भारत के राष्ट्रवादियों को स्वराज की साधना के लिए ब्रिटिश शासन रूपी माया की अवहेलना करते हुए भारत माता से सीधा संवाद स्थापित करना चाहिए। इसका एकमात्र सुलभ साधन 'स्वदेशी' है। स्वदेशी आन्दोलन के तीन पक्ष है-1-बहिष्कार उसका आर्थिक पत्र है, 2-राष्ट्रीय शिक्षा, उसका शैक्षिक पक्ष है तथा 3- निष्क्रिय प्रतिरोध उसका राजनीतिक पक्ष है। उन्होंने बताया कि स्वदेशी आन्दोलन न केवल ब्रिटिश शासन का अंत कर देगा, बल्कि देश को भी धन-धान्य, देशभक्ति और प्रगति से मालामाल कर देगा।

पाल के राष्ट्रवाद की संकल्पना का तात्कालिक लक्ष्य भारत को ब्रिटिश उपनिवेशवाद से मुक्ति दिलाना था, परंतु उसका व्यापक लक्ष्य विश्वबंधुत्व की कल्पना को साकार करना था। उन्होंने कहा कि जैसे व्यक्ति राष्ट्ररूपी देह का अंग है, वैसे ही राष्ट्र भी सम्पूर्ण मानवजाति रूपी देह का एक अंग है। अतः राष्ट्र को अपने जीवन और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण विश्व के साथ नैतिक बंधन में बँधना होगा।

पाल ने यूरोप और अमेरिका में प्रचलित प्रतियोगिता- मूलक पूँजीवाद की भावना का खण्ड़न किया।[1] उन्होंने कहा कि 'क्षुधा प्रेरित समाजवाद इस पूँजीवादी अर्थतंत्र का अपरिहार्य परिणाम है।[2] उन्होंने 'साम्राज्यीय अधिमान्यता[3] के सिद्धान्त का खण्ड़न किया। उन्होंने कहा कि भारतीय परम्परा भौतिक आवश्यकताओं को सीमित करने तथा 'संयम' का मार्ग दिखाती है, जो मानव सम्बन्धों में बंधुत्व की भावना को बढ़ावा देती है।

पाल ने भारतीय परम्परा की गरिमा को स्पष्टकर भारत के लोगों में आत्मसम्मान, आत्मबल, और आत्मविश्वास की भावना बढ़ाने का प्रयत्न किया जिससे वे स्वाधीनता के संघर्ष में पूरी तन्मयता से जुट जाँय। उन्होंने असहयोग आन्दोलन का

---

1 बी0 सी0 पाल: नेशनलिटी एण्ड द एम्पायर, पृ0 252।
2 बी0 सी0 पाल: नेशनलिटी एण्ड द एम्पायर, पृ0 252।
3 बी0 सी0 पाल: नेशनलिटी एण्ड द एम्पायर, पृ0 360-61।

विरोध कर संवादी सहयोग की नीति का समर्थन किया। वे अहिंसात्मक क्रान्ति के विरूद्ध थे, क्योंकि वह समाज का निकट अतीत और वर्तमान के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर देती है।[1] पाल देशभक्ति को पवित्र वस्तु मानते थे, परन्तु पर्याप्त नही। क्योंकि वह मानवता में ही पूर्णत्व को प्राप्त कर सकती है[2] और मानवता मनुष्य में निहित ईश्वर की शाश्वत अभिव्यक्ति है। पाल ने राष्ट्रवाद तथा तात्विक सार्वभौमवाद के समन्वय की कल्पना की थी, उनका कथन है कि राष्ट्र और मानवता दोनों ही ईश्वरीय है।

।। श्री अरबिन्द घोष।।

(1872-1950)

राष्ट्रवाद के महान उन्नायक श्री अरविन्द ने भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता पर बल दिया था। के कवि, तत्वशास्त्री, भविष्यद्रष्टा, साहित्यद्रष्टा, मनीषी देशभक्त, मानवता के प्रेमी तथा राजनीतिक दार्शनिक थे। उन्होंने इतिहास में अध्यात्मिक नियतिवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनके अनुसार इतिहास ब्रह्म की क्रमिक पुनराभिव्यक्ति है। उन्होंने घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रवाद के मूल में ईश्वर है और वही आन्दोलन का वास्तविक नेता है।[3]

श्री अरविन्द की दृष्टि में राष्ट्रवाद केवल एक आन्दोलन तक सीमित नही है वह आस्था का विषय है, वह मनुष्य का धर्म है।[4] राष्ट्रवाद राष्ट्र में निहित दैवी एकता का साक्षात्कार करने की उत्कट अभिलाषा है। इस एकता के अन्तर्गत राष्ट्र के सभी अवयवभूत व्यक्ति तात्विक रूप से समान हैं। इसीलिए जातिप्रथा का विरोध किया जाता है क्योंकि वह समानता के सिद्धान्त का निषेध करती है। उन्होंने आग्रह किया कि न केवल राजनीतिक क्षेत्र में बल्कि सामाजिक क्षेत्र में भी राष्ट्र का लोकतांत्रिक एकता के आधार पर पुनर्संगठन किया जाय।[5]

---

1 बी० सी० पाल, स्वराज, बम्बई, वाधवानी एण्ड कम्पनी, 1922, पृ० 16।

2 लाइफ एण्ड यूटरेन्सेज ऑफ विपिनचन्द्र पाल मद्रास, गणेश एण्ड कम्पनी, पृ० 111।

3 श्री अरबिन्द: दी आइडियल ऑफ दी कर्मयोगिन, श्री अरबिन्द आश्रम, पॉण्डिचेरी 1950,पृ० 17-18।

4 रोनाल्डशी, दी हर्ट ऑफ आर्यावर्त्त, लन्दन, कान्सटेबल एण्ड कं० लि० 1925, पृ० 128।

5 'बन्देमातरम्' सितम्बर 22, 1967।

श्री अरविन्द ने राष्ट्रवाद के बारे में पश्चिमी और भारतीय विचारों को सम्बन्धित करने का प्रयास किया। वे आयरलैण्ड के सिन-फिन आन्दोलनके समर्थक थे। उनका कहना था था कि यूरोप में राष्ट्रवाद का रूप कोरा राजनैकि और आर्थिक था, किन्तु आयरलैण्ड और बंगाल में उसने मनोगत एवं धारण कर लिया है।

श्री अरविन्द के राष्ट्रवाद का रूप अध्यात्मिक था। रैम्जे मैक्डोनाल्ड ने लिखा है कि ''अरविन्द घोष ने अपने हिन्दुत्व और उग्र राष्ट्रवाद के बीच सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि मनुष्य को ईश्वर के विधान को पूर्ण करना है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब वह पहले अपने को पूर्ण कर ले और अपने को राष्ट्र के द्वारा ही पूर्ण किया जा सकता है। उनका स्वदेशी में विश्वास और भारत में ब्रिटेन के अधिपत्य को समाप्त करने की उनकी इच्छा का आधार यही धार्मिक धारणा है।[1]

श्री अरविन्द का राष्ट्रवाद संकीर्ण तथा कट्टर नहीं था। वे कहते थे कि राष्ट्रवाद मानव के सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक है। उन्होंने विश्वसंघ में मानवता के विकास की कल्पना की थी। उनका मानना था कि संघ व्यवस्था ही सर्वाधिक वांछनीय होगा, क्योंकि इसमें प्रभाव के मामले में भले ही भिन्नता हो, किन्तु प्रस्थिति सबकी समान होती है।[2]

श्री अरविन्द आधुनिक पूंजीवाद के विरोधी थे, क्योंकि इसमें केन्द्रीकरण, संचय तथा उद्योग मण्डलों की वृद्धि होती है। उन्होंने समाजवाद का भी विरोध किया क्योंकि उससे निरंकुश-सर्वशाक्तिमान राज्य का विकास होता है। फिर भी उन्होंने समाजवाद के आदर्श को आधारभूत सिद्धान्त के रूप में मान्यता दी। उन्होंने 'इन्दु प्रकाश' में कहा था कि ''मानवता का विकास लोक़तंत्र तथा समाजवाद की ओर ले जा रहा है।''[3]

---

1 जे0 रेम्जे मैम्क्डोनाल्ड: दी अवेंकिंग ऑफ इण्डिया, लन्दन, हाडर एण्ड स्टाउल, पृ0 182।

2 श्री अरबिन्द:, दी आइडियल आंफ ह्यूमन यूनिटी, श्री अरबिन्द आश्रम, पाण्डिचेरी 1950,पृ399-400।

3 वी0 पी0 वर्मा, दी पोलीटिकल फिलॉस्फी ऑफ अरबिन्दो, कलकत्ता, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1960, के अनेक पृष्ठों से।

श्री अरविन्द के स्वतंन्त्रता का रूप भी आध्यात्मिक था। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया था कि भारत ने पश्चिम से सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का आदर्श सीखा है।[1] तथापि अरविन्द तथा टैगोर दोनों का ही विश्वास था कि यदि मनुष्य आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है, तो उसे सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता स्वतः उपलब्ध हो जाती है।[2] श्री अरविन्द के अनुसार अपने जीवन के नियमों का पालन करना ही स्वतन्त्रता है।चूँकि मनुष्य का वास्तविक आत्म उसका वाह्य व्यक्तित्व न होकर स्वयं परमात्मा हैं, इसलिए ईश्वरीय नियमों का पालन तथा अपने जीवन के नियमों का पालन दोनो एक ही बात है।

श्री अरविन्द का नाम उग्रवादी राजनीतिक नेताओं में सर्वप्रथम आता है वे 1892 में ''लोटस एण्ड डैगर'' (कमल और कटार) नामक एक गुप्त संगठन के सदस्य बन गये थे, जिसके सदस्यों को भारत की मुक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। 1893 में उन्होंने 'इन्दु प्रकाश' में 'न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड' (पुरानों के बदले नये दीपक) शीर्षक से एक लेखमाला प्रकाशित कर उदारवादियों की कार्यप्रणाली की आलोचना की थी। उस समय के कांग्रेस को उन्होंने ''भारतीय अराष्ट्रीय कांग्रेस'' कहा था।[3] श्री अरविन्द ने महाभारत के उद्योगपर्व के विदुला प्रकरण का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। विदुला तेजस्विनी वीरमाता है। वह विराट शक्ति का पुंज. है। श्री अरविन्द ने अपने आपको राष्ट्रवादी बतलाना पसन्द किया। उन्होंने राजनीतिक कार्यवाही के रूप में शांतिपूर्ण प्रतिरोध का समर्थन किया। उनके अनुसार शांतिपूर्ण प्रतिरोध का अर्थ था कि जो कार्य भारत में ब्रिटिश वाणिज्य व्यापार या ब्रिटिश प्रशासन में सहायक हों उन्हीं से इन्कार। यह कार्यवाहीं 'स्वदेशी आन्दोलन ' के साथ निकट से जुड़ी थी। 'स्वदेशी,' 'बहिष्कार' के साथ बाद में उन्होंने क्रान्तिकारी तरीके का भी समर्थन किया। उन्होनें 'स्वराज की प्राप्ति के लिए हिंसा और अहिंसा, क्रान्तिकारी और संवैधानिक दोनों तरह के तरीके अपनाने का समर्थन किया।[4]

---

1 श्री अरबिन्दः स्पीचेज (श्री अरबिन्द आश्रम, पांडिचेरी, 1950) पृ0 115-17।

2 रवीन्द्रनाथ टैगोरः दी रिलिसेज ऑफ मैन, (जार्ज एलन एण्ड अनबिन, 1931) पृ0 188।

3 अरबिन्दः बंकिम चन्द्र चटर्जीः श्री अरबिन्द आश्रम पांडिचेरी, 1950, पृ0 46।

4 बन्देमातरम्, अप्रैल 19, 1908।

श्री अरविन्द लोकमान्य तिलक के सहयोगी थे उनके महत्वपूर्ण ग्रंथ थे- 'द लाइफ डिवाइन' ऐजस आन दी गीता' 'सावित्री आदि। उन्होंने भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य सामने रखा। उन्होंने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्र की स्वतन्त्रता का आह्वान किया और समस्त राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए सबके प्रति बराबर सम्मान का परिचय दिया। संक्षेप में उन्होंने सम्पूर्ण मानवता के उद्वार का पथ प्रशस्त किया।

भाग-3

समाजवादी विचारधारा

वैसे तो उन्नीसवीं शताब्दी में दादाभाई नौरोजी के विचारों में भारत की समाजवादी विचारधारा का चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु इसे सैद्धान्तिक एवं कमबद्ध विचारधारा के रूप में विकसित करने का श्रेय आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण तथा राम मनोहर लोहिया को जाता है। इनके अतिरिक्त सुभाषचन्द्र बोस एवं जवाहरलाल नेहरू के चिन्तन में भी समाजवादी विचारधारा का पुट पाया जाता है। यहाँ हम नेता जी सुभाषचन्द्र बोष, जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण तथा राम मनोहर लोहिया के विचारों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

।। सुभाषचन्द्र बोष ।।

(1897–1945)

'नेताजी' सुभाषचन्द्र बोष स्वराज्य के लिए संघर्ष करने वाले दुर्धर्ष योद्धा थे। यद्यपि शास्त्रीय अर्थ में वे एक राजनीतिक विचारक नहीं थे, किन्तु उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि तथा विकास के संदर्भ में जो चिन्तन-मनन किया, वे उनके राजनीतिक विचारों के प्रतीक हैं। उन्होंने गांधीवादी दक्षिणपंथी पक्ष के विरूद्ध सदैव

वामपंथी पक्ष का साथ दिया। उनके राज़नीतिक विचार मुख्य रूप से उनकी पुस्तक 'द इण्डियन स्ट्रगल,' 'ऐन इण्डियन पिलग्रिम्स,' 'तरूण के स्वप्न' तथा उनकी 'आत्मकथा' में मिलते है।

बोष प्रारम्भ में वेदान्त के समर्थक थे, किन्तु धीरे-धीरे वे सामाजिक तथा राजनीतिक यथार्थवादी बन गये। उन्होंने भारतीय इतिहास की व्याख्या करते हुए बताया कि "अंत में वह क्या चीज है जिसके कारण भारत का भौतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में पतन हुआ है? उसका भाग्य तथा अतिप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास, आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के सम्बन्ध में उसकी उदासीनता, आधुनिक युद्ध- विज्ञान में उसका पिछड़ापन, उसके परवर्ती दर्शन से उत्पन्न शान्तिमय सन्तोष की भावना तथा अहिंसा का पालन, जो हास्यास्पद सीमा तक पहुँच गया है-ये सब भारत के पराभव के कारण है।"[1]

एक समाजवादी की भाँति उन्होंने कहा कि राजनैतिक तथा नैतिक प्रश्नों को मिश्रित नहीं करना चाहिए। वे राजनीतिक सौदागरी में विश्वास करते थे। उन्होंने कहा कि "राजनीतिक सौदागरों का रहस्य यह है कि आप जितने शक्तिशाली हैं उससे अधिक शक्तिशाली जान पड़ें।"[2]

उन्होंने द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में गांधी जी के नरम रवैये की आलोचना करते हुए कहा कि इसके विपरीत यदि महात्मा जी अधिनायक स्टालिन, ड्यूस मुसोलिनी अथवा फयूरर हिटलर की भाषा में बोलते तो जानबुल उनकी बात को समझता और श्रद्धा से अपना सिर झुका लेता।[3]

बोष ने परम्परागत मार्क्सवाद को कभी अंगीकार नहीं किया, किन्तु उन्होंने समाजवादी विचारधारा का समर्थन किया। उन्होंने कहा था कि "मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि हमारी दरिद्रता, निरक्षरता और बीमारी के उन्मूलन तथा वैज्ञानिक

---

[1] सुभाषचन्द्र बोष: दी इण्डियन स्ट्रगल, कलकत्ता, चक्रवर्ती, चटर्जी एण्ड कं0 1952, पृ0 192।

[2] सुभाषचन्द्र बोष: दी इण्डियन स्ट्रगल, कलकत्ता, चक्रवर्ती, चटर्जी एण्ड कं0 1952, पृ0 320।

[3] सुभाषचन्द्र बोष: दी इण्डियन स्ट्रगल, कलकत्ता, चक्रवर्ती, चटर्जी एण्ड कं0 1952, पृ0 320।

उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित समस्याओं का प्रभावकारी समाधान समाजवादी मार्ग पर चलकर ही प्राप्त किया जा सकता है।[1]

बोष ने जमींदारी उन्मूलन तथा किसानों की ऋणग्रस्तता को समाप्त करने एवं देहातों में सस्ते ऋण की व्यवस्था करने का समर्थन किया। उन्हें सहकारी आन्दोलन में विश्वास था। वे कृषि में वैज्ञानिक प्रणालियों के प्रयोग के पक्ष में थे। कृषि के विकास एवं औद्योगीकरण के लिए वे राज्य को उत्तरदायी मानते थे। उन्होंने कहा था कि "राज्य को योजना आयोग की सलाह से खेती तथा उद्योग की व्यवस्था के उत्पादन तथा वितरण दोनों ही क्षेत्रों में धीरे-धीरे समाजीकरण करने की व्यापक योजना अपनानी पड़ेगी।[2]

हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में बोष ने कहा था कि "समाजवाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए तात्कालिक समस्या नहीं है, फिर भी समाजवादी प्रचार आवश्यक है, जिससे स्वतंत्रता मिलने पर देश समाजवाद के लिए तैयार हो सके।6 उन्होंने मजदूरों के हितों का समर्थन किया।[3]

बोष की मान्यता थी कि साम्यवाद भारत के लिए उपयोगी नहीं था, क्योंकि साम्यवाद का आर्थिक सिद्धान्त,[4] धर्मविरोधी विचारधारा, मुद्रा सम्बन्धी सिद्धान्त,[5] वर्ग संघर्ष सिद्धान्त,[6] एवं मजदूर वर्ग की समस्याओं का सिद्धान्त[7] भारत के लिए महत्वपूर्ण नहीं है।

बोष इंग्लैण्ड की लोकतांत्रिक प्रणाली में विश्वास नहीं करते थे और न ही उन्हें फ्रांस के पूंजीवादी गणतंत्र में विश्वास था। वे फासीवाद तथा साम्यवाद के समन्वय से उपजी विचारधारा का समर्थन करते थे।[8] बोष उग्रराष्ट्रवादी थे और देश की स्वाधीनता

---

1 द इण्डियन एनुअल रजिस्टर, 1938, जि01, पृ0 340।
2 द इण्डियन एनुअल रजिस्टर, 1938, जि01, पृ0 341।
3 द इण्डियन एनुअल रजिस्टर, 1938, जि01, पृ0 341।
4 नेताजी, कांग्रेस अनमास्क्ड, अध्यक्ष, पृ0 119-38।
5 दी इण्डियन स्ट्रगल, पृ0 120 ।
6 दी इण्डियन स्ट्रगल, पृ0 72 ।
7 दी इण्डियन स्ट्रगल, पृ0 120 ।
8 दी इण्डियन स्ट्रगल, पृ0 430 एवं पृ0 11–20 ।

हेतु हिंसात्मक तरीकों का प्रयोग करने में विश्वास करते थे तथा वे चाहते थे कि स्वतंत्रता मिलने के बाद 20 वर्ष तक भारत का शासन कमालपाशा जैसे अधिनायक के हाथ में रहना चाहिए।[1]

अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को मूर्त्तरूप देने के लिए उन्होंने मई 1939 में 'फारवर्ड ब्लाक' नामक राजनीतिक दल की स्थापना की तथा जून 1940 में उन्होंने वामपंथी एकता समिति की स्थापना की। लेकिन परिस्थितियों से विवश होकर तथा देश की स्वतंत्रता की लड़ाई को अंतिम रूप देने के लिए उन्होंने दिसम्बर 1940 में गुप्त रूप से देश छोड़ दिया। 21 अक्टूबर, 1943 को बोष ने सिंगापुर में स्वतंत्र भारत की अस्थाई सरकार की स्थापना की। 'दिल्ली चलो' के नारे के साथ उन्होंने 'आजाद हिन्द फौज' के माध्यम से ब्रिटिश भारत पर आक्रमण कर दिया। इसी समय उन्होंने अपना प्रसिद्ध नारा दिया-"तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा।"

नेता जी सुभाषचन्द्र बोष यद्यपि मौलिक राजनीतिक विचारक नहीं थे, किन्तु भारतीय राजनीतिक चिन्तन में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता, समाजवाद तथा साम्यवाद और फासीवाद के समन्वय के विचारों को लोकप्रिय बनाया। बोष हिन्दी भाषा के प्रेमी थे तथा चाहते थे कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में 'हिन्दी को अपनाया जाय। 'उन्होंने तरूण के स्वप्न' नाम से एक हिन्दी पुस्तक की रचना भी की थी।

।। जवाहर लाल नेहरू।।
(1889–1964)

पं0 जवाहर लाल नेहरू आधुनिक भारत के एक सुलझे हुए राजमर्मज्ञ थे। उन्होंने एक इतिहासकार तथा राजनीतिक समीक्षक के रूप में अनेक पुस्तकों की रचना की, जिनमें मुख्य हैं-'भारत की खोज', 'विश्व इतिहास की झलक' तथा 'आत्मकथा' आदि।

---

1 हिन्दुस्तान टाइम्स' मार्च 8, 1946

नेहरू ने अपनी पुस्तक ' विश्व इतिहास की झलक' में इतिहासवादी समाजशास्त्र तथा इतिहास दर्शन के क्षेत्र में मौलिक योगदान दिया है। उनके अनुसार इतिहास का निर्माण किसी विशेष जलवायु या वातावरण के प्रभाव से नहीं होता, बल्कि उन सामाजिक और आर्थिक शक्तियों की प्रेरणा से होता है, जो ऐतिहासिक परिवर्तन के साथ-साथ बनती या मिटती चलती हैं। इस संदर्भ में उन्होंने नेपोलियन का उदाहरण दिया था।[1] नेहरू ऐतिहासिक विकास में वस्तुगत शक्तियों को प्राथमिकता देते थे, लेकिन वे यह भी मानते थे कि इतिहास में महापुरूषों की भी महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती है। उन्होंने बताया कि लेनिन ही रूसी क्रान्ति तथा क्राति के बाद के रूपान्तरण के लिए उत्तरदायी था।[2]

नेहरू मार्क्सवादी इतिहास -दर्शन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विशेष रूप से प्रभावित थे, जिसमें धार्मिक मान्यताओं तथा अंधविश्वासों को कोई स्थान नहीं दिया गया है। मार्क्सवाद के ऐतिहासिक भौतिकवाद, जिसमें इतिहास को परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष का परिणाम माना गया है, ने नेहरू को विशेष रूप से प्रभावित किया। फिर भी वे इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को अपूर्ण मानते थे। उनका मानना था कि बीते हुए युगों के बारे में तो मार्क्सवादी विश्लेषण सही था, परंतु वर्तमान और निकट भविष्य के बारे में यह विश्लेषण उतना उपयुक्त नहीं है। मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को भी नेहरू पसंद नही करते थे। उनके अनुसार मार्क्सवादी सिद्धान्त उन्नीसवीं शताब्दी का सिद्धान्त है, जो बीसवीं शताब्दी में पुराना पड़ चुका है।[3]

नेहरू ने 1927 में सोवियत संघ की यात्रा की थी तथा वे वहाँ की प्रगति से प्रभावित थे। उन्होंने वहाँ देखा कि शिक्षा, स्त्री-उद्धार तथा किसानों की दशा में काफी सुधार हुआ है।[4] वे सोवियत संघ के विकास को मानवशक्ति की तात्विक और

---

1 जवाहर लाल नेहरू: ग्लिम्प्सेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, लन्दन, लिण्ड्से ड्रमण्ड, 1938, पृ0 393।

2 जवाहर लाल नेहरू: सोवियत रशिया, पृ0 62-74।

3 जवाहर लाल नेहरू: द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, द सिगनेट प्रेस, 1946, पृ0 13-14।

4 जवाहर लाल नेहरू: सोवियत रशिया, पृ0 62-74।

नाटकीय अभिव्यक्ति मानते थे।[1] उनका विचार था कि आज विश्व को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, उनका समाधान सोवियत संघ के उदाहरण से ढूँढ़ा जा सकता है।[2] लेकिन नेहरू अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर जो सोवियत संघ में प्रतिबंध लगाया गया था, उसको पसंद नहीं करते थे।

नेहरू ने राष्ट्रवाद की बहुत सशक्त और युक्तिसंगत व्याख्या दी है। उनके राष्ट्रवाद का मूलमंत्र है-सांस्कृतिक बहुलवाद और संश्लेषण। उन्होंने भारत की सांस्कृतिक विविधता में एकता की काफी प्रशंसा की। नेहरू ने टैगोर के संश्लेषणात्मक सार्वभौमवाद का समर्थन किया। उन्होंने राष्ट्रवाद के भावनात्मक पक्ष पर जोर दिया। ईश्वर के बारे में वे अज्ञेयवादी थे।[3] परन्तु राष्ट्रवाद के बारे में 'भारतमाता' की मनोहारी कल्पना से अनुप्राणित हुए थे। उन्होंने राष्ट्रवाद के बारे में बताया कि 'राष्ट्रवाद' वस्तुतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है। राष्ट्रवाद आज जितना शक्तिशाली पहले नहीं था। जब कभी कोई संकट पैदा हुआ है, (हमारा) राष्ट्रवाद फिर से उभर कर सामने आया है, और लोगों ने अपनी पुरानी परम्पराओं में सुख और सुदृढ़ता की तलाश की है। वर्तमान युग की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है, अपने खोये हुए अतीत की फिर से खोज''[4] नेहरू ने राष्ट्रवाद को एक महान और जीवंत शक्ति माना था। परंतु वे राष्ट्रवाद के अंध समर्थक नहीं थे।

उनका मानना था कि राष्ट्रवाद अपनी जगह ठीक है, परंतु यह एक अविश्वस्त मित्र और असुरक्षित इतिहासकार है। यह बहुत सारी घटनाओं के प्रति हमारी आँखों पर पट्टी बाँध देता है और कभी-कभी सच्चाई को तोड़-मरोड़ कर पेश करता है, खास तौर पर तब जब इसका सरोकार हमारे अपने देश से हो। राष्ट्रवाद के विकास के साथ 'मेरा देश, सही या गलत' का विचार भी पनपा है और राष्ट्रों ने ऐसे कारनामे

---

1 जवाहर लाल नेहरूः सोवियत रशिया, पृ0 57–58।

2 जवाहर लाल नेहरूः सोवियत रशिया, पृ0 50।

3 जवाहर लाल नेहरूः द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, द सिगनेट प्रेस, 1946, पृ0 12।

4 जवाहर लाल नेहरूः द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, द सिगनेट प्रेस, 1946, पृ0 455।

करते हुए गौरव अनुभव किया है, जो व्यक्तियों के मामले में बुरे और अनैतिक समझे जाते थे।[1] नेहरू रचनात्मक राष्ट्रवाद में विश्वास करते थे, ध्वंसात्मक राष्ट्रवाद में नही। राष्ट्रवाद को आत्मनिर्णय के अधिकार और लोकतंत्रीय प्रक्रिया के सिद्धान्त के साथ जोड़ते हुए उन्होंने भारत के लिए संविधान सभा के विचार को बढ़ावा दिया। 1936 में लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था कि " हमारी राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्याओं का एकमात्र समाधान यही संविधान सभा होगी, शर्त यह है कि वह वयस्क मताधिकार के द्वारा और जनवादी आधार पर निर्वाचित है।"[2]

नेहरू की धर्मनिरपेक्षता की धारणा उनके राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के साथ निकट से जुड़ी थी। उनका सुझाव था कि हिन्दु-मुस्लिम समस्या को धार्मिक विवाद के रूप में न देखकर, इसे धनवान-निर्धन वर्गों के विवाद के रूप में देखना चाहिए और इसी दृष्टि से इसका समाधान करना चाहिए। उनका विचार था कि मुसलमान गरीब हैं और हिन्दू धनी, इसीलिए दोनों में वैमनस्य है।[3] उन्होंने हिन्दू महासभा की आलोवना की थी। उन्होंने कहा था कि हम भारत में किसी तरह की साम्प्रदायिकता को सहन नहीं करेंगे, क्योंकि हम एक स्वतंत्र धर्मनिरपेक्ष राज्य का निर्माण कर रहे है,जहाँ प्रत्येक धर्म और विश्वास को पूरी स्वतंत्रता और बराबर सम्मान मिलेगा, जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान स्वतंत्रता और समान अवसर प्राप्त होंगे।

राजनीतिक व्यवस्था के बारे में नेहरू का आदर्श संसदीय लोकतंत्र था। उनकी दृष्टि में लोकतंत्र साध्य न होकर जनता के कल्याण का साधन मात्र था। उनका विचार था कि राजनीतिक लोकतंत्र की पारिणति सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के रूप में होनी चाहिए। लोकतंत्र के साथ वे स्वतंत्रता और समानता के अटूट सम्बन्ध को आवश्यक मानते थे। उनके निर्देशन में कांग्रेस ने 1955 में 'समाजवादी ढ़ग के समाज' का आदर्श स्वीकार किया था।

---

1 जवाहर लाल नेहरू: द डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, द सिगनेट प्रेस, 1946,पृ0 455।

2 इम्पोर्टेन्ट स्पीचेज ऑफ जवाहर लाल नेहरू, कलकत्ता ओरियेन्ट लॉगमैन, 1972। पृ0 17।

3 जवाहर लाल नेहरू: ग्लिम्प्सेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, पृ0 438।

नेहरू का राष्ट्रवाद विकसित होकर अंतर्राष्ट्रवाद का समर्थक हो जाता है। उन्होंने न केवल राजनीतिक बल्कि आर्थिक आधार पर भी अंतर्राष्ट्रवाद को राष्ट्रवाद का विकसित रूप माना। उन्होंने तर्क दिया था कि समकालीन युग की औद्योगिक प्रगति ने राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़ दिया है। आज का विश्व अंतर्राष्ट्रीयकृत हो गया है। आज कोई भी राष्ट्र सच्चे अर्थों में आत्मनिर्भर नहीं रह गया है। समस्त विश्व परस्पर आश्रित हो चुका है।[1] उन्होंने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के साथ 'एक विश्व' की कल्पना की। वे संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख प्रशंसक थे।.

नेहरू विश्व राजनीति में ध्रुवीकरण के विरोधी थे। शीतयुद्ध का विरोध करते हुए उन्होंने गुटनिरपेक्षता की नीति अपनायी। उनकी गुटनिरपेक्षता तटस्थता का पर्याय नही थी।[2]

आर्थिक क्षेत्र में नेहरू ने मिश्रित अर्थव्यवस्था का समर्थन किया तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास को वे सामाजिक, आर्थिक, बैद्विक सभी क्षेत्रों के विकास का आधार-स्तम्भ मानते थे।[3] उनका मानना था औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा देश विश्व संतुलन को भंग करता है, वह विकसित देशों की आक्रमक प्रवृत्तियों को जन्म देता है। इसीलिए उन्होनें 'भाखड़ा' और 'भिलाई' को आधुनिक भारत के मंदिर कहा था। भारी उद्योगों के साथ-साथ उन्होंने कुटीर उद्योगों को भी प्रोत्साहन देने की बात की जिससे बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न न हो। उन्होंने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को जन चेतना विकास का माध्यम बनाया। अपने समाजवाद को उन्होनें प्रगतिशील समाजवाद का नाम दिया, जिसके अंन्तर्गत औद्योगिक ढाँचे के साथ-साथ कृषि ढाँचे के पुनर्निर्माण पर बल दिया गया था।

संक्षेप में नेहरू का राजनीति-दर्शन अंतर्राष्ट्रवाद का हिमायती था, जिसमें लोककल्याण की प्रधानता थी। वे सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के साथ-साथ स्वतंत्रता और समानता में विश्वास करते थे। उनका समाजवाद लोकतांत्रिक था, जिसमें आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण और स्थानान्तरण का उन्होंने समर्थन किया था।

---

1 इम्पोर्टेन्ट स्पीचेज ऑफ जवाहर लाल नेहरू, पृ0 75।

2 1949 में वाशिंगटन में नेहरू का भाषण, उद्धृत इम्पोर्टेन्ट स्पीचेज ऑफ जवाहर लाल नेहरू, पृ0 66।

3 जवाहर लाल नेहरू: ग्लिम्प्सेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री, पृ0 173।

।। आचार्य नरेन्द्र देव।।

(1889-1956)

भारतीय समाजवाद के अग्रदूत के रूप में विख्यात आचार्य नरेन्द्र देव ने मार्क्स के भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष और वैज्ञानिक समाजवाद तथा महात्मा गांधी के नैतिकवाद और अहिंसा के आदर्श को भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के साथ मिलाकर भारतीय समाजवाद को एक नया रूप प्रदान किया उनके सभापतित्व में ही सन् 1934 में भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई थी।

नरेन्द्र देव ने मार्क्सवाद की नई व्याख्या करते हुए बताया कि मनुष्य के जीवन में जड़ जगत और चेतन जगत दोनों का बराबर महत्व है। मनुष्य इनमें से किसी एक से नाता तोड़कर अपना उद्धार नहीं कर सकता।[1] नरेन्द्र देव का मानना था कि भौतिक परिस्थितियाँ मानव को अधिक प्रभावित करती हैं। इसलिए वर्तमान सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का क्रांतिकारी रूपान्तरण ही परिस्थितियौ की आवश्यकता को पूरा कर सकता है।[2]

नरेन्द्र देव नैतिक समाजवादी थे। उनका मानना था कि मनुष्य की स्वतंत्रता एक नैतिक संकल्पना है और वह तभी सार्थक हो सकती है, जब सारे मनुष्य आर्थिक दृष्टि से समान हों। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद दोनों हीं मानव स्वतंत्रता के लिए विनाशकारी हैं। यथार्थ स्वतंत्रता केवल समाजवाद के अंतर्गत प्राप्त हो सकती है। उन्होंने समाजवादी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया।[3] उनका मानना था कि एक औपनिवेशिक देश के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता समाजवाद के मार्ग में एक अपरिहार्य अवस्था है।[4] उन्होंने कांग्रेस के अगस्त, 1942 के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा कि यह प्रस्ताव स्वतंत्रता के सामाजिक पहलू का समर्थन करता है।[5] उनका कहना था कि जनसमुदाय को क्रियाशील बनाने तथा देश को लोकतंत्र के

---

1 नरेन्द्र देवः सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 20-21।
2 नरेन्द्र देवः सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 24-25।
3 नरेन्द्र देवः सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 41।
4 नरेन्द्र देवः सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 41।
5 नरेन्द्र देवः सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 167।

लिए तैयार करने का एकमात्र उपाय यह है कि किसी लोकहितकारी आर्थिक विचारधारा को अंगीकार करके राष्ट्रीय संग्राम का समाजीकरण किया जाय।[1] उनका विचार था कि सामाजिक तथा आर्थिक मुक्ति के जिस कार्य को पश्चिमी यूरोप में अट्ठारहवीं शताब्दी में पूँजीपतियों ने किया था, उसे भारत में शोषित जनता के संगठन के द्वारा करना होगा।[2] भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के आधार को व्यापक बनाने के लिए उन्होंने रचनात्मक कार्य करना आवश्यक माना।[3]

नरेंद्र देव ने महात्मा गाँधी के वर्ग-सौहार्द के सिद्धान्त से मतभेद प्रकट करते हुए मार्क्स के वर्ग संघर्ष सिद्धान्त का समर्थन किया। वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से ही उन्होंने भारत की सामाजिक आर्थिक समस्याओं को समझने का प्रयास किया। उनका विचार था कि निम्न मध्यम वर्ग तथा सामान्य जनता के बीच मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये जायं तथा उनकी संख्या बढ़ायी जाय। उनका मानना था कि वर्ग-चेतना तभी उत्पन्न हो सकती है, जब आर्थिक हितों की भाषा में बात किया जाय, क्योंकि साधारण जनसमुदाय अनुल्लंघनीय अधिकारों तथा लोक-प्रभुत्व के सामान्य सिद्धान्तों से आकृष्ट नहीं हो सकता।[4] नरेंद्र देव ने नैतिकता के जनवादी आधार की पुष्टि की।

नरेन्द्र देव को कोरे सुधारवाद और संविधानवाद से कोई सहानुभूति नहीं थी।[5] उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए तर्क दिया कि सारा-मानव इतिहास परस्पर-विरोधी वर्गों के निरंतर संघर्ष की कहानी है। उन्होंने कहा कि समकालीन समाज में कामगार वर्ग और उसके सहायक किसान और बुद्धिजीवी वर्ग का बहुमत है, लेकिन श्रमिक वर्ग को साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का हरावल (अग्रगामी टुकड़ी) बनना होगा।[6] संघर्ष को आन्दोलन का रूप देने के लिए उन्होंने प्रचार तथा संगठन को महत्वपूर्ण साधन माना।[7] नरेन्द्र देव का मानना था कि भारत जैसे देश के लिए समाजवादी

---

1 नरेन्द्र देव: सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ029-77।
2 नरेन्द्र देव: सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 29-77।
3 नरेन्द्र देव: सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 87।
4 नरेन्द्र देव: सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 8।
5 नरेन्द्र देव: सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 28।
6 नरेन्द्र देव: सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 22-23।
7 नरेन्द्र देव: सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 6-7।

आन्दोलन का प्रथम लक्ष्य राष्ट्रीय स्वाधीनता होना चाहिए।[1] वे चाहते थे कि जनता की कांतिकारी भावना को तीव्र किया जाय, और उन्होंने स्वयं जनता को क्रान्तिकारी कार्यवाही के लिए उत्तेजित करने के लिए कार्य भी किया।[2]

नरेन्द्र देव ने भारतीय कृषि के विकास के लिए किसान सभाओं का संगठन किया। ग्राम-विकास के लिए उन्होंने साक्षरता अभियान का समर्थन किया।[3] उन्होंने कृषकों की दशा में सुधार के लिए कृषि को सहकारी आधार पर संगठित करने का समर्थन किया। उनका आग्रह था कि किसानों के ऋण निरस्त कर दिये जायें और किसानों के लाभ के लिए सस्ते व्याज पर ऋण प्रदान किया जाय[4] तथा विचौलियो की प्रथा को समाप्त किया जाय। वे चाहते थे कि गाँवों में सरकारी व्यवस्था कायम करके लोकतंत्रीय ग्राम सरकार की स्थापना की जाय।[5]

नरेन्द्र देव चाहते थे कि उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित किया जाय, जिसके लिए समस्त वंचित वर्गो को आन्दोलन करने के लिए समवेत होना होगा। इसे नरेन्द्र देव ने नवजीवन आन्दोलन की संज्ञा दी।[6]

राजनीतिक क्षेत्र में नरेन्द्र देव ऐहिकवादी राष्ट्रवाद के समर्थक थे।[7] वे पुनरूथानवाद के विरोधी थे।[8] उन्होनें मार्क्सवाद के मानववादी पक्ष को प्रमुखता दी। उनका मानना था कि मार्क्सवाद को क्रियान्वित करके एक नवीन समाज का निर्माण करना सम्भव है।[9] भारत में समाजवादी आन्दोलन का विकास आचार्य नरेन्द्र देव के प्रयासों का ही परिणाम था।

---

1 नरेन्द्र देव, सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 4।
2 नरेन्द्र देव, सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 149।
3 नरेन्द्र देव, सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 39।
4 नरेन्द्र देव, सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 161।
5 नरेन्द्र देव, सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 54।
6 नरेन्द्र देव, सोशलिज्म एण्ड नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 183।
7 नरेन्द्र देव: राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी, ज्ञानमण्डल, 1949, पृ0 335।
8 नरेन्द्र देव: राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी, ज्ञानमण्डल, 1949, पृ0 544।
9 नरेन्द्र देव: 'समाजवाद का मूलाधार मानवता' पृ0 451-56।

।। जय प्रकाश नारायण ।।

(1902-1979)

लोक नायक जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के अग्रणी प्रवक्ता रहे हैं। जयप्रकाश नारायण ने साम्यवाद के सत्तावादी और सर्वाधिकारवादी स्वरूप को कभी पसन्द नहीं किया। उन्होंने समाजवाद के मानवीय और लोकतांत्रिक स्वरूप का समर्थन किया।

जय प्रकाश नारायण ने राजनीति के आर्थिक आधार पर विशेष बल दिया। उनके अनुसार समाजवाद सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण का विस्तृत सिद्धान्त है।[1] इसका प्रेरणा-स्रोत 'समानता' की धारणा है, परन्तु इस धारणा का युक्तिसंगत विश्लेषण आवश्यक है। प्राकृतिक समानता का विचार स्वीकार योग्य नहीं है, क्योंकि यह उत्पादन के साधनों पर वर्गीय प्रभुत्व को उचित ठहराता है, जबकि 'सामाजिक-आर्थिक विषमता 'प्राकृतिक' असमानता' का परिणाम न होकर स्वयं उत्पादन के साधनों पर अनुपात हीन नियंत्रणं का परिणाम है। सभी मनुष्यों को आत्मविकास कें उपयुक्त अवसर प्रदान करके लिए इस विषमता का निराकरण आवश्यक है। जब तक मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, उससे सांस्कृतिक सृजनात्मकता की आशा व्यर्थ है। इस समस्या का सामाधान है समाजवाद की स्थापना, जिसका उद्‌देश्य है सम्पूर्ण समाज का सामंजस्यपूर्ण तथा संतुलित विकास।[2] इसके लिए वह (समाजवाद) व्यापक नियोजन तथा कार्यप्रणाली के द्वारा उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना चाहता है।[3] भारत में समाजवाद की नीति को कार्यान्वित करने के लिए जयप्रकाश जी ने वृहद उद्योगों पर सामूहिक स्वामित्व और नियंत्रण का सुझाव दिया, विशेष रूप से उन्होंने भारी परिवहन, जहाजरानी, खनन तथा भारी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की माँग की।

---

1 जयप्रकाश नारायण: टुआर्डस स्ट्रगल, बम्बई पद्‌मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 65।
2 जयप्रकाश नारायण: टुआर्डस स्ट्रगल, बम्बई पद्‌मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 88।
3 जयप्रकाश नारायण: टुआर्डस स्ट्रगल, बम्बई पद्‌मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 77-78।

जय प्रकाश नारायण ने बताया कि भारतीय संस्कृति में जिन मूल्यों को चिरकाल से संजोकर रखा गया है, वे समाजवाद की मान्यताओं के अनुरूप है[1] भारतीय संस्कृति मनुष्य को धन बटोरने और केवल स्वार्थ पूरा करने से रोकती है, वह उसे लोभ और लालसा से दूर रहने की प्रेरणा देती है। इसमें मिल-जुलकर रहने और आपस में मिल-बांटकर खाने की परंपरा की सराहना की गयी है, जो कि समाजवाद का मूलमंत्र है। अतः यह कहना सही नहीं है भारत में समाजवाद का विचार पश्चिम से आयात किया गया है। यह सही है कि समाजवाद के व्यवस्थित आर्थिक सिद्धान्त पश्चिमी चिंतन के अंतर्गत सूत्रवद्ध किये गये हैं, परन्तु उनका मूल स्वर भारतीय संस्कृति में भी विद्यमान है।[2]

जय प्रकाश जी का मानना था कि समाजवाद ही विशाल जनसमुदाय के आर्थिक शोषण की क्रूर प्रक्रिया का अंत कर सकता है।[3] वे ग्रामीण व्यवस्था का पुनस्संगठन चाहते थे। उनका तर्क था कि एशिया के कृषि प्रधान देशों में मूल आर्थिक समस्या कृषि व्यवस्था के पुनर्निर्माण की है। इसके लिए प्रत्येक गांव को स्वशासी और आत्मनिर्भर इकाई बनाना होगा। भूमि कानूनों में परिवर्तन कर भूमि पर स्वामित्व वास्तविक किसान को प्रदान करना होगा।[4] जय प्रकाश जी सहकारी कृषि के समर्थक थे। वे चाहते थे कि किसानों के कर्ज माफ करके राज्य तथा सहकारी ऋण एवं विपणन प्रणाली के साथ-साथ सहकारी गौण-उद्योग स्थापित किये जायें,[5] ताकि कृषि और उद्योग में संतुलन स्थापित हो सके।[6]

महात्मागांधी की मृत्यु के पश्चात् जय प्रकाश नारायण ने गांधी जी के सिद्धान्तों को व्यावहारिकता प्रदान करना ही अपना लक्षण बना लिया। उन्होंने सर्वोदय का समर्थन किया, जिसके अंतर्गत् राज्य-तंत्र को बल प्रयोग, आतंक और हिंसा का अस्त्र मानते

1 जयप्रकाश नारायण: टुआर्डस स्ट्रगल, बम्बई पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 85-86।

2 डा0 बी0 पी0 वर्मा: आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, पृ0 537।

3 जयप्रकाश नारायण: टुआर्डस स्ट्रगल, बम्बई पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 77-78।

4 रामगढ़ कांग्रेस, 1940 में जयप्रकाश नारायण के द्वारा पेश प्रस्ताव।

5 जयप्रकाश नारायण: टुआर्डस स्ट्रगल, बम्बई पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 90-260।

6 जयप्रकाश नारायण: टुआर्डस स्ट्रगल, बम्बई पद्मा पब्लिकेशन्स, 1946, पृ0 92।

हुए उसकी भूमिका की धीरे-धीरे समाप्ति की मांग की जाती है और उसकी जगह स्वराज्य या आत्मानुशासन को बढ़ावा दिया जाता है, जिससे सहचरों के साथ सहज स्वाभाविक सहयोग की प्रेरणा मिलती है।[1] जयप्रकाश जी ने लोकतंत्रीय समाजवाद का समर्थन किया, जिसे सार्थक बनाने के लिए आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण और स्थानान्तरण सर्वथा आवश्यक है संपूर्ण क्रान्ति का नारा देकर उन्होंने सम्पूर्ण समाज व्यवस्था को बदलने का नारा दिया, जिससे सामाजिक भेद-भाव को जड़ से मिटाया जा सके। उन्होंने दल-विहीन लोकतंत्र का आदर्श रखा।[2]

जय प्रकाश नारायण ने समाजवाद को मानवता के उद्धार का साधन बनाने के लिए विश्व समुदाय के संगठन का सुझाव दिया, क्योंकि यही व्यवस्था विशेषत: एशिया और अफ्रीका के दलित वर्गों को संगठित सैन्यवाद और सर्वाधिकारवाद के विनाशकारी प्रभाव से मुक्त करके न्याय दिला सकती है और परस्पर विरोधी शक्ति गुटों में बँटे हुए विश्व में शान्ति और सुरक्षा स्थापित कर सकती है।[3]

जय प्रकाश नारायण समाजवादी आन्दोलन के महत्वपूर्ण स्तम्भ रहे हैं। उन्होंने समाजावाद के अस्त्र को भारत के स्वाधीनता संग्राम और सामाजिक क्रांति दोनों मोर्चो पर प्रयोग के लिए उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया। 1942 के आन्दोलन में उन्होंने वीरोचित ख्याति प्राप्त की थी।

।। राम मनोहर लोहिया।।

(1910–1968)

राम मनोहर लोहिया ने गाँधीवादी विचारों को अपनाते हुए , एशिया की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर समाजवाद की एक नई व्याख्या और नया कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उन्होंने विकेन्द्रीकृत समाजवाद का समर्थन किया।

---

1 विनोवा भावे: भू-दान से ग्रामदान' पृ0 8।

2 जयप्रकाश नारायण: क्रांति के आधुनिक प्रयोग, पृ0 11-12।

3 इण्डियन कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम, पृ0 39।

लोहिया ने विचार दिया कि इतिहास चक्र की भाँति घूमते हुए आगे बढ़ता है।[1] उन्होंने चेतना की भूमिका को मान्यता देते हुए द्वन्द्वात्मक पद्धति को एक नई दिशा में विकसित किया।[2] लोहिया के अनुसार, जाति और वर्ग ऐतिहासिक गतिविज्ञान की दो मुख्य शक्तियाँ हैं। इन दोनों के बीच लगातार खींचतान चलती रहती है और उनके टकराव से इतिहास आगे बढ़ता है। जाति रूढ़िवादी शक्ति का प्रतीक है, जो जडता का प्रतीक है। दूसरी ओर गत्यात्मक शक्ति का प्रतीक है जो सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा देता है। आज तक का सारा मानव इतिहास जातियों और वर्गों के निर्माण और विलय की कहानी है। जातियाँ शिथिल होकर वर्गों में बदल जाती हैं। वर्ग सुगठित होकर जातियों का रूप धारण कर लेते हैं।[3] इस जाति प्रथा के विरूद्ध अनथक संघर्ष करने वाले को ही सच्चा क्रान्तिकारी मानना चाहिए। इस दृष्टि से महात्मा, साधु-संत और समाज-सुधारक सच्चे क्रान्तिकारी थे।

लोहिया नेहरू की गुटनिरपेक्षता की नीति में विश्वास नहीं करते थे। उनका मानना था कि भारत को विदेशों में पक्के मित्रों की खोज करनी चाहिए। उन्होंने पूरे भारत के लिए हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने की बात की। उनका कहना था कि अंग्रेजी बहुसंख्यक जनता के लिए एक गुप्त रहस्य है। अतः जब तक भारत में लोक प्रशासन अंग्रेजी के माध्यम से चलाया जाता रहेगा, वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो सकेगी।

लोहिया ने समाजवाद को एशियाई संदर्भ में विकसित करने का सुझाव दिया। एशिया की सभ्यता सदियों पुराने निरंकुशतंत्र और सामंतवाद में से उभरकर सामने आयी है। यहाँ धार्मिक रूढ़ियों ने संकीर्ण मनोवृत्ति और सम्प्रदायवाद को जन्म दिया है। लोकतांत्रिक परम्परा के अभाव के कारण यहाँ हत्या और आतंक राजनीति का हिस्सा बन चुके है। आधुनिक युग में अधिकारीतंत्र ओर तकनीकतंत्र के विकास से एक नये वर्ग के उभार ने राजनीति को और उलझा दिया है। इसके परिणाम स्वरूप एक ऐसे

1 राम मनोहर लोहिया: व्हील ऑफ हिस्ट्री, पृ0 13-15।
2 राम मनोहर लोहिया, आस्पेक्ट्स ऑफ सोशलिस्ट पॉलिसी, पृ0 76-77
3 राम मनोहर लोहिया, व्हील आंफ हिस्ट्री, पृ0 51।

नेतृत्व का विकास हुआ है, जो कोरे शब्दाडंबर के द्वारा जनता की भावनाओं से खिलवाड़ कर कुर्सियों से चिपका रहता है। इसलिए एक व्यापक और मौलिक समाजदर्शन का निर्माण कर एशिया में व्याप्त इन बुराइयों का उपचार करना होगा।[1]

लोहिया ने चौखम्भा (चार स्तम्भों वाले) राज्य की कल्पना की है। उनका कहना था कि जैसे चार खम्भे अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व कायम रखते हुए भी एक छत को संभालते हैं, वैसे ही यह व्यवस्था केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी अवधारणाओं में सामंजस्य स्थापित करेगी। इस तरह गांव, मंडल, प्रांत और राष्ट्र (केन्द्रीय सरकार) कृत्यात्मक संघवाद के द्वारा आपस में जुड़े होंगे। प्रचलित व्यवस्था में से जिलाधीश का पद समाप्त करना होगा, क्योंकि वह शक्ति के जमाव का प्रतीक है। पुलिस और कल्याणकारी कार्य गांव और नगर की पंचायतों को संभालने होंगे।[2] ग्राम प्रशासन छोटी-छोटी मशीनों पर आधारित कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देगा, जो सहकारी संस्थाओं के रूप में संगठित होंगे। इससे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण और बेरोजगारी को दूर किया जा सकेगा।[3] लोहिया ने इस वास्तविक व्यवस्था का विश्व स्तर तक विस्तार करने, अर्थात् विश्व संसद और विश्व सरकार के संगठन का सुझाव दिया। इसे उन्होंने पाँचवां स्तम्भ कहा था।

लोहिया ने तर्क दिया कि विश्व की दो-तिहाई आबादी के लिए पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों प्रणालियां अनुपयुक्त है। उन्होंने 'नवीन समाजवाद' का नारा दिया।[4] उन्होंने गाँधीवादी तरीके की लोकतंत्रीय व्यवस्था और राजनीतिक स्वतंत्रता विशेषत: अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संघ-निर्माण की स्वतंत्रता और जीवन के निजी क्षेत्र की सुरक्षा पर बल दिया। वे चाहते थे कि मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो, एकांगी विकास का उन्होंने विरोध किया था।[5]

---

1 राम मनोहर लोहिया, आस्पेक्ट्स आंफ सोशलिष्ट पालिसी, बम्बई,6, 'टुलच रोड, 1952,पृ0- 10।

2 राम मनोहर लोहिया: विल टू पावर एण्ड अदर राइटिंग्स, हैदराबाद, नवहिन्द पब्लिकेशन, 1956, पृ0- 132।

3 राम मनोहर लोहिया: आस्पेक्ट्स ऑफ सोशलिस्ट पॉलिसी, पृ0 17।

4 प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया द्वारा प्रतिवेदित लोहिया का वक्तव्य, डा0 बी0 पी0 वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, पृ0 540 से उद्धृत।

5 राम मनोहर लोहिया: व्हील ऑफ हिस्ट्री, पृ0 111।

लोहिया ने भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने समाजवाद को एशियाई संदर्भ में सोचने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने सामान्य जनों के अधिकारों एवं प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वैयक्तिक तथा सामूहिक सविनय अवज्ञा की गाँधीवादी प्रणाली का समर्थन किया।

भाग–4

सम्प्रदायवादी विचारधारा

सम्प्रदायवादी विचारधारा के अन्तर्गत विशेष रूप से उन विचारकों को शामिल किया जाता है जिन्होंने भारतीय धर्मनिरपेक्षता का विरोध कर एक तरफ अलग मुस्लिम राष्ट्र (पाकिस्तान) की माँग की तो दूसरी तरफ हिन्दू राष्ट्र की स्थापना का प्रयास किया। अतः यह विचारधारा दो भागों में बँटी हुई है-1- हिन्दू सम्प्रदायवादी विचारधारा, जिसे हिन्दू पुनरूत्थानवादी विचारधारा भी कहा जाता है, तथा 2-मुस्लिम सम्प्रदायवादी विचारधारा।

हिन्दू सम्प्रदायवादी विचारधारा

हिन्दू सम्प्रदायवादी विचारधारा के मानने वालों में प्रमुख है- भाई परमानन्द, विनायक दामोदर सावरकर, केशव बलिराम हेडगेवार आदि।

।। भाई परमानन्द।।

हिन्दू राष्ट्रवाद के समर्थक भाई परमानन्द गाँधी जी के शब्दों में एक सत्यपरायण तथा उदात्त व्यक्ति थे।[1] हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता में उन्हें परम विश्वास था। उन्होंने लिखा है-"हिन्दू भूमण्ड़ल का सबसे प्राचीन राष्ट्र है। उनके धर्मग्रन्थ विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र प्राचीन हिन्दुओं अथवा आर्यो के ही वंशज हैं। प्राचीन काल से सभी बड़े देश अपनी सभ्यता खो चुके हैं।---किन्तु विश्व

---

1 एम0 के गाँधी, भाईपरमानन्द, यंग इण्डिया, नवम्बर, 19, 1919।

के प्रारम्भ से हमारा ही राष्ट्र केवल इस विषय में अपवाद सिद्ध हुआ है। यह अभी भी जीवित है।---निःसन्देह किसी रहस्यमयी शक्ति ने अथवा किसी अन्य वस्तु ने हमें नष्ट होने से बचा लिया है। -- यातनाएं, सामूहिक हत्यायें, भयंकर नरसंहार तथा रक्तपात, भयावह युद्ध--हमने क्या-क्या सहन नहीं किया है? और फिर भी हम जीवित हैं।[1]

भाई परमानन्द ने विचार व्यक्त किया कि बहुसंख्यक समुदाय होने के कारण हिन्दुओं को स्वराज प्राप्ति के लिए अधिक प्रयास करना चाहिए तथा उन्हें (हिन्दुओं को) समाज को सामाजिक तथा नैतिक बुराइयों से मुक्त रखना चाहिए। उन्होंने हिन्दुओं की अत्यधिक व्यक्तिवादी भावनाओं की निन्दा की तथा उनके लिए संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। उनका कहना था कि हिन्दुओं को संगठन बनाने के लिए विभिन्न स्थानों पर हिन्दू सभाएं आयोजित करनी चाहिए। कुरीतियों का उन्मूलन होना चाहिए। शारीरिक व्यायाम से युवकों को अपना शारीरिक और मानसिक दोनों विकास करना चाहिए। अछूतों के साथ समानता का व्यवहार करते हुए शुद्धि आन्दोलन प्रारम्भ करना चाहिए।[2]

भाई परमानन्द हिन्दुओं की एकता के कार्य को संकीर्ण साम्प्रदायिकता मानने को तैयार न थे। राष्ट्रवाद के विकास के लिए उन्होंने दृढ़ नेतृत्व के विकास पर बल दिया। उनका मानना था कि एक महान नेता के आदेशों का पालन और उसका अनुगमन राष्ट्र के विभिन्न विघटनात्मक शक्तियों में एकता प्रदान करता है। उन्होंने यूरोप के इतिहास का उदाहरण दिया, जहाँ नेतृत्व के द्वारा राष्ट्रवाद का विकास हुआ है।[3] इस प्रकार भाई परमानन्द ने अधिनायकवाद का समर्थन किया था।

---

1 लालचन्द्र धवन द्वारा अनुवादित, 'हिन्दू संगठन' 1939 में लाहौर, द सेन्ट्रल युवक सभा द्वारा प्रकाशित।

2 लालचन्द्र धवन द्वारा अनुवादित, 'हिन्दू संगठन' 1939 में लाहौर, द सेन्ट्रल युवक सभा द्वारा प्रकाशित, पृ0 190-91।

3 हिन्दू संगठन,(लालचन्द्र धवन द्वारा हिन्दी में अनूदित, लाहौर, द सेन्ट्रल युवक सभा, 1936) पृ0 233-34।

भाई परमानन्द हिन्दी के समर्थक थे। उन्होंने अपना भाषण अधिकांशत: हिन्दी में ही दिया था। उन्होंने साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध कर, हिन्दुओं के बीच एका के लिए काफी प्रयास किया था। वे चाहते थे कि आर्य समाज भी हिन्दू संगठन का कार्य करे।

।। विनायक दामोदर सावरकर।।

उग्र राष्ट्रवादी और वीर क्रान्तिकारी विनायक दामोदर सावरकर ने भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए जनता से सर्वस्व त्याग की अपील की थी।बाद में वे हिन्दू महासभा से सम्बन्धित होकर 'हिन्दू- पद-पादशाही' की स्थापना के समर्थक हो गये थे। उन्होंने मराठा शक्ति के उदय की राष्ट्रवादी व्याख्या की। उन्होंने मराठों के आदर्शवादी[1] तथा उनकी लोकतांत्रिक भावना[2] की सराहना की। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि 1857 का विद्रोह वास्तव में भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था।[3]

सावरकर ने निरपेक्ष अहिंसा का विरोध करते हुए न्याय के लिए हिंसा का समर्थन किया था। उनका मानना था कि ईश्वरीय युग की स्थापना होने तक विद्रोह या हिंसा को तर्कसंगत तरीके के रूप में अपनाया जा सकता है।[4] सावरकर ने उन महापुरूषों के कार्यो को उचित ठहराया, जिन्होंने न्याय की स्थापना के लिए हिंसा का सहारा लिया।[5]

सावरकर हिन्दू पुनरूत्थानवाद के समर्थक होने के नाते हिन्दुओं में उनके हितों तथा उत्तरदायित्व के एकीकरण को आवश्यक मानते थे। उन्होंने हिन्दुत्व के तीन सिद्धान्त बताये-राष्ट्र, जाति तथा संस्कृति। उन्होंने हिन्दू को एक समांग जाति माना था।

---

1 हिन्दू-पद पादशाही (हिन्दी अनुवाद), लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स, पृ0 230।

2 हिन्दू-पद पादशाही (हिन्दी अनुवाद), लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स, पृ0 208।

3 वी0 डी0 सावरकर ने 1857 के स्वतंत्रता संग्राम पर एक महम्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी, 'द वार ,ऑफ इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स ऑफ 1857।

4 वी0 डी0 सावरकर: द वार ऑफ इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स ऑफ 1857, पृ0 273।

5 वी0 डी0 सावरकर: द वार आफ इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स ऑफ 1857, पृ0 274।

उनका हिन्दुत्व का सिद्धान्त हिन्दूवाद से विस्तृत था। हिन्दूवाद का सम्बन्ध मुख्यतः धर्म तथा धर्मविद्या से है, जबकि हिन्दुत्व एक राजनीतिक धारणा है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी पहलू आ जाते हैं। सावरकर ने हिन्दुओं में एकता की स्थापना के लिए संगठन की स्थापना को अनिवार्य माना था। वे जातिवाद का विरोध करते हुए अंतरजातीय विवाह के समर्थक थे। वे जैन, सिक्ख, आर्यसमाज एवं ब्रह्मसमाज के अनुयायियों को भी हिन्दू समाज का अंग मानते थे तथा हिन्दू संगठन को शक्तिशाली बनाकर स्वराज्य की प्राप्ति करना चाहते थे।

उन्होंने हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद के बीच अनन्य सम्बन्ध बताया। उनका हिन्दुत्व संकीर्ण न होकर विश्वव्यापी था। मानवतावाद तथा सार्वभौमवाद के वे समर्थक थे।[1] स्वेज नहर के संकट (1956) के समय उन्होंने भारत द्वारा मिश्र की सहायता का विरोध कर इजरायल का पक्ष लेने का आह्वान किया था। उनका कहना था कि संसार में कोई ऐसा जनसमुदाय नहीं है, जिसका पृथक् जाति के रूप में मान्यता प्राप्त करने का दावा हिन्दुओं और यहूदियों के दावे से अधिक न्यायसंगत हो।[2]

।। केशव बलिराम हेडगेवार।।

(1890–1940)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक केशव बलिराम हेडगेवार महान स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। हिन्दू समाज के विघटनात्मक स्वरूप से वे चिन्तित रहते थे। इसे दूर करने के लिए उन्होंने हिन्दुओं में संघ की भावना जाग्रत करने का प्रयास किया। हिन्दुओं में सैनिक अनुशासन की भावना की जागृति तथा उनकी सांस्कृतिक चेतना को बल प्रदान करने के लिए ही उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 1925 में स्थापना की थी। उन्होंने शारीरिक और नैतिक शक्ति पर विशेष जोर दिया था।

---

1 वी0 डी0 सावरकर, हिन्दुत्व, द्वितीय संस्करण, पूना, 924, सदाशिव पेठ, 1942, पृ0 117।
2 वी0 डी0 सावरकर, हिन्दुत्व, द्वितीय संस्करण, पूना, 924, सदाशिव पेठ, 1942, पृ0 72-73।

हेडगेवार यह मानते थे कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का है। राष्ट्रवाद केवल प्रादेशिक एकता का सार न होकर परंपराओं द्वारा विकसित सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति निष्ठा की माँग है। संस्कृति में जीवन के सभी पहलू समाविष्ट हैं। उन्होंने राष्ट्र के बहुमुखी विकास के लिए सांस्कृतिक एकता की स्थापना को आवश्यक माना, ताकि गतिशील उत्साह को उत्पन्न किया जा सके।

इस प्रकार हेडगेवार हिन्दू पुनरूत्थानवाद के लिए सक्रिय प्रयास के समर्थक थे।वे हिन्दू संगठन को विस्तृत पारिवारिक जीवन के आदर्श पर आधारित करना चाहते थे। उन्हें हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास था। वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए संगठन और शक्ति के द्वारा सुदृढ़ राष्ट्रीय चरित्र का विकास आवश्यक मानते थे।

।। मुस्लिम सम्प्रदायवाद।।

मुस्लिम सम्प्रदायवाद के उन्नायकों में मुहम्मद इकबाल और मुहम्मद अली जिन्नाह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

।। मुहम्मद इकबाल।।
(1873–1938)

मुहम्मद इकबाल उर्दू-फारसी के महान कवि, धर्म-दार्शनिक और राजनीतिक-आदर्शवादी विचारक थे। उन्होंने इस्लामी दृष्टिकोण के आधार पर पश्चिमी सभ्यता की अनेक राजनीतिक संकल्पनाओं का विश्लेषण करते हुए विसंगतियों और विरोधाभासों से परिपूर्ण एक नई चिंतन प्रणाली विकसित की।

इकबाल का आरंभिक चिंतन राजनीति के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण रखता है। 'तराना-ए-हिंद' के तहत 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' इसका प्रमाण है। इस कविता में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर उन्होंने विशेष जोर देते हुए ' मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' नामक पंक्ति की रचना की। लेकिन बाद में इकबाल राजनीति में धर्म को प्रधानता देते हुए मुसलमानों के लिए पृथक् मुस्लिम राष्ट्र की माँग करने

लगे।[1] उनका मानना था कि "सरकार धर्म पर आधारित होनी चाहिए, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष राज्य लोगों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता।"[2]

इकबाल ने पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता पर तीखा प्रहार किया। उन्होंने ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का समर्थन किया।[3] पूँजीवाद का उन्होंने डटकर विरोध किया। उन्होंने निर्धन और वंचित वर्गो का आह्वान किया कि वे धनवानों के महलों की नींवें हिला दें।[4] लेकिन पूँजीवाद का विरोध कर इकबाल समाजवाद के भी समर्थक नहीं थे। वे अध्यात्मवाद के समर्थक तथा भौतिकवाद के विरोधी थे। उनका मानना था कि समाजवाद केवल भौतिक सुविधाओं की समानता का उपदेश है।[5]

इकबाल ने कुरान और शरीयत् में दृढ़ आस्था व्यक्त की तथा इसके आधार पर सर्व- इस्लामवाद का नारा बुलंद किया। राष्ट्रवाद की क्षेत्रीय और प्रजातीय संकल्पना की जगह उन्होंने इस्लामी विश्ववाद का समर्थन किया।[6] उन्होंने चेतावनी दी कि मुसलमान संकीर्ण देशभक्ति और झूठे राष्ट्रवाद के भुलावे में आकर अपने विश्वजनीन चरित्र को भूलने लगे है। अत: उन्होंने मुसलमानों को जागृत करने के लिए नारा दिया- "चीन ओ अरब हमारा, हिंदोस्तां हमारा। मुस्लिम है, हम वतन है, सारा जहाँ हमारा।" भारतीय मुसलमानों को संगठित करने के लिए उन्होंने देश का विभाजन धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक आधार पर करने की बात की।[7] वे अहमदिया आन्दोलन के विरोधी थे।

---

1 शामलू (संकलित) : स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स ऑफ इकबाल, लाहौर, अल-मनार अकादमी, 1944 पृ0 195।
2 शामलू (संकलित) : स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स ऑफ इकबाल, लाहौर, अल-मनार अकादमी, 1944 पृ0 7।
3 मुहम्मद इकबाल, जावेदनामा, पृ0 90-125।
4 मुहम्मद इकबाल, 'देवदूतों के लिए ईश्वर का आदेश' नामक कविता से।
5 मुहम्मद इकबाल, जावेदनामा, पृ0 69।
6 शामलू (संकलित) : स्पीचेज एण्ड् स्टेटमेन्स् आफ इकबाल, लाहौर, ऊलन्मनार अकादमी, 1944 पृ0 187।
7 शामलू (संकलित) : स्पीचेज एण्ड् स्टेटमेन्स् आफ इकबाल, लाहौर, ऊलन्मनार अकादमी, 1944 पृ0 195।

इकबाल का सम्पूर्ण चिंतन विरोधाभास से परिपूर्ण है। हिन्दू- मुस्लिम एकता के समर्थक के रूप में अपना चिंतन आरंभकर उन्होंने सम्प्रदायवादी और प्रतिक्रियावादी विचार को अपना लिया। कवि के रूप में मानवतावादी सिद्धान्त को अपनाकर, उन्होंने एक राजनीतिक के रूप में रूढ़िवादी विचारधारा का समर्थन किया। राष्ट्रवाद का विरोध करते हुए भी उन्होंने पृथक् मुस्लिम राष्ट्र की माँग की। इसी प्रकार ईश्वर में अंतिम आस्था रखते हुए भी उन्होंने प्रगतिशील कवि के. रूप में व्यक्ति की वैयक्तिकता को महत्वपूर्ण स्थान दिया- 'खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले, खुदा बंदे से खुद पूछे बता मेरी रजा क्या है"?

उन्होंने आध्यात्मिक लोकतंत्र का समर्थन किया तथा राजनीतिक लोकतंत्र का विरोध किया। कुरान में प्रतिपादित 'तकदीर' को उन्होंने स्वतंत्रता की सार्थक धारणा बताया[1] लेकिन बाद में उन्होंने 'नायकपूजा' का समर्थन किया। समानता का समर्थन करने के बाबजूद इकबाल ने महिलाओं को बराबरी का स्थान नहीं दिया।

।। मुहम्मद अली जिन्नाह।।

(1876-1948)

जिन्ना ने अपना राजनीतिक जीवन दादाभाई नौरोजी और गोपालकृष्ण गोखले जैसे उदार राष्ट्रवादियों के सम्पर्क में, उन्हीं के पदचिन्हों पर चलते हुए शुरू किया था, परंतु दुर्भाग्य से आगे चलकर उसने राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट का बीज बो दिया।

जिन्ना ने अपने आरंभिक राजनीतिक जीवन में धर्मनिरपेक्ष राज्य का समर्थन किया था, इस समय उन्होंने लीग की साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व यहाँ तक कि खिलाफत आन्दोलन का भी विरोध किया था, क्योंकि वह धर्म पर आधारित था। इस समय जिन्ना ने धर्म और राजनीति के पृथक्करण पर जोर दिया था।

---

1 इकबाल: सिक्ख लेक्चर्स आनादि रिकान्स्ट्रक्शन ऑफ रिलिजियस थाट इन, इस्लाम, लाहौर, कपूर आर्ट प्रिंटिंग वर्क्स, 1930, पृ0 67।

परन्तु बाद में जिन्ना ने साम्प्रदायिकता को सर्वाधिक प्रोत्साहन देने वाले नेताओं में अपना नाम सर्वप्रथम कर लिया। गाँधी जी के राष्ट्रीय आन्दोलन के तरीके से जिन्ना अपने- आप को उपेक्षित महसूस करने लगे, तथा गाँधी जी के आध्यात्मिक तरीके (रामराज्य) का उसने विरोध करना प्रारम्भ कर दिया, जिसके कारण उसे मुस्लिम मध्यवर्ग का समर्थन प्राप्त हुआ। इससे उत्साहित होकर उसने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त को अपने राजनीतिक जीवन का संबल बना लिया।[1]

जिन्ना ने अपने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के अंतर्गत हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच ऐतिहासिक और आध्यात्मिक अंतर पर बल दिया, तथा यह दावा किया कि मुस्लिम समस्या का समाधान पृथक् निर्वाचनमण्ड्ल नहीं, बल्कि पृथक् स्वदेश है।

जिन्ना ने स्पष्ट किया कि मुसलमान अपने धर्म को राजनीति से अलग नहीं रख सकते। उनकी मस्जिद केवल पूजा का स्थान नहीं, बल्कि उनका सभा-भवन भी होता है। मुसलमानों की अपनी विशिष्ट सभ्यता और संस्कृति, भाषा और साहित्य, कला और स्थापत्य, नाम और उपनाम, कानून और नैतिकता, रीति-रिवाज और पंचांग, इतिहास और परंपरा रूझान और आंकांक्षायें हैं। इसलिए मुसलमान एक पृथक् राष्ट्र हैं। वे हिन्दुओं के साथ रहकर अपना विकास नहीं कर सकते।

जिन्ना ने तर्क दिया कि यदि स्वाधीनता के बाद भारत में पश्चिमी ढ़ंग का लोकतंत्र स्थापित किया जायेगा तो इसका मतलब होगा-मुसलमानों और अन्य अल्पसंख्यक वर्गो की इच्छा के विरूद्ध हिन्दू-राज्य की स्थापना। उसने कहा कि लोकतंत्र समतावादी समाज के लिए है, भारत जैसे विषम-जातीय देश में यह व्यवस्था नहीं चल सकती।

जिन्ना ने सम्प्रदायवाद का विष फैलाकर भारत का विभाजन कराने में सफलता प्राप्त की और विभाजन के पश्चात उसने स्वयं पाकिस्तान को एक धर्मनिरपेक्ष देश बनाने का प्रयास किया। जिन्ना का द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त 1971 में वंगलादेश के पाकिस्तान से स्वतंत्र होते ही झूठा साबित हो गया।

---

1 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ जिन्ना' मद्रास, गणेश एण्ड् कम्पनी, 1917, से उद्धृत।

अंग्रेजों के भारत आगमन से पूर्व यहाँ जितनी भी जातियाँ आई, वे अधिकाशत: इस देश में घुलमिल गयी। हिन्दू और मुसलमान उस हद तक तो नही मिल पाये थे, फिर भी वे साधारणत: मिलजुल कर रह रहे थे और एक मिली-जुली संस्कृति का हिस्सा बनते जा रहे थे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जो भारतीय मुस्लिम धर्म के प्रभाव से मुसलमान बने थे, वे सामान्तय: निर्धन और अशिक्षित वर्गो के लोग थे। मुस्लिम शासनकाल में उन्हें कुछ सामाजिक प्रतिष्ठा तो मिल गयी थी, परंतु उनकी आर्थिक स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ था। उद्योग, व्यापार, उच्च शिक्षा और सरकारी पदों पर हिन्दुओं की प्रधानता थी। इस कारण मुसलमानों में कुछ असंतोष व्याप्त था। अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवाद की जड़ों को मजबूत करने के लिए इस असंतोष से फायदा उठाते हुए मुसलमानों में इस विचार को बढ़ावा दिया कि उनकी दुर्दशा के लिए हिन्दू कौम जिम्मेंदार है।इस तरह मुस्लिम सम्प्रदायवाद को बढ़ावा मिला। उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दू-सम्प्रदायवाद का जन्म हुआ, जिससे मुस्लिम सम्प्रदायवाद और भी तीखा हो गया। देश को स्वाधीनता मिलने तक वह देश के विभाजन के रूप में सामने आया। इस तरह धर्म-निरपेक्ष भारत के साथ-साथ एक नया देश पाकिस्तान अस्तित्व में आ गया, जो सम्प्रदायवादी मुस्लिम वर्ग की माँगों और आकांक्षाओं का परिणाम था।

भाग-5

मानव वादी विचारधारा

मानववादी विचार धारा के भारतीय विचारकों मे प्रमुख है - स्वामीविवेका नन्द कविवर रविन्द्र नाथ टैगोर तथा मानवेन्द्र नाथ राय।

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902)

हिन्दू नेपोलियन स्वामी विवेकानन्द अद्धैत वेदान्त के महान प्रतिपादक थे। स्वामी जी ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में कभी भाग नहीं लिया, किन्तु अपनी प्रखर प्रतिभा से उन्होने देश में स्वतंत्रता-प्रेम की ज्योति जला दी और राष्ट्रीय गौरव के प्रति चेतना

जागृत की । जिस समय पूर्व के देशो में पश्चिम की महानता का बोलबाला था, ऐसे समय स्वामी जी ने पश्चिम को पूर्व की महानता का प्रमाण देकर चकित और चमत्कृत कर दिया।

एक सन्यासी दार्शनिक के नाते स्वामी विवेकानन्द का मुख्य सरोकार सत्य और सच्चिदानन्द की धारणा से था। ब्रह्म का अर्थ है-परम सत् और सच्चिदानन्द से अभिप्राय है परम शुद्ध सत् ज्ञान और आनन्द। परम बह्म या परमात्मा की सेवा और ध्यान में ही आत्मा का कल्याण निहित है। स्वामी जी ने तर्क दिया कि इस धरती का मानव समुदाय ही ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है।[1] इसलिए यदि ईश्वर की सेवा की चाह है तो मनुष्य सेवा की जाय, उस मनुष्य की, जिसे सेवा और सहायता की प्रबल आवश्यकता है। दीन दुःखी, असहाय और पीड़ित मानवता की सेवा ही ईश्वर की सच्ची सेवा हैं। स्वामी जी ने इसी सन्दर्भ में दरिद्र नारायण की संकल्पना प्रस्तुत की और कहा कि जब हम 'दरिद्र' को 'नारायण' मानकर उसकी सेवा और सहायता करेंगे तभी हमारी आत्मा इतनी पावन हो सकेगी कि उसे ईश्वर का साक्षात्कार हो जायेगा।[2]

स्वामी जी ने सामाजिक कुप्रथाओं की मर्त्सना की तथा भारतीय समाज में व्याप्त कठोर वर्ण-व्यवस्था को उदार बनाने की माँग की। उन्होंने अस्पृश्यता की अमानवीय प्रथा की तीव्र निन्दा करते हुए ब्राह्मणों के विशेषाधिकारवाद पर कड़ा प्रहार किया तथा शूद्रों को सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान से वंचित रखने की प्रथा का विरोध किया।[3]

स्वामी जी ने सब मनुष्यों की आध्यात्मिक समानता का समर्थन करते हुए तर्क दिया कि परम सत्य का ज्ञान सब मनुष्यो को सुलभ होना चाहिए, तभी दीन दुखियों के दासता के बन्धन टूटेंगे और सम्पूर्ण राष्ट्र का उत्थान होगा।[4]

---

1 द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम, जिल्द 5, पृ0 208-209।
2 द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम, चतुर्थ संस्करण, 1953, जिल्द 1, पृ0 306-307।
3 द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम, चतुर्थ संस्करण, 1953, जिल्द 1, पृ0 137।
4 द कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, अल्मोड़ा, अद्वैत आश्रम, जिल्द 4, पृ0 107-109।

स्वामी जी का यह मानना था कि आज का संसार परस्पर विरोधी अधिकारों के संघर्ष में उलझा है । यह दु:ख और अशांति का एक प्रमुख कारण है। मनुष्यों को इसका त्याग कर कर्तव्य-पालन पर ध्यान देना चाहिए। मनुष्य का गौरव और उसकी प्रतिष्ठा स्वार्थ-साधन में न होकर विश्व-कल्याण के लिए आत्म-बलिदान में निहित है। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं संन्यासी होते हुए भी ऐसे गृहस्थ को सराहनीय माना, जो निष्काम भाव से अपना कर्तव्य पालन करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिक स्वतंत्रता की मांग की। उनका कहना था कि जिस प्रकार पीड़ित मानवता की सेवा से मुँह मोड़कर ईश्वर की सेवा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार पराधीन देश की स्वतंत्रता की चिंता छोड़कर आध्यात्मिक स्वतंत्रता की तलाश करना व्यर्थ है। उन्होने अपने 'संन्यासी गीत' नामक कविता में यह घोषित किया कि मातृभूमि की नि: स्वार्थ सेवा ही सच्चा कर्मयोग है। उनका कहना था कि सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति के द्वारा मुख्य रूप से स्वतंत्रता की ही खोज कर रहा है। वे स्वतंत्रता के प्रकाश को वृद्धि की एक मात्र शर्त मानते थे।

स्वामी जी ने मनुष्य की सम्पूर्ण और सर्वव्यापक स्वतंत्रता पर बल दिया। उनका कहना था कि भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होना तथा दूसरो को इस ओर अग्रसर होने में सहायता देना सबसे बड़ा सत्कर्म है। जो सामाजिक नियम स्वतंत्रता की सिद्धि में बाधक हो, उनका निराकरण करना चाहिए। जो संस्थाएं स्वतंत्रता को बढ़ाने में सहायक हो, उन्हे बढ़ावा देना चाहिए।[1] स्वतंत्रता यह मांग करती है कि सब व्यक्तियों को सम्पदा, शिक्षा और ज्ञान अर्जित करने के समान अवसर प्राप्त हों।[2]

स्वामी विवेकानन्द का व्यवहारिक राजनीति से कोई सरोकार नहीं था[3] लेकिन उन्होने भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध कर विदेशी शासन की निरर्थकता को स्पष्ट कर दिया था। उन्होंने सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत के यूरोपियकरण का विरोध किया

---

1 द लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द, भाग-2, पृ0 753

2 वहीं पृष्ठ 752 ।

3 वहीं पृष्ठ 407 ।

तथा तर्क दिया कि अपनी विशिष्ट प्रकृति के अनुरूप ही अपना विकास करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द जी ने भारत माता की संकल्पना भगवती के रूप में की तथा राष्ट्र के पुनरूत्थान का दायित्व उन्होने हिन्दू धर्म को सौंपा। इसके बाद भी उनका विचार था कि जात-पात, आस्था धर्म इत्यादि के पीछे जिस 'मनुष्य' का अस्तित्व पाया जाता है, वह किसी तरह के भेद भाव को स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार उन्होंने सच्चे मानववाद और विश्वबन्धुत्व के आदर्शो को बढ़ावा दिया।

रविन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941)

प्रसिद्ध साहित्यकार , कलाकार, कविवर रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भारतीय इतिहास, दर्शन, समाज-व्यवस्था और संस्कृति का विश्लेषण करके उन तत्वों की पहचान की, जो समकालीन विश्व में मानव प्रगति के लिए सहायक हो सकते हैं। साथ ही उन्होने पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का गहन विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया कि उनकी भी कुछ विशेषताएं मानव प्रगति के लिए सहायक हो सकती हैं।

टैगोर ने व्यक्ति की सकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थन किया है जो उसके आत्म-साक्षात्कार में सार्थक होती है। यह व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वतंत्रता है।[1]

टैगोर सृष्टि को ईश्वर की लीला मानते है। इसलिए सृष्टि पर मनुष्य के अधिकार को वे स्वीकार नहीं कर सकता। उनका मानना है कि मनुष्य प्रकृति के सौंदर्य को पहचानकर, उसका आनन्द लेते हुए ही अपनी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है उस पर अपना नियंत्रण स्थापित करके नहीं।

टैगोर ने व्यक्ति आस्तित्व के दो रूप माना है। एक भौतिक आस्तित्व जो विश्वजनीन नियमों से बंधा है; यहां मानव- मानव में समानता है, दूसरा, उसका आध्यात्मिक अस्तित्व ,जो व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से पृथक् सिद्ध करता है। यह वैयक्तिकता ही मनुष्य की अमूल्य निधि है, जो उसके 'परम धर्म' या जीवन के मूल उद्देश्य को निर्धारित करती है। इसी आधार पर टैगोर ने शक्ति के केन्द्रीकरण का

---

1 रवीन्द्र नाथ टैगोर: लवर्स गिफ्ट एण्ड कासिंग पृ0 91।

विरोध किया। उनका मानना था कि यांत्रिक रूढ़ियों और संकीर्ण सामाजिक पंथो के दुष्प्रभाव को कम या समाप्त करने का एकमात्र तरीका स्वतंत्रता है।[1]

टैगोर ने सकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थन किया, जिसमें मनुष्य अपनी स्वतंत्रता पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के रूप में प्राप्त नहीं कर सकते, बल्कि समाज के परस्पर-आश्रित अंगों के रूप में इसे साकार कर सकते हैं। समाज का निर्माण मनुष्य की आवश्यकता से नहीं हुआ, बल्कि वह उनके सृजनात्मक आनन्द की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'मानव धर्म' में लिखा है कि स्वतंत्रता के विकास का इतिहास मानव सम्बन्धों के उन्नयन का इतिहास है।

टैगोर ने समाज और राज्य में अन्तर किया है। समाज मनुष्यों का स्वाभाविक संगठन है, जो उनकी परस्पर सद्भावना और सहयोग पर आश्रित है। जो राज्य एक कृत्रिम संगठन है, जो संगठित शक्ति का मूर्त रूप है। प्राचीन भारत में जीवन के सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र एक दूसरे से पृथक रहते थे। इसीलिए भारतीय सभ्यता आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है।[2]

इसके विपरीत पश्चिमी जगत में समाज के कार्यो को राज्य ने हड़प लिया है, जिसके फलस्वरूप 'व्यक्ति 'और 'समाज' दोनों अशक्त हो गये। प्रचार की कला आधुनिक राज्य की आधार शिला है, जिसने जनसाधारण की विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को निरर्थक बना दिया है।[3] टैगोर का विचार था कि समाज के सृजनात्मक विचारों को राज्य-संगठन के यंत्रीय ढ़ाचे के अंर्तगत साकार नहीं किया जा सकता।[4] उन्होंने शक्ति के जमाव के स्थान पर शक्ति के फैलाव का समर्थन किया जिससे हर व्यक्ति समाज की सृजनात्मक गतिविधियो में सक्रिय हिस्सा ले सके।[5] इसके लिए उन्होंने गांवो में प्रत्यक्ष लोकतंत्र के पुनरूत्थान का आह्वान किया।[6]

---

1 रवीन्द्र नाथ टैगोर: गीतांजलि, इण्डियन प्रेस प्रयाग, 1914, पृ0 28।
2 रवीन्द्र नाथ टैगोर: नेशनलिल्म, पृ0 9 ।
3 रवीन्द्र नाथ टैगोर: 'मदर्स प्रेयर'द फजीटिव, पृ0 95-110।
4 रवीन्द्र नाथ टैगोर: क्रिएटिव यूनिटी,मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1920, पृ0 125-127 ।
5 वही ।
6 सभ्यतार में रवीन्द्र नाथ टैगोर: ने विकेन्द्रीकृत शासन प्रणाली की प्रशंसा की है।

टैगोर ने यूरोपीय राज्य -व्यवस्था और भौतिकवादी संस्कृति को भारत में अपनाने का विरोध किया था, लेकिन उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के कुछ गुणों को अपनाने का आग्रह भी किया था, विशेष रूप से वैज्ञानिक अन्वेषण, साहसी प्रवृत्ति, न्याय-बोध, समानता के प्रति प्रेम, कानून के प्रति सम्मान और अनुशासन को महत्व देने की पश्चिमी सांस्कृतिक भावना-मानव प्रगति के लिए अत्यंत आवश्यक होने के कारण भारत के लिए नितान्त आवश्यक है।[1]

टैगोर ने पश्चिम के राष्ट्रवाद की आलोचना की थी, क्योकि इसके कारण व्यक्ति और समाज की सृजनात्मक क्षमता का ह्रास होता है। उनका मानना था कि राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति ने ही यूरोपीय साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया था, जिसके कारण पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने उपनिवेशों का भरपूर शोषण तो किया, परन्तु पश्चिमी सभ्यता का लाभ उन तक नहीं पहुँचने दिया। राष्ट्रवाद के विकास के परिणाम स्वरूप मनुष्य मनुष्य का सबसे बड़ा बैरी बन गया है। टैगोर ने बताया कि इस अभिशाप से मुक्ति का उपाय यह है कि राष्ट्रीय भेदभाव की दीवार गिरा दी जाय और मानवीय सम्बन्धों को विश्व स्तर पर परस्पर सद्भावना सहृदयता और सहयोग के आधार पर फिर से जोड़ दिया जाय।[2]

टैगोर का मानववाद आध्यात्मिक मानववाद है, जिसमें मनुष्य को अनन्त के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न किया जाता है। टैगोर की आस्था सार्वभौम मानव में थी।[3] व्यक्तिगत मनुष्य सृजनशील ईश्वर का प्रतिरूप है।[4] मनुष्य की आत्मा वाह्य जगत की वस्तुओं की अपेक्षा ईश्वर की अधिक उच्चतर अभिव्यक्ति है, लेकिन शासन और संगठित शक्ति के द्वारा राज्य ने मनुष्य की आत्मा को कुचल दिया है। इसलिए टैगोर आनन्द और सौन्दर्य की अनुभूति द्वारा मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाना चाहते थे।[5]

---

1 डॉ0 बी0वी0 वर्मा: आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, पृ0 100-101
2 रवीन्द्र नाथ टैगोर: 'नेशलिज्म' के विभिनन पृष्ठों से।
3 रवीन्द्र नाथ टैगोर: द रिलिजन ऑफ मैन, पृ0 112
4 टैगोर, स्ट्रे वर्ड्स, पृ0 51।
5 टैगोर : रिजिलन ऑफ मैन, पृ0 100-120

वे चाहते थे कि समाज के निम्नतम वर्गो को भी शिक्षा की समान सुविधाएं प्राप्त हों[1] उन्होने अस्पृश्यता को समाप्त करने का आह्वान किया[2] उन्होंने कहा कि अनन्त की पूजा एकाकी तथा बहिष्कृत व्यक्ति एवं जर्जरित शरीर के पवित्रीकरण में ही की जा सकती है।[3]

टैगोर का मानव वाद राष्ट्रीयता की सीमा से बाहर अंतर्राष्ट्रवाद का पक्षपोषक था। वे चाहते थे कि मानव समाज में सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय अन्योन्याश्रिता तथा आध्यात्मिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा हो।[4]

इस प्रकार टैगोर ने एक मावनतावादी के रूप में साम्राज्यावाद तथा उपनिवेशवाद की निन्दा की थी तथा प्रत्येक मानव के उच्चतम विकास का समर्थन किया था उनका विश्वभारती विश्वविद्यालय इसका उदाहरण है। उन्होंने विश्व को ईश्वर की अनुकृति माना था, जहां मानव मानव के बीच भेदभाव नहीं होना चाहिए वस्तुतः वस्तुतः टैगोर सच्चे अर्थो में मानवतावादी थे।

मानवेन्द्र नाथ राय (1886-1954)

मानवेन्द्र नाथ राय ने जिस मानववाद की, संकल्पना प्रस्तुत की उसे नव-मानव वाद या वैज्ञानिक मानववाद की संज्ञा दी गयी है। इस नव-मानववाद की संकल्पना उन्होंने अपनी कृतियो- न्यू ह्यूमनिज्म ए: मैनीफेस्टो रीजन, रोमेटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन,' साईटिफिक पॉलिटिक्स और 'द प्राब्लम ऑफ फ्रीडम' आदि में प्रस्तुत की है। राय के नव मानववाद का मूल स्वर मनुष्य की स्वतंत्रता है, जो उसकी सृजनात्मक शक्तियों के प्रयोग में निहित है। उनका मानना था कि लाइबनित्ज तथा काल्विन द्वारा प्रतिपादित पूर्व-नियतिवाद तथा पूर्व-स्थापित सामंजस्य की धारणाएं स्वतंत्रता के आदर्श के विपरीत है। प्रयोजनवाद तथा स्वतंत्रता में परस्पर विरोध है।[5] इसी आधार पर राय ने मार्क्सवाद

1 टैगोर : ब्राह्मण (18-2-1895, एकोत्तर शती, पृ0 107--112)
2 "अपमानित" (4.7.1910, गीतांजलि)
3 टैगोर, : द रिलिजन ऑफ मैन, पृ0 186।
4 वही, पृ0 17
5 एम.एन.राय:, फ्रेगमेन्ट ऑफ ए प्रिजनर्स डायरी, देहरादून इण्डियन रेनासां एसोसिएशन लि0 1941, पृ0 38

की आलोचना की थी कि आर्थिक नियतिवाद ने इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को हेतुवादी रूप प्रदान किया है।[1] राय ने हाब्स तथा डार्विन की तरह जीवन तथा आत्म-परिरक्षण के संघर्ष को स्वतंत्रता का मूल स्रोत माना है। जीवन के लिये जो जैविक संर्घष चला करता है वही भावनात्मक और संज्ञानात्मक स्तर पर स्वतंत्रता की खोज का रूा धारण कर लेता है।[2] इस प्रकार स्वतंत्रता सामूहिक उन्नति और सामाजिक प्रगति की मूल प्रेरणा और अभिप्रेरणात्मक शक्ति हैं। स्वतंत्रता के तीन मुख्य स्तम्भ है- मानववाद, व्यक्तिवाद तंथा बुद्धिवाद।[3] राय का मानना था कि ज्ञान और विज्ञान की उन्नति ने यह सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि में कोई भी

ऐसी शक्ति नहीं है जिसे मनुष्य अपने ज्ञान और सूझ-बूझ के बल पर अपने वश में नहीं कर सकता। मनुष्य अपनी नियति का स्वयं नियन्ता है। किसी युग में मनुष्य अपनी नियति को कैसे नियत करेगा, यह ज्ञान-विज्ञान की उन्नति पर निर्भर है। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति की कोई सीमा नहीं है, इसलिए मनुष्य के भविष्य की कोई निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जा सकती। इस प्रकार नव-मानववाद स्वतंत्रता के प्रयोग की अनन्त संभावनाओ में आस्था रखते हुए उसे किसी ऐसी विचारधारा के साथ नहीं बांधना चाहता जो किसी पूर्व निर्धारित लक्ष्य की सिद्धि को ही उसके जीवन का ध्येय मानती हो।

राय ने बताया है कि आधुनिक सभ्यता जिस नैतिक तथा सांस्कृतिक संकट से गुजर रही है, उसे देखते हुए मानववादी मूल्यों का पुनः प्रतिपादन अत्यंत आवश्यक हो गया है। राय ने मनुष्य के विकास की धारणा को स्वीकार करते हुये बताया है कि मनुष्य भौतिक जगत से ही उत्पन्न हुआ है और इसलिये वह बौद्धिक प्राणी है। मनुष्य के जीवन तथा व्यक्तित्व में जो बुद्धि देखने को मिलती है, वह सार्वभौम सामंजस्य की ही प्रतिध्वनि है।[4] बुद्धि कोई सहज तात्विक वस्तु नहीं है, बल्कि जैविक

---

1 एम.एन.राय: न्यू ह्यूमनिज्म कलकत्ता रेनासां पब्लिशर्स, पृ0 23

2 वही, पृ0 52-53।

3 एम.एन.राय: द प्राब्लम ऑफ फ्रीडम, कलकत्ता रेनासां पब्लिशर्स, 1945 पृ0 61।

4 एम.एन.राय: यू ह्यूमनिज्म, पृ0 48

विकास की प्रक्रिया में ही उसका प्रादुर्भाव हुआ है। नैतिक मापदण्डों को भी मानव बुद्धि की इसी कसौटी पर परखना होगा। मानव सामाजिक सामंजस्य तथा कल्याणकारी सामाजिक मेल-मिलाप की खोज करता है, इसी के फलरूवरूप नैतिकता का जन्म होता है नव- मानववाद मनु८य को सामाजिक सम्बन्धों से हीन न मानकर सामाजिक सम्बन्धो की समग्रता में विश्वास करता है। शाश्वत एवं अपवर्तनीय मानव स्वभाव उसकी केन्द्रिय मान्यता नहीं है।[1]

नवीन मानववाद राष्ट्रवाद के स्थान पर विश्व भ्रातृत्व को मान्यता देता है। क्योंकि राष्ट्रवाद का आधार जातिगत विद्वेष है और जिस सीमा तक वह सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा करता है, वहाँ तक प्रतिक्रियावादी है।[2] इसलिए राष्ट्रवाद की अपेक्षा विश्व बन्धुत्व की आवश्यकता है राय ने बताया है कि नवीन मानव वाद विश्वराज्यवादी है। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तियों का विश्व राज्य राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं से परिबद्ध नहीं होगा वे राज्य चाहे पूँजीवादी, फासीवादी, समाजवादी, साम्यवादी अथवा अन्य किसी प्रकार के क्यों न हों? राष्ट्रीय राज्य मानव के बीसवी शताब्दी के पुनर्जागरण के आघात से धीरे-धीरे विलुप्त हो जायेंगे।[3] राय ने विश्व राज्यवाद तथा अंतर्राष्ट्रवाद के बीच भेद किया है। अन्तर्राष्ट्रवाद में पृथक राष्ट्रीय राज्यों के आस्तित्व का विचार निहित है। उनके अनुसार एक सच्ची विश्व सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यों का निराकरण करके ही जा सकती है।[4] एम0 एन0 राय ने विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया है, क्योकि केन्द्रकरण स्वतंत्र अभिक्रम तथा स्वतंत्र निर्णय का निरोध करता है। इसलिए उन्होने संगठित लोकतंत्र[5] का निरूपण किया, जिसके अन्तर्गत शिखर पर बैठा हुआ कोई सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न व्यक्ति आदेश नहीं देगा, बल्कि शक्ति जनता की स्थानीय समितियों के हाथों में होगी। उन्होंने एक ऐसी

---

1 एम.एन.राय: हेरेसिस ऑफ द ट्वेन्टीज सेन्चुरी, दार्शनिक निबन्ध, मुरादाबाद, प्रदीप कार्यालय, 1940, पृ0 165-66।

2 एम.एन.राय: द प्रांब्लम ऑफ फ्रीडम, कलकत्ता रेनासां पब्लिशर्स, 1945 पृ0 111-116।

3 एम.एन.राय, रीजन, रोमांटिसिज्म एण्ड रीवोल्यूशन, कलकत्ता देना'सांपब्लिशर्स, 1955,जि02, पृ0 310।

4 न्यू ह्यूमनिज्म पृ050।

5 वही, पृ0 12।

सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की है, जिसमें सामाजिक प्रविधि और मानव बुद्धि तथा निर्माण की संग्रहीत शक्तियों को व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सामाजिक कल्याण एवं प्रगति के आदर्शो के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिये प्रयोग किया जायेगा।[1] राय व्यक्तिवाद को लोकतंत्र का सैद्धान्तिक आधार मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति परिवार ही नहीं, बल्कि समाज से भी पहले का है। समाज का जन्म व्यक्तियों के ऐच्छिक समुदाय के रूप में हुआ है।[2] व्यापक सामाजिक व्यक्तिवाद में यह निहित है कि स्त्रियों पर जो अनेक प्रतिबन्ध है, वे हटा दिये जायँ। राय पितृसत्ता पर आधारित संयुक्त परिवार की प्रथा को अतीत का एक सवशेष मानते हैं। उन्होंने स्त्रियों की स्वतंत्रता की वृद्धि करने का समर्थन किया है।[3]

इस प्रकार राय ने मानव के बौद्धिक पुनर्जागरण को उसके राजनीतिक और सामाजिक पुननिर्माण की जरूरी शर्त माना है। स्वतंत्रता की क्षमता स्वयं मनुष्य में निहित है। यदि है। यदि मनुष्य अपनी सृजनात्मक शक्तियों के प्रति सजग हो जाय, तो वह परम्परागत धार्मिक सत्ता और अलौकिकवाद के बंधनो को काटकर आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है।स्वतंत्र मनुष्य ही स्वतंत्र समाज का निर्माण कर सकते है। राय ज्ञान के अनंत विस्तार और मानव विकास की अनंत सभावनाओं के प्रति आस्थावान हैं। चूँकि इस विकास की कोई सीमा नहीं है, इसलिए हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर इसका कोई पूर्व-निर्धारित लक्ष्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता की पहली शर्त वर्तमान बंधनो को तोड़ना है। पिजरा तोड़ देने पर पंछी खुले आकाश में किधर उड़ेगा? यह तय करने का प्रयत्न निरर्थक है।

---

1 वही, पृ0 21।

2 एम.एन.राय: फ्रेगमेन्ट ऑफ ए प्रिजनर्स डायरी, जि02, पृ0 83।

3 वही, पृ0- 60-61।

भाग-6

गाँधीवादी विचारधारा

वस्तुतः गाँधी जी शुद्ध राजनीतिक विचारक नहीं थे, बल्कि सच्चे कर्मयोगी थे। राजनीति को उन्होंने विशाल धार्मिक और नैतिक लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपनाया। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया था कि 'गाँधीवाद' नाम की किसी विचारधारा का अस्तित्व नहीं है।व्यावहारिक जीवन में जो समस्यायें समय-समय पर उनके सामने आई, उनका समाधान करने में उन्होंने कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन्हीं सिद्धान्तों को हम गाँधीवाद के नाम से जानते हैं। सत्य और अहिंसा उनके जीवन के मूलमंत्र थे, जिसके आधार पर उन्होंने सत्याग्रह की तकनीक विकसित की। इसके अतिरिक्त धर्म और राजनीति में सम्बन्ध, साधन और साध्य, राज्य के कार्यक्षेत्र, उनके आर्थिक और सामाजिक विचारों आदि का अध्ययन कर गाँधीवाद को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

गाँधी जी ने राजनीति और नीतिशास्त्र की परस्पर एकता स्वीकार करते हुए यह तर्क दिया कि राजनीति के क्षेत्र में साधन और साध्य दोनों पवित्र होने चाहिए। मैकियावेली के विपरीत उन्होंने साधन को साध्य पर वरीयता दी और बताया कि जैसे साधन होंगे वैसा ही साध्य होगा। साध्य की उत्पत्ति साधन से होती है। यदि साधन अनैतिक होंगे तो साध्य चाहे कितना ही नैतिक क्यों न हो, वे उसे निश्चय ही भ्रष्ट कर देंगे।[1]

गाँधी जी ने राजनीति को आध्यात्मिक आधार देकर उसे स्वच्छ रखने की प्रेरणा दी। क्योंकि जो राजनीति धर्म से विहीन है, वह मृत्युजाल के तुल्य है, जो आत्मा को पतन की ओर ले जाती है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि उनकी धर्मनिष्ठा ही उन्हें राजनीति के क्षेत्र में ले आयी। जो यह कहते है कि धर्म का राजनीति से कोई सरोकार नहीं है, वे धर्म का अर्थ ही नहीं जानते। धर्म को गाँधी जी ने कभी

---

1 स्टेनले जोंस, महात्मागांधी पृ0 114 ।

संकुचित अर्थ में नहीं लिया। उनके विचार से सब धर्मों का सार-तत्व एवं ध्येय एक जैसा है। वे धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता के समर्थक थे।[1] राजनीति के धार्मिक आधार से उनका तात्पर्य बस इतना था कि प्रत्येक राजनीतिक कृत्य अथवा संस्था को नैतिक कसौटी पर कसना आवश्यक है। भारतीयों की पराधीनता को उनके नैतिक उत्थान के मार्ग में बाधक जानकर ही उन्होंने स्वतंत्रता के आन्दोलन में भाग लिया। राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ उन्होंने आर्थिक स्वतंत्रता को समान महत्वपूर्ण माना और चर्खा, खादी, कुटीर-उद्योग तथा स्वदेशी वस्तु के प्रयोग का आन्दोलन चलाया।

उन्होंने समस्त भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के स्थान पर आवश्यकताओं को संयत करने पर बल दिया। श्रम को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए उन्होंने कहा कि प्रत्येक सक्षम व्यक्ति को शारीरिक श्रम द्वारा अपनी भौतिक आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन करना चाहिए। जब सभी श्रमशील होंगे तो सामाजिक विषमता भी समाप्त हो जायेगी। उत्पादन बढ़ाकर सभी की आवश्यकताओं को पूरा करने की साम्यवादी आन्दोलन का उन्होंने समर्थन नहीं किया। उनका कहना था कि इच्छाओं को संयत करके ही पूर्ण किया जा सकता है, तृष्णा की प्राप्ति का कोई मार्ग नहीं।[2] गाँधी जी ने सांसारिक ऐश्वर्य और रस-विलासमय जीवन की अपेक्षा त्याग और संयम का जीवन विताने की शिक्षा दी क्योंकि वही मनुष्य के नैतिक जीवन को सार्थक बना सकता है।

गाँधी जी ने राजनीति में नैतिकता का समावेश करते हुए राजनीतिक कार्यवाही के लिए सत्याग्रह का सिद्धान्त दिया। उन्होंने अपने समस्त कार्यकलापों को सत्य ओर अहिंसा पर आधारित किया। उन्होंने बताया कि 'मेरे निरन्तर अनुभव ने मुझे विश्वास दिला दिया है कि सत्य से भिन्न कोई ईश्वर नहीं है और सत्य की सिद्धि का एकमात्र उपाय अहिंसा है। अहिंसा की पूर्ण सिद्धि से ही सत्य का पूर्ण साक्षात्कार किया जा सकता है।'[3] वस्तुतः सत्य की सिद्धि और ईश्वर की प्राप्ति एक ही बात है,

1 यंगइण्डिया, 12-5-1920 ।

2 रोनाल्ड रोमैन : महात्मागांधी, पेरिस, 1924, पृ० 69 ।

3 गांधी जी : आत्मकथा, सस्ता साहित्य, मण्डल दिल्ली, 2 खण्ड, पृ० 101

वही मानव जीवन का लक्ष्य है। इसीलिए गाँधी जी कहते हैं कि विश्व के समस्त जीवों से प्यार करो। धरती का निम्नतम कोटि का प्राणी भी ईश्वर का प्रतिरूप होने के कारण तुम्हारे प्यार का अधिकारी है। जो अपने साथ जीवन बिताने वाले मनुष्यों से प्यार करता है, वही ईश्वर से प्यार करता है।[1]

गाँधी जी की अहिंसा का सकारात्मक पक्ष है-मानव प्रेम। वे बाइबिल की इस उक्ति को मानते थे कि "पाप से घृणा करो,पापी से नहीं।" यदि कोई पापी तुम्हारे सम्पर्क में आता है तो अपने चरित्र-बल से उसे भी पाप-मुक्त कर सत्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करो। गाँधी जी की अहिंसा निर्बल ब्यक्ति का आश्रय न होकर शक्तिशाली का अस्त्र है। इसके द्वारा विरोधी के हृदय पर विजय प्राप्त की जाती है। यह भौतिक शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति के आगे झुकाने की कला है।

सत्य और अहिंसा के अटूट सम्बन्ध से ही 'सत्याग्रह' का विचार जन्म लेता है। वस्तुत: सत्याग्रह ही सामाजिक क्रान्ति का गाँधीवादी तरीका है। गाँधी जी का कहना था कि जब अहिंसा का पालन करते हुए मनुष्य आत्मशुद्धि कर लेता है तो उसका अन्त:करण ही सत्य का दर्पण बन जाता है। सत्य की सिद्धि कठिन तो है, परन्तु अंतत: विजय उसी की होती है। सत्याग्रही कभी पराजय स्वीकार नहीं करता। स्वयं सत्य पर दृढ़ रहकर ही वह अपने विरोधी का हृदय परिवर्तत करने को तत्पर होता है उसे पीड़ा पहुँचाकर नहीं (क्योंकि अहिंसा सत्याग्रह की आवश्यक शर्त है)। सत्याग्रही स्वयं को कष्ट पहुँचाकर, जैसे कि अनशन करके अथवा कारावास की यातना सहन करके विरोधी के मन को आन्दोलित कर देता है, जिससे वह अंतत: अन्याय के मार्ग से हटकर न्याय के मार्ग पर चलने के लिए नैतिक रूप से विवश हो जाता है।

सत्याग्रह का विचार राज्य की असीम प्रभुसत्ता को स्वीकार नहीं करता। यदि राज्य की आज्ञा व्यक्ति की अंतरात्मा से प्रेरित सत्य के अनुरूप है तो वह उसका पालन करेगा, यदि वह इसके प्रतिकूल है, तो उसे इसके विरोध का अधिकार है। यदि

---

1 जी0एन0धवन : द पॉलिटिकल फिलास्फी ऑफ महात्मागाँधी बाम्बे, 1946, पृ0 102 ।

आज्ञा पालन हेतु उस पर बल-प्रयोग किया जाता है तो उसे 'सत्याग्रह' की विधि से उसका तब तक विरोध करना चाहिए, जब तक अत्याचारी के मन में न्यायबोध जागृत न हो जाय। फिर भी राज्य का विरोध करने का अधिकार गाँधी जी विशेष परिस्थिति में देते हैं क्योंकि ऐसे विरोध से अव्यवस्था या अराजकता की स्थिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए और किसी भी स्थिति में हिंसा नहीं फैलनी चाहिए। सत्याग्रह द्वारा विरोधी को नैतिक दबाव द्वारा बाध्य करने का रास्ता तब अपनाना चाहिए जब संवैधानिक साधन विफल हो गये हों।

गाँधी जी के 'सविनय अवज्ञा' का विचार उनके 'सत्याग्रह' सिद्धान्त से निकट से जुड़ा है। 'सविनय अवज्ञा' का मूल अर्थ है- ऐसे कानून का उल्लंघन जो स्वयं अन्यायपूर्ण हों। गाँधी जी के अनुसार सविनय अवज्ञा का अर्थ है कि सामान्य रूप से कानून का हार्दिक सम्मान किया जाय, केवल अन्यायपूर्ण कानून को तोड़ा जाए, ऐसे कानून का उल्लंघन सर्वथा अहिंसात्मक ढ़ंग से होना चाहिए, यह कार्यवाही सार्वजनिक रूप से होनी चाहिए- छिपकर नहीं, और कानून तोड़ने पर जो दंड मिले, उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए। फिर सविनय अवज्ञा का सहारा तभी लेना चाहिए, जब अनुनय-विनय के सारे प्रयास किये जा चुकें हों और वे विफल हो चुके हों।

गाँधी जी ने उपरोक्त सिद्धान्तों की ब्याख्या करने के बाद अपने आदर्श राज्य की संकल्पना प्रस्तुत की, जो उनके विचारों को संगठित करने पर उभरकर आता है। गाँधी जी के राज्य की सर्वप्रथम विशेषता है- अहिंसा पर आधारित राज्य, अर्थात गाँधी जी के राज्य में राजनीतिक शक्ति की कोई जरूरत नहीं होगी। अहिंसा के सिद्धान्त के कारण ही गाँधी जी को दार्शनिक अराजकतावादी कहा जाता है, क्योंकि गाँधी जी का मानना था कि राज्य की नींव 'हिंसा' पर है, अहिंसामय समाज में उसका कोई स्थान नहीं हो सकता। उन्होंने ब्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक मानकर भी राज्य को अनुचित ठहराया क्योंकि राज्य बल-प्रयोग के द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करता है। राज्य ब्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में ब्यवधान ही उपस्थित करता है, सहायक नहीं हो सकता।

गाँधी के राज्य में हिंसा को कोई स्थान नहीं होगा। जब प्रत्येक ब्यक्ति का व्यवहार अहिंसा की भावना से प्रेरित होगा, तो बाह्य नियंत्रण के किसी अभिकरण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सामाजिक जीवन का संचालन इस प्रकार से होगा कि प्रत्येक ब्यक्ति के कार्यकलाप सम्पूर्ण समाज के हित की दिशा में अग्रसर होंगे। यहाँ गाँधी जी सामाजिक नवनिर्माण का सूत्रपात ब्यक्ति के चारित्रिक पुनर्निर्माण से करते हैं। गाँधी जी के राज्य के मुख्य लक्षण हैं- सत्य के प्रति सभी नागरिकों की अनन्य निष्ठा, अहिंसा के सिद्धान्त पर चरित्र का उच्चतम विकास, स्थिति और अवसर की समानता, आवश्यकता पूर्ति और सुख के साधनों का समान वितरण, राज्य के नियंत्रण की अनावश्यकता, शक्ति का विकेन्द्रीकरण, शाश्वत शांति, सौहार्द्र, सामंजस्य, युद्ध और प्रतियोगिता से मुक्ति तथा ऐसी अधिकतम वैयक्तिक स्वतंत्रता, जो सामाजिक ब्यवस्था के साथ निभ सकती हो। ऐसा राज्य आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों का संघ होगा, जिसमें ऐच्छिक सहकारिता परस्पर सम्मान और शांतिपूर्ण सह- अस्तित्व का आधार होगी। प्रत्येक ब्यक्ति अध्यात्म-तत्व के प्रति सजग होगा तथा सामाजिक सेवा की भावना से प्रेरित होकर सरल और संयमित जीवन व्यतीत करेगा। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन विकेन्द्रीकरण के आधार पर संगठित होगा। 'सर्वोदय' के सिद्धान्त के द्वारा दलित वर्गो के उत्थान को विशेष महत्व दिया जायेगा। यहाँ गाँधी जी 'ट्रस्टीशिप' सिद्धान्त में विश्वास करते हुए यह आशा व्यक्त करते हैं कि धनवान वर्ग स्वेच्छा और आत्मप्रेरणा से अपना धन निर्धन वर्ग के कल्याण में लगाकर आत्मसंयम और विशाल हृदयता का परिचय देगा और अपना आध्यात्मिक स्तर उन्नत कर लेगा। गाँधी जी पूँजीपतियों के हृदय परिवर्तन की अपेक्षा करते है जिससे पूँजीपति अपनी संपत्ति को उपभोक्ताओं की धरोहर समझें। गाँधी जी बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना को अनावश्यक मानते हैं, फिर भी वे उन्हें तब तक बनाए रखना चाहते हैं, जब तक कि सभी लोग सारे यांत्रिक साधनों के बिना काम चलाने के अभ्यस्त नहीं हो जाते।

भाग-7

महामना मालवीय जी की विचारधारा

इस प्रकार तत्कालीन भारत की उदारवादी विचारधारा मुख्यत: ब्रिटिश उदारवाद की मान्यताओं से प्रभावित थी। इस विचारधारा में ब्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करते समय ब्यक्ति को साध्य और समाज को साधन माना जाता है तथा यह विश्वास किया जाता है कि किसी समाज में ब्यक्ति को आत्मनिर्णय के लिए जितनी स्वतंत्रता प्राप्त होगी, वह समाज उतनी ही प्रगति कर पायेगा।

आधुनिक भारत के उदारवादी विचारक अपनी इस मान्यता के कारण भारतीय परम्परा एवं समाज ब्यवस्था के आलोचक बन गये। उनका विचार था कि भारतीय परम्परा में ब्यक्ति और समाज का परस्पर सम्बन्ध तर्कसंगत नहीं था, इसमें समाज को प्रधान मानते हुए ब्यक्ति की स्थिति गौण हो गयी थी। यही भारत की दुर्दशा का मूल कारण था। समाज में ब्यक्ति की स्थिति के प्रति इस उदासीनता ने ही प्राचीन भारत की महान सभ्यता को पतन के गर्त में धकेल दिया था। उनका विश्वास था कि जब तक तर्कबुद्धि के आधार पर भारत के सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण नहीं किया जाता, तब तक भारत न तो स्वतंत्र अनुभव कर सकता है, न ही महान बन सकता है।इन विचारकों का यह दृष्टिकोण था कि भारत की सदियों पुरानी गुलामी के बीज उसकी समाज ब्यवस्था में निहित थे, उसे अपनी इस स्वाभाविक दासता से मुक्त करने के लिए धर्मसुधार जैसे महान परिवर्तन की जरूरत थी। अत: उदारवादियों ने सम्पूर्ण सामाजिक संगठन को एक ऐसे नये रूप में ढालने की वकालत की, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय की ज्यादा से ज्यादा गुंजाइश हो।

अधिकांश उदारवादियों ने भारत में ब्रिटिश शासन के आगमन को सामाजिक पुनर्निर्माण के एक अवसर के रूप में देखा। उन्होंने अंग्रेजों को आधुनिकता का प्रतीक मानते हुए भारत में अंग्रेजी राज्य को आधुनिकीकरण के साधन के रूप में सराहा। भारतीय समाज को अंधविश्वास, कुरीतियों, निर्धनता और अज्ञान से मुक्त कराने के

ध्येय से उन्होंने ब्रिटिश शासन से सहायता माँगने की नीति को बढ़ावा दिया। उन्हें आशा थी कि वे अंग्रेजों के मन में न्याय भावना को जगाकर भारत के सामाजिक पुनर्निर्माण का लक्ष्य पूरा कर लेंगे। भारतीय उदारवादियों की सबसे बड़ी बिडम्बना यह थी कि वे विदेशी शासन के माध्यम से राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने का अनोखा स्वप्न देख रहे थे।

इसके विपरीत आधुनिक भारत की आदर्शवादी विचारधारा थी--

यूरोप के आदर्शवादियों की भांति आधुनिक भारत के आदर्शवादी विचारक भी यह मानते है कि सृष्टि का प्रकट रूप वस्तुत: इसमें निहित प्रत्ययों की अभिव्यक्ति है, क्योंकि प्रत्यय या चेतना ही सृष्टि का सार-तत्व है। अत: प्रत्येक सामाजिक संस्था किसी न किसी प्रत्यय की अभिव्यक्ति है। आंगिक सिद्धान्त का समर्थन करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया कि मनुष्य के शरीर में उसकी आत्मा के कारण ही जीवन का संचार होता है, अन्यथा शरीर जड़ है, जबकि आत्मा चेतन तत्व है। मनुष्य का विकास उसकी आत्मा के विकास से निर्धारित होता है। यही चेतन तत्व (आत्मा) मनुष्यों को एक-दूसरे से मिलाकर समाज, संस्था या समुदाय के रूप में सम्बद्ध करती है। प्रत्येक समुदाय अपनी-अपनी चेतना के विकास के स्तर के अनुरूप अपनी-अपनी परम्परायें और संस्कृति विकसित करता है। इस तर्क के आधार पर भारतीय आदर्शवादियों ने यह मान्यता प्रस्तुत की कि भारत अपनी तरह का एक समुदाय है, उसकी अपनी संस्कृति है,अपनी परम्परायें हैं, अपना ब्यक्तितत्व है। उसके इस ब्यक्तितत्व को कायम रखने में ही उसकी सार्थकता है, उसे किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाने का अर्थ होगा, सृष्टि की स्वाभाविक ब्यवस्था में बाधा डालना। इस प्रकार आदर्शवादी चिन्तकों ने भारत के लिए पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन किया तथा प्राचीन भारतीय संस्कुति का गौरवगान किया। भारतीय विचारकों ने भारत की राष्ट्रीय पहचान स्थापित करने और उसके आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन का निर्माण करने का संकल्प प्रस्तुत किया। भारतीय आदर्शवादी स्वदेशी का समर्थन करते थे तथा भारत राष्ट्र का सम्पूर्ण विकास उनके

चिन्तन का चरम लक्ष्य था। इस लक्ष्य को कार्यवाही के स्तर तक पहुँचाने का भी उन्होंने प्रयास किया था।

इसी प्रकार आधुनिक भारत की मानववादी विचारधारा मानव मात्र की स्वतंत्रता और कल्याण की कामना करती है। वस्तुतः मानववाद वह सिद्धान्त, दृष्टिकोण या जीवन-पद्धति है, जिसमें मनुष्य की गरिमा और मूल्यवत्ता को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है और यह माना जाता है कि मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि या विवेक का प्रयोग करके आत्मसाक्षात्कार करने में समर्थ है। यह दृष्टिकोण जाति, धर्म या राष्ट्र की सीमाओं को तोड़कर मनुष्यमात्र को विवेकशील और सहृदय प्राणी मानता है, उसे अपने आप में साध्य स्वीकार करते हुए मनुष्य के अस्तित्व या गौरव को ही सृष्टि के सबसे मूल्यवान तत्व के रूप में मान्यता देता है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की चौथी विचारधारा सम्प्रदायवादियों की है। इसमें एक तरफ मुस्लिम सम्प्रदायवादी हैं, तो दूसरी तरफ हिन्दू सम्प्रदायवादी हैं। इसमें किस धारा का जन्म पहले हुआ, इस पर विवाद है, फिर भी जैसा कि गाँधी जी आदि लोगों ने स्वीकार किया था कि अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवाद की जड़ों को मजबूत करने के लिए "फूट डालो और राज करो" की नीति के तहत इस विचार को बढ़ावा दिया कि मुसलमानों की खराब आर्थिक स्थिति के लिए हिन्दू जिम्मेदार हैं। इस तरह मुस्लिम सम्प्रदायवाद की नींव पड़ी। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू सम्प्रदायवाद का जन्म हुआ, जिससे मुस्लिम सम्प्रदायवाद और भी तीब्रता से विकसित हुआ। देश के स्वाधीन होने तक वह देश के विभाजन के रूप में सामने आया। इसप्रकार धर्मनिरपेक्ष भारत के साथ-साथ एक नया देश पाकिस्तान अस्तित्व में आ गया, जो सम्प्रदायवादी मुस्लिमवर्ग की माँगों और आकाँक्षाओं का परिणाम था।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की एक अन्य विचारधारा समाजवादी विचारधारा है। यूरोप के समाजवादियों के समान भारत के समाजवादियों का भी मुख्य सरोकार निर्धन, कामगार वर्ग के हितों की रक्षा से था। लेकिन भारत की सामाजिक

व्यवस्था के अनुसार उन्होंने समाजवादी चिन्तन का विकास किया। भारत की शोषित वर्गों में ग्रामीण भूमिहीन मजदूर तथा किसान सर्वाधिक शोषित वर्ग हैं। इसलिए यहाँ ग्रामीण समस्याओं के विश्लेषण को प्रधानता दी गयी है। भारतीय समाजवादी भारत में प्रचलित जाति-संघर्ष एवं वर्ग - संघर्ष का अन्त करना चाहते थे। उन्होंने नियोजन की प्रणाली को स्वीकार किया, किन्तु वे चाहते थे कि खण्डश: 'नियोजन हो। यहाँ की परिस्थितियों में समग्र नियोजन लाभप्रद नही होगा। भारतीय समाजवादियों ने यह..महसूस.किया कि भारत में पूँजी निर्माण की समस्या अत्यंत विकट है। इसलिए यहाँ बचत के अतिरिक्त विदेशी ऋण भी आवश्यक है, किन्तु ऋण सर्वथा राजनीतिक शर्तो से मुक्त होना चाहिए।

भारतीय समाजवादी संसदीय शासन प्रणाली में विश्वास करते थे। वे राजनीतिक स्वतंत्रता और आर्थिक पुनर्निर्माण में समन्वय स्थापित कर विकास का रास्ता तय करना चाहते थे। वे सामाकि, आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उत्पादन के प्रमुख साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने के पक्ष में थे। यह ध्यातव्य है कि समाजवादी सिद्धान्ततः भौतिकवादी होते है, उन्हें अध्यात्मिक मूल्यों के प्रति विशेष आस्था नही होती है। भारत के कुछ समाजवादी विचारकों के मन में अध्यात्मिकता के प्रति झुकाव भी रहा परन्तु समाजवादी विचारधारा के प्रति लगाव के कारण उन्होंने वंचित वर्गो के भौतिक कल्याण के लक्ष्य को सबसे आगे रखा। गांधीवाद तथा भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था से प्रभावित होने के कारण उन्होंने हिंसात्मक क्रांति के विचार का परित्याग कर दिया। भारतीय समाजवादियों ने विकन्द्रीकृत व्यवस्था का समर्थन किया, जो भारतीय परम्पराओं के अनुकूल है।

उपरोक्त सभी विचारधाराओं के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की सर्वाधिक प्रभावपूर्व एवं महत्वपूर्ण विचारधारा गांधीवादी विचारधारा है, जिसे स्वयं इसके प्रणेता महात्मागाँधी ने विचारधारा मानने से इन्कार कर दिया था, किन्तु समकालीन विश्व में यह विचारधारा 'सत्य' और 'अहिंसा' के आदर्श पर टिकी हुई है और इसी से 'सत्याग्रह' 'सर्वोदय', सविनय अवज्ञा', 'असहयाग,' ट्रस्टीशिप', 'हिजरत', आदि सिद्धान्तों

का जन्म हुआ है। मानव समाज को वर्तमान दशा से उबारकर कल्याण की दिशा में ले जाने के लिए गाँधी जी न केवल हमें परम आदर्श की झलक दिखाते है, जिस तक पहुँचने के लिए समाज युगों तक प्रयत्नशील रहेगा,' बल्कि तात्कालिक प्रयोजन के लिए वे यथार्थ और आदर्श के बीच का मार्ग भी निर्दिष्ट करते है, जिसके माध्यम से सामाजिक नवनिर्माण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया जा सकता है।

उपरोक्त सभी विचारधाराओं का अस्तित्व तत्कालीन समाज में होने के कारण मालवीय जी उन सभी विचारधाराओं से प्रभावित थे।

वस्तुतः प्रत्येक विचारक अपने समय की परिस्थितियों में चिन्तन करता है। इसलिए उसके विचार तत्कालीन समय के विचारकों के विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। मालवीय जी के समय की परिस्थितियां अत्यंत गत्यात्मक थी। पूरे विश्व में औद्योगीकरण अन्यंत तीव्र गति से हो रहा था। वैज्ञानिक आविष्कारों से नयी प्रविधियों का जीवन में प्रयोग होने लगा था। इससे मानव जीवन अत्यन्त सुखी हो रहा था। नवीन खोजों के द्वारा न केवल विश्व, बल्कि समग्र ब्राह्माण्ड पर जीवन के अस्तित्व के बारे में परिकल्पना की जाने लगी थी।

इन सभी घटनाओं का प्रभाव राजनीतिक चिन्तन पर पड़े बिना न रह सका। तत्कालीन राजनीतिक चिन्तन में भी वैज्ञानिक प्राविधियों का प्रवेश होने लगा था, जिससे राजनीतिक शास्त्र राजनीति विज्ञान बनने की तरफ अग्रसर हो रहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीतिक चिन्तकों ने राजनीति विज्ञान को प्रतिष्ठित कर इसके क्षेत्र को पूरी तरह मूल्यों से पृथक करने का प्रयास किया तथा तथ्यों की प्रधानता स्थापित कर दी।

मालवीय जी के चिन्तन का काल उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवी शताब्दी के प्रथमार्द्ध का था।

इस काल में दो राजनीतिक विचारधाराओं में टकराव चल रहा था– उदारवादी विचारधारा तथा मार्क्सवादी विचारधारा। उदारवादी विचार की परंपरा पुरानी थी, जिसने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को दरकिनार कर राज्य की उत्पत्ति के मानवीय

सिद्धान्त की पुष्टि की। इससे मानव मात्र की गरिमा प्रतिष्ठित हुई तथा राज्य को मानव के कल्याण का साधन माना गया। उदारवादी चिन्तन के मूल में मानव की स्वतंत्रता थी, जिसके बाद उसने विचारों की स्वतंत्रता, चयन की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता आदि के लिए वकालत की। मालवीय जी इस चिंतन से प्रभावित थे। मालवीय जी ने भी मानवीय स्वतंत्रता की सदैव पैरवी की। उन्होंने निरंकुशता और परतंत्रता का विरोध किया। उनका कहना था कि "निरंकुशता तथा विदेशी शासन एक ऐसा घोर अभिशाप है, जो जनता के पुरूषत्व को नष्ट कर देता है और इसकी नैतिक प्रकृति को बुरी तरह विकृत कर देता है। उनके विचार में पराधीनता से जेता और विजित दोनों समुदायो में से मनुष्यत्व दूर भागता है- स्वतंत्रता का न होना, उन्नति के अवसरों को खोना है, उन्नति के अवसरों का खोना अधः पतन है, और अधः पतन मृत्यु के तुल्य है।[1]

उदारवादी चिन्तकों की भांति मालवीय जी दमन, अन्याय और परतंत्रता का विरोध मानव मात्र का पुनीत कर्तब्य समझते थे और वे स्वयं जीवन भर इसी काम में संलग्न रहे। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य न्याय, स्वतंत्रता और जनकल्याण की प्रतिष्ठा को स्थापित करना निर्धारित किया था। इसके लिए वे जनजागृति, जनसंगठन, जनान्दोलन तथा जनकल्याण की भावना नितान्त आवश्यक समझते थे। यहाँ उनके विचारों पर समाजवादी प्रभाव दृष्टिगोचर होता, जहाँ समाजवाद भी जनसंगठन और जनान्दोलन को जनकल्याण के लिए सर्वाधिक प्रभावपूर्ण साधन मानता है। समाजवादी चिन्तक लेनिन की दलीय अवधारणा के अनुसार ही मालवीय ज़ी भी सार्वजनिक कार्यकर्ता के लिए, न्याय के प्रति दृढ़ निष्ठा तथा सब कामों में उसका अनुसरण प्रमुख कर्त्तव्य मानते थे।[2]

उदारवादी विचारधारा के विचारकों के समान ही मालवीय जी संवैधानिक ब्यवस्था द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों का संरक्षण. स्वतंत्र राजनीतिक जीवन के अस्तित्व

---

1 आभ्युदय, 19 मई सन् 1912।

2 प्रो0 मुकुट विहारी लाल: महामना मदन मोहन मालवीय, जीवनएवं नेतृत्व काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1978 पृ0 602

तथा राष्ट्र की प्रगति के लिए आवश्यक समझते थे। उनकी धारणा थी कि '' मनुष्य के पवित्र अधिकार स्वयं परमात्मा ने अपने हाथों से सूर्य की किरणों के रूप में मनुष्य स्वभाव पर अंकित कर दिये हैं, जो किसी मानवीय शक्ति से मिटाये नहीं जा सकते।[1] उदारवादी विचारधारा के प्रभाव के फलस्वरूप मालवीय जी ने यह विचार दिया कि नागरिक स्वतंत्रता मानव के प्राकृतिक अधिकारों पर आश्रित मानव के नैतिक अधिकार है, जिनकी मान्यता और रक्षा राज्य का कर्त्तव्य है। यहाँ मालवीय जी पर जॉन लॉक का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जिसने जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति को मानव का प्राकृतिक अधिकार घोषित किया था तथा उसकी रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य निश्चित किया था।

लेकिन मालवीय जी स्वतंत्रता को साध्य न मानकर साधन मानते थे।वे राज्य में सुव्यवस्था और शांति की स्थापना के लिए नागरिकों के मौलिक अधिकारों के उपभोग की स्वतंत्रता को आवश्यक मानते थे। वे स्वतंत्रता के नाम पर उश्रृंखला के समर्थक नहीं थे। उदार लोकतांत्रिक परम्पराओं से प्रभावित मालवीव जी यह मानते थे कि युद्ध के समय तथा व्यापक राजद्रोहात्मक स्थिति में सैनिक कानून लागू कर नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है, परन्तु इस समय भी सैनिक कानून और अदालतों की मर्यादाओं तथा सीमाओं का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। सरकार को इस समय भी उतने ही बल का प्रयोग करना चाहिए, जितना शांति की स्थापना के लिए नितान्त आवश्यक हो। राजद्रोह और व्यापक फसादों की स्थिति में सरकार का उत्तरदायित्व अवश्य बढ़ जाता है और उसके साथ ही उसके अधिकारों में भी वृद्धि हो जाती है पर न्याय का पालन करना उसका कर्त्तव्य बना रहता है।[2]

यंहाँ यह उल्लेखनीय है कि मालवीय जी मानव के मौलिक अधिकारों की रक्षा तथा ब्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास की समुचित व्यवस्था लोकतंत्र का महत्वपूर्ण कार्य समझते थे, फिर भी वे उन विचारकों से सहमत नहीं थे, जो ब्यक्तिवाद को लोकतंत्र

1 प्रोसीडिंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौसिल, सन् 1919, जि0 58।

2 प्रोसीडि्ंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौसिल सन् 1919 जि0 58

का अनिवार्य अंग स्वीकार करते थे। वे तो ब्यक्तिवाद के विरोधी तथा सामाजिकता और कल्याणकारी राज्य के समर्थक थे। वे सामाजिकता को मानव स्वभाव का महत्वपूर्ण लक्षण और सद्‌गुण मसनते थे और मानव के ब्यक्तितत्व के विकास के लिए मानव स्वतंत्रताओं की रक्षा के साथ-साथ मानव समाज की पुष्टि और विकास आवश्यक समझते थे। उन्होंने कहा कि भारत के प्राचीन धर्म की शिक्षा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने को एक बड़ी समष्टि की इकाई समझकर उसके हित के लिए जीवित रहे और काम करे। वह लोक कल्याण और लोकसंग्रह को परम पुरूषार्थ समझे।[1]

मालवीय जी साम्यवाद के सिद्धान्त को 'सत्य, न्याय, धर्म तथा प्राकृतिक नियम के विरूद्ध मानते थे।[2] पर वे साम्यवादियों के इस विचार से सहमत थे कि समाज का ऐसा निर्माण किया जाय, जिससे समाज सेवा में संलग्न सब श्रमिक उचित ढंग से सुखपूर्वक जीवन बिताने योग्य पारिश्रमिक प्राप्त कर सकें, सबको जीवनोत्कर्ष की सुविधायें प्राप्त हों।[3] उनकी धारणा थी कि आर्थिक अन्याय, दमन और शोषण को मिटाकर और जनसाधारण की आर्थिक दशा सुधारकर तथा उनके जीवनस्तर को ऊँचा करके ही साम्यवाद से राष्ट्र की रक्षा की जा सकती है।[4]

मालवीय जी चाहते थे कि देश के कानून और वित्तीय नीति द्वारा जनकल्याण की पुष्टि और वृद्धि की जाय। इस प्रकार के कानून बनाए जाँय, जिससे जनता की स्वतंत्रता की रक्षा के साथ-साथ सामाजिक न्याय की पुष्टि हो और श्रमिक जनता (किसान,मजदूर) का अभ्युदय हो। वे यह चाहते थे कि सरकार दुर्गति की स्थिति में जनता की सहायता करते हुए अपने शक्ति और साधनों को जनता की शक्ति के निर्माण में, लोगों के मसितिष्क को ज्ञान से प्रदीप्त करने में, उनके घरों के परिवेश सुधारने में तथा आमदनी के नये स्रोतों को अपनाने की उनमें क्षमता पैदा करने में लगाये, ताकि वे सभ्य संसार में सुखी और गौरवपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें।[5]

---

1 कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन, सन् 1904।
2 भारतीय लेजिस्लेटिव असेम्बली में भाषण, सन् 1228।
3 वही, सन् 1929।
4 वही सन् 1929।
5 प्रातीय कौसिल में भाषण, सन् 1908।

इस प्रकार मालवीय जी उदारवाद के नकारात्मक स्वरूप की अपेक्षा उसके सकारात्मक पक्ष पर बल देते थे तथा समाजवाद के भी अच्छे विचारों को अपनाते हुए सामाजिक उदारवाद के पोषक थे, जो किन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में सामाजिक न्याय पर आश्रित उदारवादी समाजवाद (लिबरल सोशलिज्म) का रूप धारण कर सकता था।

आदर्शवादियों की भाँति मालवीय जी राष्ट्रीयता के आधार पर राजनीतिक जीवन का निर्माण करना चाहते थे। वे सब भारतवासियों को भारतीय राष्ट्र का अंग स्वीकार करते थे और देशबन्धुता तथा देशप्रेम के आधार पर भारतीय राष्ट्रीयता को सुदृढ़ करते हुए उसकी बुनियाद पर भारतीय राज्य प्रतिष्ठित करना चाहते थे। राष्ट्र की महिमा बताते हुए उन्होंने राष्ट्रीयता की ब्याख्या की कि ''राष्ट्रीयता उस भावना का नाम है जो देश के सम्पूर्ण निवासियों के हृदय में देश-हित की लालसा में व्याप्त रही हो, जिसके आगे अन्य भावों की श्रेणी नीची ही रहती है।[1] उन्होंने बताया कि ''गाढ़ी देशभक्ति से एकता उत्पन्न होती है, एकता से राष्ट्रीयता का भाव और राष्ट्रीयता के भाव से देश की उन्नति होती है।[2] मालवीय जी कहते थे कि जिस तरह भगवद्भक्त वे होते हैं, जो अपने समस्त कार्यो को भगवान को अर्पित कर देते हैं और एकाकी लगन से भगवान का ध्यान और उपासना करते है, उसी प्रकार सच्चे देशभक्त वे हैं, जो कुछ करें, धरें, सब कुछ देश ही के लिए हो और देश के कार्य में प्रतिक्षण तत्पर रहें और एकाकी लगन से देश की सेवा में लगे रहें।[3] वे चाहते थे कि देश ही समस्त देशवासियों के प्रेम और भक्ति का विषय बन जाय। मतभेद, वर्गभेद और जातिभेद आदि के होते हुए भी राष्ट्रीयता का श्रेष्ठ भाव देशव्यापी हो जाय और इतना बढ़ जाय कि उसके आगे अन्य भावों का दर्जा नीचे गिर जाय।[4] ईश्वर भक्ति और देशभक्ति मालवीय जी के जीवन के दो मूल मंत्र थे। इन दोनों का उत्कृष्ट संश्लेषण, ईश्वरभक्ति का देशभक्ति में अवतरण तथा देशभक्ति का ईश्वरभक्ति में परिपक्वता उनके व्यक्तितत्व का विशिष्ट सद्गुण था।

---

1 मदन मोहन मालवीय जी के लेख, दिल्ली नेशनल, 1962, पृ0 99।

2 वही पृ0 - 100 ।

3 वही पृ0 - 108 ।

4 वही, पृ0 - 99 ।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के मानववादी विचारकों का भी मालवीय जी पर प्रभाव पड़ा था। वे मानवता की सेवा अपना परम धर्म मानते थे। 1918 के दिल्ली कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था कि "मेरा निवेदन है कि आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इस बात की माँग करने का संकल्प कर लें कि अपने देश में आपको भी अपने विकास की वे ही सुविधायें उपलब्ध होनी चाहिए, जो इंगलैंड में अंग्रेजों को मिली हुई हैं। यदि आप इतना संकल्प कर लें और अपनी जनता में स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों को फैलाने का प्रयत्न करें तथा हर भाई को, चाहे उसकी स्थिति कितनी ही अकिंचन और निम्न क्यों न हो, यह अनुभव करने दें कि उसमें भी वही ईश्वरीय प्रकाश की किरण विद्यमान है जो उच्च से उच्च स्थिति के ब्यक्ति में विराजमान है और यदि आप हर भाई को इस बात की अनुभूति करा दें कि उसे भी अपने साथी प्रजाजनों के समान ही व्यवहार पाने का अधिकार है, तो निश्चय समझिये कि आपने अपने भविष्य का निर्णय स्वयं कर लिया है और जिनके हाथों में आज देश की शक्ति है, वे आपकी उचित माँगों का विरोध करने में कभी सफल नहीं होंगे।"[1]

मालवीय जी का धार्मिक दृष्टिकोण भी विशुद्ध मानवतावादी है। 1909 के कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता में उन्होंने कहा था कि "हमारे धर्म हमें बताते है कि मनुष्यों की सेवा द्वारा ही ईश्वर सेवा का मार्ग सर्वोत्तम है।" उन्होंने कहा कि "वे सब भौतिक लाभ, जो हम प्राप्त करने योग्य हैं, मानव के प्रति मानव के उन शाश्वत कर्त्तव्य के पालन करने से ही मिल सकते हैं, जिन्हें हमारे धर्म ने हम पर लागू किया है। अगर हम धार्मिक कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित नहीं हैं, तब उस काम में, जिसे हमने प्रारम्भ किया है, हमारी रूचि स्थायी नहीं होगी। पर यदि इस विश्वास से काम करें कि ईश्वर के दीन प्राणियों की, अपने गरीब देशवासियों की सेवा, भगवान की सेवा है, उसके प्रति हमारा कर्त्तव्य है, तब चाहे निन्दा हो चाहे प्रतिष्ठा, दूसरे सहायता करें या रूकावट डालें, हम अंत तक अपनी शक्ति भर अपने लोगों के कल्याण की

1 अध्यक्षीय भाषण कांगेस संध्या से दिल्ली अधिवेशन सन् 1918,

बृद्धि करते रहेंगे और मेरा दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर हमारे प्रयत्नों को सफलता से अभिनन्दित करेंगे। ईश्वर में आस्था, उस ईश्वर का जनसामान्य में दर्शन करना, जनसामान्य के कष्टों को दूर करने के लिए संकल्प, उत्साह, धैर्य एवं कर्मठता के साथ प्रयत्नशील होना और उसके लिए सदा सचेष्ट रहना ही धर्म है।''[1] मालवीय जी यह चाहते थे कि हम यह समझकर कि ईश्वर सभी में विद्यमान है, अन्य जीवधारियों से अपना सच्चा सम्बन्ध स्थापित करें। इस प्रकार वे ''सर्वभूतेष्वात्म देवता बुद्धिः'' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए प्राणिमात्र के साथ ''आत्मौपम्य व्यवहार'' ही न्यायसंगत तथा धर्मनिष्ठों का पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। मालवीय जी जात्यहंकार, वंशाभिमान तथा पार्थक्य की भावना को समत्व की सिद्धि के लिए घातक समझते थे तथा विश्व वंधुत्व की भावना एवं सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार को उसका धर्मसंगत, नैतिक और सामाजिक साधन स्वीकार करते थे।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की सम्प्रदायवादी विचारधारा का भी मालवीय जी पर प्रभाव पड़ा था। उन्होंने हमेंशा साम्प्रदायिकता का विरोध किया। मैकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक अवार्ड का उन्होंने जमकर विरोध किया था। यह सही है कि मालवीय जी की हिन्दू धर्म के प्रति दृढ़ निष्ठा थी, वे अपने सनातन धर्म को सर्वश्रेष्ठ समझते थे, पर उनकी निष्ठा सहिष्णुता से समन्वित थी। वे समान रूप से सब धर्मो, धर्मग्रन्थों, धर्मगुरूओं का आदर करना सब धर्मनिष्ठ व्यक्तियों का कर्त्तव्य समझते थे। वे मंदिर गुरूद्वारा, गिरिजाघर, मस्जिद सबको सम्मान के काबिल समझते थे और कहते थे कि ''जब मै गिरजा, मस्जिद या गुरूद्वारे के पास से गुजरता हूँ, तब मेरा सिर सम्मान से झुक जाता है।[2] यद्यपि उन्होंने शुद्धि आन्दोलन को प्रोत्साहित किया, अपने धर्म का व्यापक प्रचार और प्रसार, शास्त्रसंगत और हिन्दुओं का कर्त्तव्य बताया, फिर भी उन्होंने कभी किसी दूसरे धर्म, धर्मगुरू या धर्मग्रन्थ की निन्दा नहीं की। वे चाहते थे कि धर्मप्रचार का काम बहुत शान्ति और धैर्य से होना चाहिए। वे यह

1 कांग्रेस के 1909 के अधिवेशन में भाषण।

2 लाहौर में भाषण, सन् 1923।

स्वीकार करते थे कि सत्य और ईश्वर की आराधना सब धर्मों का मूलाधार है।, कतिपय मूलभूत सद्गुण सभी धर्मों में विद्यमान हैं। जीवनसिद्धि के अनेक मार्ग हैं। मानव अपनी रूचि और परम्परा के अनुकूल अपना मार्ग निश्चित कर दृढ़ निष्ठा से उस पर चलकर सद्गति प्राप्त कर सकता हे। वे चाहते थे कि हिन्दू'पक्का हिन्दू' और मुसलमान'पक्का मुसलमान' बनें, दोनों ईश्वर भक्त हों, सब अपने धर्म के सिद्धान्तों को अच्छे तौर पर समझें।[1] उनकी धर्मिक सहिष्णुता ने वास्तव में धर्मिक सद्भावना का ऐसा अपूर्व रूप धारण कर लिया था कि उन्होंने सत्तर वर्ष की आयु में समुद्रयात्रा करते हुए जहाज में बाइबिल हाथ में लेकर पूर्ण निष्ठा के साथ ईसाइयों की उपासना में निःसंकोच भाग लिया।3 वे मनुष्यता को जाँति पाँति और साम्प्रदायिक भेदों से ऊँचा समझते थे।

मालवीय जी ने कहा था कि ''अगर कोई हिन्दू किसी मुसलमान को मुसलमान होने के कारण हानि पहुँचाये और कोई मुसलमान किसी हिन्दू को हिन्दू होने के कारण दुःख दे, तो हमारी गणना सभ्य जातियों में कभी नहीं हो सकती। हमें एक दूसरे को भाई समझना चाहिए। हिन्दू मंदिर में जायें, मुसलमान मस्जिद में और ईसाई गिरिजा में। लेकिन देश हित में हम सबको एक हो जाना चाहिए।''[2] वे चाहते थे कि सब हिन्दू और मुसलमान शपथ लें कि ''हम धर्म और मत के कारण किसी भाई के साथ ज्यादती नहीं करेंगे और बहनों, बेटियों एवं माताओं को सम्मान की दृष्टि से देखेंगे।''

मालवीय जी हिन्दू महासभा से जुड़े थे तथा कई बार वे इसके अध्यक्ष चुने गये। इसलिए मालवीय जी को सम्प्रदायिक विचारधारा के हिन्दू पुनरूत्थानवादी विचारकों में शामिल किया जाता है, परन्तु मालवीय जी हिन्दू महासभा से तब जुडे, जब मुसलमान गुण्डों के अत्याचारों के कारण हिन्दुस्तानियों की परेशानियां बढ़ती चली गयीं,, नागरिक सेना कहीं भी ठीक तौर पर बन नहीं सकी और कांग्रेस शांति बनाए रखने के लिए कोई प्रभावशाली कार्य नहीं कर सकी। ऐसे समय 1922 में डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद के

---

1 पंजाब हिन्दू सम्मेलन, सन् 1924।

2 सीताराम चतुर्वेदी; महामना मदनमोहन मालवीय, खण्ड-2, पृ0 87।

अनुरोध पर मालवीय जी ने गया में आयोजित हिन्दू महासभा के सम्मेलन की अध्यक्षता स्वीकार की तथा हिन्दू जाति की दुर्दशा का विश्लेषण करते हुए उन्होंने धर्म से विमुख होना ही उसका कारण बताया।[1] वे चाहते थे कि सब हिन्दू सच्चे दृढ़ और अपने धर्म के पक्के हिन्दू हों, पर सदा इस बात का ध्यान रखें कि वे पहले भारतवासी हैं और फिर हिन्दू। उन्होंने हिन्दुओं से अपील की कि वे गांव-गांव में हिन्दू सभाएं स्थापित करें, अपनी गिरी दशा को सुधारने तथा उन्नति करने का उपाय सोचें और अछूतों से प्रेम का व्यवहार करें, उन्हें भी अपना भाई समझ छुआछूत दूर करें, उनकी अवस्था को सुधारें और उनकी उन्नति का मार्ग सोचें।[2]

मालवीय जी ने 1922-1927 ई० तक 5 वर्ष हिन्दू महासभा का नेतृत्व संभाला। उन्होंने हिन्दू समाज को सुसंगठित, प्रबल एवं उत्कर्षोन्मुख बनाने का प्रयत्न किया। साहस के साथ आततायियों का मुकाबला करने का उसे पाठ पढ़ाया, पर साथ ही मुसलमानों के के साथ सौहार्द बनाए रखने का उसे उपदेश दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि "उन जीवों को नहीं मारना चाहिए, जो किसी पर चोट नहीं करते। मारना उनको चाहिए, जो आततायी हों, अर्थात् स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन या प्राण पर जो वार करते हो या जो किसी के घर में आग लगाते हों। यदि ऐसे लोगों को मारे बिना अपना या दूसरों का प्राण या धन न बच सके तो उनको मारना धर्म है।[3] उन्होंने हिन्दूओं के कतिपय हितों की रक्षा के निमित्त कांग्रेस के विरूद्ध राजनीतिक दल संगठित किया, पर हिन्दू महासभा को किसी राजनीतिक पक्ष का पक्षपात करने की कभी सलाह नहीं दी और स्वराज्य की माँग की प्राथमिकता पर सदा ध्यान रखा उन्होंने समाज सुधार के काम में सनातन धर्म पर दृढ़ निष्ठा रखने वाले हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को सदा ध्यान में रखा और शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर ही समाज-सुधार का कार्य सम्पन्न किया।

---

1 वही, पृष्ठ 84।

2 वही, पृष्ठ 84-85

3 धर्मोपदेश।

इस प्रकार मालवीय जी द्वारा सरकार की साम्राज्यशाही नीतियों और योजनाओं का विरोध, साइमन कमीशन का वहिष्कार, सविनय अवज्ञा आन्दोलनों में योगदान, दूसरे गोलमेज सम्मेलन में राष्ट्रीय मांगों का समर्थन, अन्त्यजोद्धार के लिए परम्परावादियों से संघर्ष तथा प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय के प्रश्न पर सरकार और कांग्रेस दोनों से संघर्ष अवश्य हिन्दू जनता की संघर्ष भावना का प्रतिनिधित्व करते थे, जबकि नेहरू समिति की रिपोर्ट का समर्थन तथा हिन्दू महासभा के अध्यक्ष चक्रवर्ती विजय राघवाचार्य की अध्यक्षता में आयोजित एकता सम्मेलन में हिन्दू मुस्लिम समस्या को सुलझाने का भगीरथ प्रयत्न हिन्दू जनता की शांतिप्रिय मनोवृत्ति का प्रतीक था। मालवीय जी सम्प्रदायवादी राजनीति से कोसों दूर थे, इस बात को सभी तत्कालीन विचारक मानते थे।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की एक महत्वपूर्ण विचारधारा गांधीवादी विचारधारा से मालवीय जी का प्रभावित होना नितान्त आवश्यकीय घटना है, क्योंकि गाँधी जी मालवीय जी को अपना बड़ा भाई मानते थे एवं मालवीय जी भी गांधी जी पर स्नेह रखते थे। दोनों ही महान भारतीय संस्कृति के गौरव के प्रतीक थे। इसलिए सत्य और अहिंसा पर दोनों ही विश्वास करते थे, लेकिन मालवीय जी कुछ मामलों में हिंसा का भी समर्थन कर देते थे, उन्होंने कान्तिकारियों की भी काफी सहायता की थी। असहयोग आन्दोलन की नीति को सिद्धान्ततः स्वीकार करते हुए भी मालवीय जी ने उसके कार्यक्रम के कतिपय अंशों को अव्यावहारिक और हानिकर बताकर उसका विरोध किया। उनका मुख्य विरोध, न्यायालयों, विधान सभाओं तथा शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार पर था। वे न्यायालयों के बहिष्कार को अव्यावहारिक तथा विधानसभाओं और शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार को हानिकर समझते थे। असहयोग आन्दोलन द्वारा हुई जन-जागृति की मालवीय जी प्रशंसा करते थे तथा जब गांधी जी ने असयोग आन्दोलन वापस ले लिया तो इस जन जागृति को बनाए रखने के लिए मालवीय जी ने देश का दौरा किया तथा असम में अफीम विरोधी आन्दोलन का नेतृत्व किया। चौरी-चौरा के आरोपियों की मदद के लिए मालवीय जी ने प्रयाग उच्च न्यायालय के वकीलों को

वहाँ भेजा तथा तथ्य इकट्ठा कर स्वयं वकील की हैसियत से उच्च न्यायालय में कई दिन तक पैरवी की। उनके प्रयास से 229 व्यक्तियों में से, जिन्हें फांसी की सजा दी जा चुकी थी, 143 को अपील में उच्च न्यायालय द्वारा फाँसी की सजा नहीं दी जा सकी।[1]

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का मालवीय जी ने समर्थन किया, जिसके कारण सरकार ने उन्हें जेल भेज दिया था। मालवीय जी सत्याग्रह के भी समर्थक थे तथा भारत छोड़ो आन्दोलन के समय अपनी अस्वस्थता के बावजूद भी सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेना चाहते थे, लेकिन गांधी जी ने उनके स्वास्थ्य को देखकर उन्हें ऐसा करने से मना किया।

इस प्रकार मालवीय जी आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारा के सभी तत्वों का प्रतिनिधित्व करते थे तथा राष्ट्रीयता और हिन्दू पुरूत्थानवादी विचाराधारा का उन्होंने विकास किया, जिसके कारण उन पर सम्प्रदायवादी होने का आरोप लगाया गया लेकिन यह सही नहीं था, क्योंकि मालवीय जी सदैव हिन्दू-मुस्लिम एकता को भारत राष्ट्र के कल्याण के लिए आवश्यक समझते थे।

* * * * *
* * *
*

1 महामना मदनमोहन मालवीय, जीवन एवं नेतृत्व, प्रो० मुकुट बिहारी लाल, मालवीय अध्ययन संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1978, पृ० 301

अध्याय - २

महामना पंडित मदनमोहन मालवीयः सामाजिक-शैक्षिक अग्रदूत के रूप में।

महामना पं0 मदन मोहन मालवीय : सामाजिक – शैक्षिक अग्रदूत के रूप में :

तीर्थ राज प्रयाग और विद्यानगरी वाराणसी के पावन भूमि जिस प्रकार भारत वर्ष के धर्म, दर्शन, संस्कृति और सामाजिक जीवन को दिव्य प्रेरणा देती आई है, उसी प्रकार उन तीर्थो से जुड़े पं0 मदन मोहन मालवीय का व्यक्तित्व भी बहुआयामी मनस्विता का निदर्शन रहा है। सद् संस्कार से युक्त एक ब्राह्मण परिवार में जन्म ग्रहण कर आजीवन वे ईश्वर विश्वासी आस्थावान हिन्दू रहे। हिन्दू शब्द उनकी दृष्टि में व्यापक अर्थ गर्भित है। स्थूलत: चार आश्रम, चार पुरूषार्थ, कर्मफल ,पुनर्जन्म, त्याग, तपस्या, सत्य, अहिंसा एवं मनु के द्वारा निर्धारित दस धर्म लक्षण युक्त परिभाषा को ही वे सनातन धर्म मानते थे। उनकी आस्तिकता में या धार्मिक चेतना में संकीर्णताा का आभास नहीं था। उनका जीवन हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान के लिए समर्पित था। वे प्रत्यक्ष रूप से परिदृश्य जागतिक हितकारक शक्तियो के आराधक थे। वैयक्तिक पूजा-पाठ, धर्मोपदेश के साथ वेष-भूषा, चाल-चलन और व्यवहार में वे पूरी तरह धार्मिक थे। इसके चलते वे हिन्दू महासभा, वर्णाश्रम, धर्मसंघ, महावीर दल, बालचर संघ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विश्वनाथ मंदिर आदि धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओ से सम्बन्धित थे।

मालवीय जी का सदैव यही प्रयत्न रहता था कि भारत से कुसंस्कार दूर हों, सांस्कृतिक जीवन उज्जवल बने और जन-जन में सद्भावना या धार्मिक चेतना जागृत रहे। हिन्दू समाज के अंतर्गत जैन, बौद्ध सिख, आर्यसमाज, ब्रहम समाज इत्यादि जितने भी सम्प्रदाय हैं, जिनकी अलग-अलग उपासना पद्धतियां हैं, चाहे वे सौर, शैव, वैष्णव, गाणपत्य या शाक्त मतावलम्बी हों धर्म के नाम पर कभी भी कलह

न करें, पारस्परिक द्वेष न रखे, क्योंकि धर्म के विषय में उनकी मान्यता थी कि अपने विश्वास में दृढ़ता रखने के साथ दूसरों के विश्वास की निन्दा न की जाय, समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भावना रखनी चाहिए एवं किसी भी धार्मिक मतभेद को प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

महामना ने अपने व्यक्तिगत धर्म के विषय में कहा है- " घर में ब्राह्मण धर्म है, परिवार में सनातन धर्म है, समज में हिन्दू धर्म है, देश में स्वराज धर्म है और विश्व में माानव धर्म है।[1] वे प्राय: कहा करते थे कि 'सिर जावे तो जाय, प्रभु मेरो धर्म न जाय, 'धर्मो रक्षति रक्षित:,'जो दृढ़ राखै धर्म को तेहि राखै करतार', **धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा** आदि। उनका मानना था कि ''सबसे बड़ा उपकार जो किसी प्राणी का कोई कर सकता है वह यह है कि उसको धर्म का ज्ञान करा दे, धर्म में उसकी श्रद्धा उत्पन्न कर दे अथवा दृढ़ कर दे। संसार में धर्म के समान दूसरा कोई दान नहीं।'' उनका कहना था कि पृथ्वी मण्डल पर जो वस्तु मुझको सबसे अधिक प्यारी है, वह धर्म है और वह सनातन धर्म है।''[2]

उपयुक्र्त उद्धरणों से यह विदित है कि वे धर्म को धारण करने के अर्थ में ही लेते थे। जिस आस्था, भावना, गुण एवं कर्म के धारण करने अथवा अपने व्यक्तित्व द्वारा प्रकट करने से व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि का सर्वांगीण अभ्युदय होता हो, जिससे सुख शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति होती हो, वही धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु का अपना भिन्न- भिन्न धर्म है। मालवीय जी धर्म को महान गुणों का समूह मानते थे। उन्होंने अभ्युदय में लिखा था कि ''वस्तुत: धर्म उन व्यवस्थाओं, उन नियमों का नाम है जो समाज को, राज्य के विभिन्न अंगो को धारण किये रहते हैं। धर्म के जो मूल सिद्धान्त हैं, उन सबका उद्देश्य देश में

---

1 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियां (संकलन), दिल्ली, नेशनल, 1962, पृ0 202 ।

2 वासुदेव शरण अग्रवाल: महामना मालवीय, लेख और भाषण (धार्मिक) का0हि0वि0वि0, वाराणसी1962, पृ0 7 एवं भूमिका ।

शान्ति, समृद्धि और सुख उत्पन्न करना है तथा मनुष्य को पारलौकिक गहन विषयों का चिन्तन करने के योग्य बनाना है।''[1] वे धर्म को ''लोक संग्रहकारी शक्ति'' मानते थे। वे मानते थे कि ''संसार में समस्त पदार्थ बदलते रहते है, सुख दुःख होते रहते है, किन्तु धर्म नित्य है, धर्म कभी नहीं बदलता। यदि प्राण भी जाता है तो भी धर्म न त्यागो।''[2] मनुष्य का शरीर धारण कर लेने मात्र से ही मनुष्यता की प्राप्ति नहीं हो जाती, उसके लिए कुछ धर्मो का पालन करना वांछनीय होता है। जिस तरह अग्नि का धर्म है- दाहकता, जल का धर्म है- शीतलता, प्रकृति का धर्म है- परिवर्तन, उसी तरह मनुष्य का धर्म है- मनुष्यता। इसी प्रकार सामाजिक स्तर पर एक विद्यार्थी का धर्म है- विद्यार्जन करना न कि राजनीति करना, एक अध्यापक का धर्म है- अध्यापन करना न कि गुटबन्दी करना, एक राजनीतिज्ञ का धर्म है- राजनीति करना आदि। किन्तु विद्या कैसी हो? अध्यापन कैसा हो? राजनीति कैसी हो? इसके भी कुछ आदर्श एवं मूल्य है। जैसा कि महामना ने कहा है- ''दूसरो का भी अपने साथ-साथ अभ्युदय हो, यही श्लांघनीय राजनीति है।''[3] उन्होने कहा था कि'' इस संसार में हर व्यक्ति लाइम-लाइट (प्रकाश) मे आना चाहता है, किन्तु वह भूल जाता है कि लाइम-लाइट तो लाइट (प्रकाश) है, अतः वह लाइट तो जैसा जो व्यक्ति होगा उसे वैसा दिखा देगी, फूहड़ सुन्दर कैसे दिख सकता है? इसलिए मनुष्य को लाइम लाइट में आने की इच्छा के पूर्व अपने चरित्र को इस प्रकार बनाना चाहिए कि वह लाइट में फूहड़ न दिखकर सुन्दर दिखे।''[4]यही है सत्य के प्रति सचेष्टता। सत्य की प्रतीति ही धर्म है। सृष्टि में तन धारण करने वाला समस्त प्राणी पांच विकारों-काम, क्रोध, मद, माया, और लोभ से ग्रस्त होता है और जिन यम नियमों के पालन से इन विकारों से मुक्ति मिलती है,

1 अभ्युदय, 2 मई 1908।

2 वासुदेव शरण अग्रवालः महामना मालवीय, लेख और भाषण (धार्मिक) का0हि0वि0वि0, वाराणसी 1962, पृ0 166 एवं भूमिका ।

3 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियां (संकलन), दिल्ली, नेशनल, 1962, पृ0 15 ।

4 महामना मालवीयः वर्थ सेनेटरी कामेमोरेशन वाल्यूम 1961 बी0एच0यू0वाराणसी, पृ0 189 ।

वही धर्म है। इन विषयों से मुक्ति दिलाना ही सनातन धर्म का चरम लक्ष्य है। मालवीय जी कहते थे कि -" मनुष्यो में और दूसरे जीवधारियों में आहार, नीद, भय, मैथुन, समान होते हैं। मनुष्यों में केवल धर्म ही एक विशेषता है। जिसमें धर्म की भावना नहीं है, वे मनुष्य पशु के समान है।"[1]

मालवीय जी कभी-कभी हिंसा को भी धर्म के अतंर्गत मानते है, किन्तु अकारण एवं निर्दोष को मारना वे अधर्म एवं पाप बताते है। अगर कोई जीव तुम पर वार करता है तो वह आतताई है, उसको मारो,किन्तु निर्दोष जीव की हत्या न करो।"[2] उनका कहना था कि " अन्याय देखकर शान्त बैठना ठीक नहीं। धर्म और उद्यम दोनो को लेकर अधर्म का अन्याय का नाश करना जरूरी है। हिम्मत न छोड़ो। भगवान का वचन है कि दुष्टों का दमन करो और धर्म की स्थापना करो। इस उद्यम, साहस और निर्भयता के लिए शरीर मे ताकत की जरूरत है, बिना ब्रहमचर्य पालन के शरीर में शक्ति की आशा नहीं की जा सकती। जब शक्ति नही, तब बुद्धि भी सही रूप में कार्य नहीं करती। सामने गरजते शेर को देखकर पैर डगमगाने लगेंगे, विवेक कुठित होने लगेगा, भय का उदय होते ही शेर आपको मार डालेगा। 'अर्जुन ने अपने ब्रहमचर्य से ही गन्धर्व जैसे वीर को हराया था। अपने गीता प्रवचन में महामना बार-बार कहते थे, "ब्रहमचर्य का पालन कर शरीर को दृढ़ बनाओ और चरित्र रक्षा करो, पर स्त्री पर कभी कुदृष्टि न डालो।" पर नारी पैनी छुरी ताहि न दीजै दीठ।'

जो स्त्री अवस्था में बड़ी हो, वह मातावत् है, जो बराबर है वह बहन तुल्य है और जो छोटी है, उसे पुत्रीवत मानो। शारीरिक बल की शक्ति ब्रहमचर्य व्रत पालन से प्राप्त होती हैं। जो छात्र विवाहित है वे यहा ब्रहमचारी बने। उनका रहन सहन आचार व्यवहार लक्ष्मण की तरह हो।[3]

---

1 वासुदेव शरण अग्रवालः महामना मालवीय, लेख और भाषण (धार्मिक) का0हि0वि0वि0, वाराणसी 1962, पृ0 175

2 वही पृ0 188।

3 वही पृ0 165।

मालवीय जी का धर्म विषयक दृष्टिकोण सदाचार, शिष्टाचार एवं लोकाचार प्रधान है। वह मानवीय मूल्यों से सम्बन्धित है। वह व्यक्तिगत आचरण एवं लोक व्यवहार दोनो में उतारने के लिए है। वह विश्व बन्धुत्व और विश्व शान्ति का मूलाधार है। उसके बिना भौतिक या आध्यात्मिक किसी भी तरह की सिद्धि सम्भव नहीं। यह भारतीय समाज मनोविज्ञान की एक महानतम् उपलब्धि है। यही सनातन धर्म है।'' सच्चा तप यह है कि अपने भाइयों के ताप से तपा जाय, सच्व यज्ञ यह है कि अपने स्वार्थ की आहुति दी जाय, सच्चा दान यह है कि परमार्थ किया जाय और सच्ची ईश्वर सेवा यह है कि उसके दु:खी जीवो की सहायता की जाय परमात्मा सबके हृदय में व्यापक है। इसलिए हम जितने प्राणियों को प्रसन्न करेंगें, उतने गुना ईश्वर प्रसन्न होंगे। यह सच्चा धर्म देश भक्ति द्वारा प्राप्त है। देशभक्ति का संचार हमारे हृदय से स्वार्थ को निकालकर फेंक देगा। हम अदूरदर्शी स्वार्थी और खुशामदियों की तरह ऐसे काम कदापि न करें, जिनसे देश- वासियो को हानि पहुँचे, बल्कि असंख्य कष्ट उठाते हुए वही को, जिसमें देश का भला हो, निर्धन, धनवान, निर्बल, बलवान और मूर्ख भी बुद्धिमान हो जाएं। प्रत्येक प्रकार के सामाजिक दु:ख मिटे, दुर्भिक्ष आदि विपत्तियां दूर होकर लाखों बिलबिलाती हुई आत्माओ को सुख पहुँचे। देशभक्ति द्वारा इतने धर्मो का सम्पादन हुआ देखकर भी यदि कोई धर्म के आगे देशभक्ति को कुछ नहीं समझता उस पुरूष को जान लीजिए कि वह धर्म के तत्व को नहीं पहचानता। वह 'धर्म' धर्म गा रहा है, परन्तु यह नहीं जानता कि धर्म क्या वस्तु है।''[1]

वस्तुतः मालवीय जी का धार्मिक दृष्टिकोण विशुद्ध मानवतावादी है। उन्हे साम्प्रदायिक कैसे कह दिया गया, यह समझ से परे है। जिनके चिन्तन का प्रधान विषय मानव है, वह सम्प्रदायिकता जैसे अमानवीय कार्य को कैसे महत्व दे पाता '' घनश्याम दाय बिड़ला ने अपनी डायरी में लंदन यात्रा का विवरण देते हुये मालवीय

1 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियां (संकलन), दिल्ली, नेशनल, 1962, पृ0 101-102 ।

जी के बारे में लिखा है- पंडित जी के लिए चूल्हा अलग बन गया है। गंगा जल भी साथ हैं मिट्टी का कनस्तर, स्वदेशी साबुनो,दातुनो का बड़ा सा बण्डल, पूरी भोजन सामग्री । किन्तु बण्डल गायब हो गया और पण्डित जी के लिये यहां (अदन) से आंटा- सीधा और दो घड़े पानी के ले लिए गये है। हम लोगों ने मजाक किया कि पंडित जी के गंगाजल के घड़े अरब के पानी से भरे जायेंगे और अरब का पानी पीकर पंडित जी को शौकतअली का साथ देना होगा। किन्तु पंडित जी कहते है कि पानी का विष सुबह- शाम की संध्या से धो डालूंगा।

आज रविवार को जहाज के गिरजे में प्रार्थना की।.... पंडित जी का हाथ मे बाइबिल लेकर ईसाइयों के साथ ध्यानावस्थित होना विशेषतापूर्ण था। पंडित जी को जो कोई लकीर का फकीर बनाता है, वह मूर्ख है। पंडित जी अरब का पानी पी सकते है, गिरजे में प्रार्थना कर सकते है,फिर भी परम सनातनी है, क्योकि उनके हृदय में ईश्वर विराजमान है। जो हो, पंडित जी का बाइबिल हाथ में लिए हुए ध्यानमग्न होना यह दर्शन दुर्लभ है।[1]

हिन्दुत्व का अर्थ है- आत्मा का विकासित दर्शन। धर्म और नीति का अनुसरण कर शरीर ,मन और आत्मा के विकास में सहायक होने वाली सनातन संस्कृति जिसे वैदिक अथवा मानव संस्कृति भी कहा जाता हैं अपने विकासात्मक युग सापेक्ष चिन्तन एवं दर्शन द्वारा सदा मुक्ति का संदेश देती रही है। सदा सत्य का अन्वेषण और हर दिशा से आने वाले उत्तम विचारों की अभ्यर्थना करना इस संस्कृति का जातीय चरित्र रहा है'' आनो भद्रा कृत्वो यन्तु विश्वत:।'' यह संस्कृति प्राकृतिक रागात्मक और मण्डन प्रिया है। यह जीवन की समृद्धि के लिए है, विध्वंस, विरोध या निषेध के लिए नहीं। प्रो0 मुकुट बिहारी लाल ने लिखा है -महामना को मेल मिलाप कराने में बड़ा आनन्द आता था। वह कहा करते थे कि

---

1 वही पृ0 98-99

जोड़ना कठिन है, तोड़ना आसान है। वह किसी से भी अपना सम्बन्ध तोड़ना नहीं चाहते थे।[2] भारतीय सनातन संस्कृति में विचार स्वातंत्र्य पर, किन्तु मर्यादा एवं अनुशासन के अधीन, बल दिया जाता है। हिन्दू जाति स्वभाव से ही सहिष्णु, शान्त, संयमी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, दयालु, तथा नम्र होती है। ये गुण जिस व्यक्ति में लक्षित न हो, वह हिन्दू कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। यहाँ दीनता और कायरता के लिए कोई स्थान नहीं है ''न दैनं न पलायनम्''।

मालवीय जी किसी का भी कष्ट नहीं देख सकते थे। किसी को कोई भी कष्ट हो तो उनको कष्ट होने लगता था। सन् 1932-33 में काशी में हिन्दू मुसलमानों का दंगा हुआ। अपने-अपने मुहल्लों और घरों में से डर के मारे दोनो (हिन्दू -मुसलमान) ही निकलते नहीं थे। हालत बड़ी शोचनीय थी। हिन्दुओ की सहायता करने के लिये वहाँ के प्रमुख नागरिकों की एक समिति बनाई गई। मालवीय जी तथा बाबू शिवप्रसाद गुप्त आदि इस कमेटी में थे। मालवीय जी से किसी ने कहा कि मुसलमान मुहल्लों में मुसलमान भी भूखों मर रहे है। मालवीय जी ने तुरन्त आज्ञा दी कि मुसलमानी मुहल्लों में भी सहायता पहुँचायी जाय। कुछ लोगो ने इसका विरोध किया किन्तु मालवीय जी ने बाबू शिव प्रसाद गुप्त से कहा,'' निःसहाय मुसलमानों को भी वैसी ही सहायता मिलनी चाहिए, जैसी हिन्दुओ की दी जा रही हैं। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने इसी प्रसंग में आगे बताया है कि गुप्त जी चेक देने लगे, तो लोगों ने उनको भी रोका। गुप्त जी ने कहा- ''भाई मै क्या करूँ, मालवीय जी का हुक्म है।'' मालवीय जी ने स्वयं एक छोटी लारी पर खाने का सामान रखवाकर मुस्लिम मुहल्लों में भेजा। लारी एक बंगाली बाबू की थी और वह उसे खुद चला रहे थे। जब वह मुहल्ले मे पहुंचे तो किसी मुसलमान ने एक पत्थर मारा, जिससे लारी का शीशा टूट गया। बंगाली बाबू के मुह पर शीशे के टुकडों से घाव हो गये और मुँह लहू लुहान हो गया। वह लारी लेकर

---

2 महामना मालवीयः वर्थ सेनेटरी कामेमोरेशन वाल्यूम 1961 बी0एच0यू0वाराणसी, पृ0 57 ।

लौट आये। मालवीय जी ने लारी लेकर फिर भेजा ओर इस तरह अपने घरों में खुद कैद होकर भूखे मरने वाले मुसलमानों को खाना मिला।''[1]

मोपला विद्रोह (1921-22) के समय मालवीय जी ने दोनो वर्गो (हिन्दू और मुस्लमानों) की सहायता के लिए रूपये, अन्न और वस्त्र भिजवाया था तथा स्वयं दौरा किया था। सन् 1922 में मुल्तान में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था। जिसकी जांच के लिए कांग्रेस कमेटी ने हकीम अजमल खाँ, राजेन्द्र प्रसाद और मालवीय जी को भेजा। वहाँ के हृदयविदारक दृश्य को देखकर तीनों फफक-फफक कर जोर-जोर से रोने लगे थे। जाँच में उस दंगे के मूल उत्तरदायी मुसलमान ही पाये गये थे। इस साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर करने के लिये मुल्तान और लाहौर में हिन्दू-मुसलमानों की मिली-जुली सभा आयोजित हुई। 16 दिसम्बर सन् 1922 को लाहौर में मौलाना कादिर के सभापतित्व में आयोजित एकता सम्मेलन मे महामना ने साम्प्रदायिक उपद्रवों पर घोर संताप व्यक्त करते हुए कहा-''सब अत्याचारी धर्महीन और नास्तिक है,'' बुराई का परिणाम बुरा होता है। उन्होने हिन्दू- मुस्लमानो के बीच तीन प्रमुख कारणों से परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता पर बल दिया-पहला यह कि हम सभी एक ही खुद संतान है, दूसरा यह है कि सभी धर्म हमें इन्सान बनने का आदेश देते है, अत: इन्सानियत के नाते भी हमें परस्पर सम्बन्ध एवं भाईचारा बढ़ाना चाहिए और तीसरा यह कि हम सभी एक देश के वासी है, अत: हममें इस भावना का विकास होना चाहिए। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनो से एक धर्म निरपेक्ष ' नागरिक सेना' गठित करने का सुझाव दिया जो निरीह एवं निर्दोष लोगों को आततायियों से बचाने मे सहयोग दे। उन्होने कहा-परमात्मा को याद करते हुए' प्रतिज्ञा करें कि वे' ईश्वर की पैदा की हुई हस्तियों से दुश्मनी नहीं रखेंगे,'

---

1 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियां (संकलन), दिल्ली, नेशनल, 1962, पृ0 66-67 ।

हिन्दूस्तान की इज्जत का ख्याल रखेंगें' तथा एक दूसरे के धर्म की इज्जत करते हुए सब बहनों व भाइयों की इज्जत कायम रखेंगे।[1]

हिन्दुओं पर मुसलमान आक्रमण करें या मुसलमानों पर हिन्दू आक्रमण करें या मुस्लमानों पर हिन्दू आक्रमण करें , यह बात मालवीय जी के लिए असहाय थी।लाहौर में 28 जून 1933 को उन्होंने अपने भाषण में कहा था-हिन्दू बलवान होकर मुसलमानों को तकलीफ दे ऐसी स्वप्न में भी कल्पना नहीं है।मेरे मन मे ऐसा विचार आया कि मै धर्मच्युत हुआ। मेरा अपने धर्म में दृढ़ विश्वास है, परन्तु परधर्म के अपमान करने की कल्पना मेरे मन को छू तक नहीं सकती। किसी गिरजाघर अथवा मस्जिद के पास से जब मै जाता हूँ, तब मेरा मस्तष्क अपने आप झुक जाता है। जबकि परमेश्वर एक ही है तो लड़ने का कारण क्या? भूमि एक, देश एक, वायु एक ऐसी परिस्थिति में रहते हुए भी आपस में दंगें का होना, इससे बढकर और आश्चर्य की बात क्या हो सकती है? हमारा रक्षण विदेशी सेना करे, यह भी बड़ी लज्जा की बात है।[2]

मालवीय जी धर्म के पालन को साम्प्रदायिकता का सबसे अच्छा समाधान मानते थे। वे चाहते थे कि सभी धर्मो के लोग अपने-अपने धार्मिक नियमों का कड़ाई से पालन करें। मौलाना साहिद फारूखी ने अपने स्मरण में बताया है- एक बार चुनाव के समय मालवीय जी रेल से बस्ती जा रहे थे, लखनऊ से मैं भी उनके साथ हो लिया। हम दोनो दूसरे दर्जे के ही डिब्बे में बैठे थे। रास्ते में ही शाम हो गई। मालवीय जी उठे, एक गिलास पानी लेकर संध्या करने बैठ गये। मेरा नमाज का वक्त भी हो रहा था, पर संकोच वश मै अपनी सीट पर ही बैठा रहा। उनके सामने नमाज पढ़ने की मेरी हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि इतने में

---

1 पं0 सीताराम चतुर्वेदी: · महामना पंडित मदनमोहन मालवीय खण्ड-2, का0हि0वि0वि0 वाराणसी, 1937 पृ0 73-101

2 सम्मेलन पत्रिका, श्रद्धांजलि विशेषांक, भाग-48, शकसम्वत, 1884, पृ0 87-88 ।

उन्होने इशारे से मुझे अपने पास बुलाकर कहा, '' तुम कैसे मौलाना हो जी? नमाज क्यो नहीं पढते? शाम की नमाज कजा करोगे क्या? उठो,! नमाज पढ़ो, वक्त हो गया।'' और मैंने चुपचाप उठकर उनके सामने ही नमाज पढ़ी। पूजा करके जब वो उठे तो बहुत खुश-खुश नजर आये। मुझे बुलाकर मेरी पीठ ठोकी और कहा-'' मैं कब यह कहता हूँ कि मुसलमान अपने मजहब का पालन न करे। इसके विपरीत मैं तो हिन्दू और मुसलमान दोनो से कहता हूँ कि अपने- अपने मजहब और धर्म पर दृढ़ रहो। तभी सबकी दोस्ती सच्ची और पक्की होगी। मेरी मुखलफत तो छुरी-कांटे वाली दोस्ती से है। वह कभी चलेगी नहीं।''[1]

खान-पान में व्यक्तिगत नियमों के पक्के पं० मालवीय जी, जो किसी ब्राहमणोत्तर का भी छुआ न तो जल लेते और न भोजन। एक बार लखनऊ में ' रिफा ए आम' की अध्यक्षता कर रहे थे। मंच पर अगल- बगल दो मुसलमान बैठे थे। मालवीय जी को प्यास लगी और बैठे- बैठ गिलास में पानी माँगकर पीया। इस पर मुंशी ईश्वर शरण द्वारा बाद में पुछे जाने पर कि वह मुसलमानो के निकट होते हुए भी जल ग्रहण करके अपनी प्रतिज्ञा न निभायेंगे। ' मालवीय जी ने कहा-'' मुसलमानों को एकता के पास में बांधने के लिए यदि उन्हें नरक भी हो तो उसे वे भोग लेंगे''[2]

साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए उनके प्रयास के तहत अनेक उदाहरण हैं। असहयोग आन्दोलन की विफलता के बाद 1921 में दिल्ली में मुहम्मद अली के घर पर महात्मा गाँधी ने 21 दिन का उपवास किया था। उस समय मालवीय जी ने वहीं उन्हें श्री मद्भागवत् का साप्ताहिक पारायण सुनाया था। श्री गिरिजाशंकर अवस्थी के

---

1 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियां (संकलन), दिल्ली, नेशनल, 1962, पृ0 27 ।

2 वेंकटेश नारायण तिवारी: महामना पंडित मदन मोहन मालवीय की जीवनी (संकलन सम्पादन) का0हि0वि0वि0, 1962, पृ0 230 ।

अनुसार'' यह एक नवीन बात थी कि एक मुसलमान के घर सात दिनों तक श्री मद्भगवत् का पाठ हो और वह भी मालवीय जी द्वारा! पर यह हुआ।'' जब मालवीय जी गोलमेज सम्मेलन से वापस आ रहे थे, इसी समय वाराणसी में साम्प्रदायिक दंगा हो गया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पास नहिदा ग्राम की एक मस्जिद तोड़ डाली गयी। इसका दोष विश्वविद्यालय के छात्रो को दिया जाने लगा। काशी पहुँचने पर जब मालवीय जी को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने विश्वविद्यालय के इन्जीनियर को बुलाकर तुरन्त मस्जिद के गिरे हुए भाग को बनवा देने की आज्ञा दी।''[1]

सन् 1935 में कुछ मुसलमान विद्यार्थियों मुसलमान त्योहारों पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में छुट्टी होने की माँग लेकर महामना से मिलने उनके निवास पर गये। उन दिनों वे बिमार थे, किन्तु विद्यार्थियो से वे अपनी सहज स्वभाविक मुस्कान और स्नेह के साथ मिले। विद्यार्थियों ने अपने आने का सबब बताकर उन्हें एक लिखित दरखास्त दी। उन्होंने फौरन ही विद्यार्थियों की बातों में दिलचस्पी ली और पूछा-'' तुम लोगों ने अपनी दरखास्त में पैगम्बर के जन्म -दिन की छुट्टी क्यों नहीं माँगी?'' और बताया कि ईमानदारी और सम्पूर्ण रूप से अपने-अपने धर्मो का पालन कितना आवश्यक है। इस्तियाक हुसैन मे बताया है कि-'' मालवीय जी कट्टर धार्मिक पुरूष थे। धार्मिकता और साम्प्रदायिकता एक चीज नहीं है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति साम्प्रदायिक हो ही नहीं सकता, वह ईमानदार जो होता है।''[2] सर मिर्जा इस्माइल ने अपने संस्मरण में लिखा है कि- मालवीय जी को मुसलमान विरोधी बताया जाता था, लेकिन जब मैसूर में उनसे पहली मुलाकात हुई तो उनसे एक संक्षिप्त संवाद ने यह सिद्ध कर दिया कि एक महान देश भक्त के प्रति उक्त कथन कितना असत्य था। मालवीय जी शुरू से अंत तक पहले भारतीय हैं,

---

1 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियां (संकलन), दिल्ली, नेशनल, 1962, पृ0 101-102 ।

2 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियां (संकलन), दिल्ली, नेशनल, 1962, पृ0 136 ।

उनके व्यक्तित्व का सबसे महान गुण, जिसने मुझे काफी प्रभावित किया, वह है- उनकी मानवीयता अनात्मशंसा और उच्च नैतिक मूल्यवत्ता।''[1]

मालवीय जी की पवित्र धार्मिक भावना की प्रशंसा करते हुए अकबर इलाहाबादी ने कहा है-

मालवीय जी सबसे बेहतर है मेरे दानिस्त में,
यानि मन्दिर में है और अपनी गऊ के साथ है।[2]

यह दुःखद है कि मालवीय जी को न सिर्फ उनके जीवन काल में ही गलत समझा गया बल्कि उनके मृत्योपरांत भी उनका सम्यक मूल्यांकन नहीं किया गया। हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों पर समय-समय पर दिये गये। उनके वक्तव्यों से यह स्पष्ट होता है कि वह भारतीय मुसलमानों के शत्रु नहीं अपितु शुभचिन्तक थे। उन्होंने कहा कि हिन्दुस्तान जैसे हिन्दुओं का प्यारा जन्म स्थान है, वैसा ही मुसलमानों का भी है। ये दोनों जातियां अब यहां बसती है और सदा बसी रहेंगी।[3]

मालवीय जी को मुस्लिम विरोधी कहे जाने पर गांधी जी ने कहा था-'' मैं मालवीय जी को हिन्दुओं में सर्वोत्कृष्ट होने के कारण सम्मान की निगाह से देखता हूँ जो यद्यपि रूढ़िवादी होने के बावजूद सर्वाधिक उदार विचार रखते है। वह मुसलमानों के शत्रु नहीं है।'' उन्होने मुसलमानो को सम्बोधित करते हुए कहा- '' आपका काम मालवीय जी के बगैर वैसे ही नहीं चलेगा, जैसे हिन्दुओं का हकीम अजमल खान के बिना।''[4]

1909 में लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुए मालवीय जी ने कहा '' मै एक झूठा हिन्दू होऊँगा और ब्राहमण कहलाने का अधिकारी नहीं रहूँगा, यदि

---

1 सर मिर्जा इस्माइल : महामना मालवीय, वर्थ कामेमोरेशन वाल्यूम, 1961, का0हि0वि0वि0, वाराणसी, पृ0 50।

2 सोरेन सिंह : मदन मोहन मालवीय, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ0 328-329।

3 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, के लेख पृ0 24-25 ।

4 यंग इण्डिया, 29 मई 1924, ।

मै हिन्दू या ब्राहमण होने के नाते मुसलमान, इसाई या भारत के अन्य किसी भी सम्प्रदाय के विरूद्ध नाजायज लाभ उठाऊँ।''[1] उन्होंने कहा– यह दुःख की बात है कि हम लोगो में से कुछ ऐसे हैं, जो एक जाति को दूसरी से लड़ाने का यत्न करते हैं–, जो हिन्दू या मुसलमान ऐसा करता है, वह राष्ट्रद्रोही है, इतना ही नहीं वह अपनी विशेष जाति का भी शत्रु है।''[2] यदि ऐसा करते हैं तो हिन्दू आर्य अपने वेदों के, ईसाई इजील के और मुसलमान अपने कुरान शरीफ के विरूद्ध चल रहे हैं, धर्म यही है कि प्राणी की प्राणी के साथ सहानुभूति हा, एक दूसरे को अच्छी अवस्था में देखकर प्रसन्न हो और गिरी हुई अवस्था में सहायता दें।''[3]

हिन्दू विश्वविद्यालय की अपनी अवधारणा से राष्ट को परिचित कराते हुए महामना ने 22 मार्च सन् 1915 को साम्रज्यीय विधान परिषद में कहा– '' महामहिम विश्वविद्यालय एक विशिष्ट जाति का संस्थान होगा परन्तु यह साम्प्रदायिक नहीं होगा। यह किसी भी प्रकार की संकीर्ण साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने के बजाय विस्तृत खुले मस्तिष्क और धार्मिक भावना को बढ़ावा देगा, जिससे व्यक्ति के बीच भातृत्व भावना का विकास हो सके।''[4]

मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार विधेयक पर अपना विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने ने कहा–'' सदियों से हिन्दू और मुसलमान एक अच्छे पडोसी की तरह रहते आये है। एक दूसरे पर विश्वास करते हैं, सहायता करते है तथा सामाजिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों में भी अतिघनिष्ठ है।''[5] उन्होने इस बात को स्वीकार किया कि भारत में विभिन्न धर्म, नस्ल और जाति के लोग रहते है, परन्तु उन्होंने इस बात को

---

1 स्पीचेज एवं राइटिंग्स ऑफ पं0 मदनमोहन मालवीय, जी0ए0 नटेशन एण्ड कम्पनी मद्रास, 1991, पृ0 114।
2 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, के लेख पृ0 24-25 ।
3 पद्म कान्त मालवीय : मालवीय जी, के लेख पृ0 101 ।
4 स्पीचेज एवं राइटिंग्स ऑफ पं0 मदनमोहन मालवीय, जी0ए0 नटेशन एण्ड कम्पनी मद्रास, 1991, पृ0 270।
5 वहीं पृ0 176–177 ।

अत्युक्ति बताया कि इससे ''राष्ट्रीय एकता को सतत् खतरा'' बना रहता है।[1] उन्होंने ने कहा कि जो भी आकस्मिक उपद्रव होते हैं- वह नौकर शाही रवैये के कारण होते है। जॉन स्ट्रच के बयान का हवाला देते हुए उन्होने कहा कि विभिन्न संघर्षरत वर्गो की आड़ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी जड़े जमाये बैठा हुआ है। उन्होंने बताया कि भारतीय रियासतों में शायद ही कही दंगे होते है। यहाँ तक कि जब यूरोपी अधिकारियों के क्षेत्रों में उपद्रव हो रहे होते हैं। तब भी वह जिले जो भारतीय अधिकारियों, हिन्दू या मुसलमान के अधीन होते है, शांत बने रहते है।[2] मालवीय जी ने कहा कि इन दंगो का एक मात्र उपाय स्वशासन ही है। सत्ता और दायित्व में हिन्दू और मुस्लिम वर्गो की सही-सही भागीदारी से सहयोग, समृद्धि और सद्भाव के नवयुग का आरम्भ होगा, जिसमें धार्मिक दंगे अतीत की बातें होगी।[3] उन्होंने दो समुदायों के मध्य होने वाली स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद बताया।

खिलाफत आन्दोलन के समय एक प्रतिनिधि मण्डल 19 जनवरी सन् 1920 को वायसराय से मिला, जिसमें मालवीय जी के अतिरिक्त महात्मा गाँधी, स्वामी श्रद्धानन्द और पं0 मोती लाल नेहरू भी सम्मलित थें।[4] इस प्रतिनिधि मण्डल ने मुसलमानों की भावना से ब्रिटिश शासन को अवगत कराया।

हिन्दू मुस्लिम एकता को भारत के लिए आवश्यक बताते हुए मालवीय जी ने कहा कि'' हमारा रिश्ता पुंराना है, मिटाये मिट नहीं सकता, हम सबको चलते-फिरते, सोते हर वक्त यह बात याद रखनी चाहिए कि मंदिर, मस्जिद, गुरूद्वारे, गिरजे सब सम्मान के काबिल हैं- हिन्दुस्तान के हिन्दू -मुसलमानों का

1 वहीं पृ0 176–177 ।
2 वहीं पृ0 180–181 ।
3 वहीं पृ0 177 ।
4 परमानन्द : मदनमोहन मालवीय भाग–2, पृ0 534 ।

दूसरा रिश्ता' इन्सानियत का और तीसरा रिश्ता 'देशवासी' होने का है- ऐ खुदा के बंदो! अपने खुदा के बंदों से इज्जत का वर्ताव करो, लड़ाई करके ईश्वर के सम्मुख जाने के लिए अपने आप को नाकाबिल मत करो- एक ही देश में रहने वाले हिन्दू और मुसलमानों का यह कर्तव्य है कि वे आपस में एकता कायम करें और याद रखें कि स्वराज के लिए हिन्दू-मुसलमानो की एकता नितांत आवश्यक है।[1]

इसी क्रम मे उन्होने हिन्दू मुसलमानों का आह्वान किया कि वे एक नागरिक सुरक्षा सेना का गठन करें जिससे दंगो के दौरान अपनी रक्षा कर सकें। परन्तु जब सम्मिलित दल बनाने के प्रयास विफल हो गये तब उन्होंने हिन्दूओं को महावीर दल संगठित करने की सलाह दी। विरोध किये जाने पर उन्होंने मुसलमानों से कहा कि वे भी चाहें तो एक मुहाफिज दल संगठित कर सकते है।[2] उनका कहना था कि महावीर दलो को मुसलमानों पर आक्रमण के लिए नहीं बल्कि हिन्दुओं की रक्षा के लिए संगठित कर रहे हैं।[3] उन्होंने स्पष्ट कहा कि-''जब कहीं हिन्दुओं द्वारा अत्याचार होते मैंने देखा है, तब मुझे दुःख हुआ है। ऐसा करना ठीक नहीं है..मुझे रोम-रोम से दुःख हुआ। मैने उसे घृणित समझा, उसकी निन्दा की।[4]

1909 के मार्ले मिन्टो सुधार 1919 के मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार तथा 1932 के मैग्डोनाल्ड एवार्ड का मानवीय जी ने विरोध किया, जबकि मैग्डोनाल्ड से उन्होंने ही बयान जारी करने को कहा था। उनके विरोध के आधार थे-

1. इससे हिन्दुओं और मुसलमानो में भेद मुलक भावना और संघर्ष का विस्तार होगा,
2. सुरक्षित और सर्वसाधारण चुनाव द्वारा मुसलमानों का प्रतिनिधित्व अधिक हो जायेगा।

---

1 पं0 सीताराम चतुर्वेदी: महामना पंडित मदनमोहन मालवीय खण्ड-2, का0हि0वि0वि0 वाराणसी, 1937 पृ0 78-79।
2 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल पं0 मदन मोहन मालवीय जीवन और नेतृत्व, का0हि0वि0वि0, वाराणसी, 1978, पृ0 316।
3 पं0 सीताराम चतुर्वेदी: महामना पंडित मदनमोहन मालवीय खण्ड-2, का0हि0वि0वि0 वाराणसी, 1937 पृ0 100।
4 पं0 सीताराम चतुर्वेदी: महामना पंडित मदनमोहन मालवीय खण्ड-2, का0हि0वि0वि0 वाराणसी, 1937 पृ0 101 ।

3. जिस आधार पर मुसलमानों को प्रतिनिधित्व दिया गया, उसी आधार पर पंजाब और आसाम में अल्पसंख्यक हिन्दुओं को प्रतिनिधित्व क्यों नहीं दिया गया?

4. प्रतिनिधि देश का होना चाहिए, न कि समुदाय या धर्म का। ऐसा होने पर समाज के विभिन्न घटकों के प्रतिनिधित्व की समस्या होगी, जिससे राष्ट्रहित का विध्वंस होगा,

5. मतदाताओ की योग्यता के नियम विभेदकारी और समानता के सिद्धान्त के विपरीत है, और

6. सम्प्रदाय और सम्पत्ति पर आधारित पद्धति गलत है।[1]

सन् 1909 में लाहौर कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण मे मालवीय जी ने ,सलमानों से अपील की थी कि वे पार्थक्य के स्थान पर देशभक्ति का श्रेयष्कर ार्ग ग्रहण करें। कांग्रेस धर्म, जाति और सम्प्रदाय के आधार पर सुविधाओं का ररोध करती है। विभेद और पक्षपात की राजनीति ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कूटनीति ।[2] मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया में हिन्दू महामना के गठन का मालवीय जी ने ाहौर कांग्रेस मे विरोध किया। उनके अनुसार इन दोनों में जितना ही बैर , विरोध ा अनेकता होगी उतना ही हम दुर्बल होगें[3] हिन्दू- मुस्लिम भेद-भाव का प्रतिकार में सनातन धर्म के मूल सिद्धान्त के पालन से करना चाहिए।[4]

दिसम्बर 1910 की प्रयाग कांग्रेस में जिन्ना ने प्रस्ताव किया कि पृथक नर्वाचन पद्धति स्थानीय निकायों में न किया जाय। मजहरूलहक ने इसका अनुमोदन ौर सैय्यद इमाम साहब ने समर्थन किया। 24जनवरी, 1911 को केंन्द्रीय विधान

प्रज्ञा-का०हि०वि०वि० पत्रिका, 1993–1996, पृ०282 ।
रिपोर्ट 24 इंडियन नेशल कांग्रेस 1909, पृ0 44-45 ।
अभ्युदय, फाल्गुन शुक्ल 13, संम्वत् 1963 ।
वही ।

परिषद में मालवीय जी ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का विरोध किया[1] भूपेन्द्र नाथ वसू, मजहरूलहक और सैय्यद अली इमाम ने इसका समर्थन किया। 1912 के शरद सत्र में उन्होंने समान निर्वाचन प्रक्रिया के प्रस्ताव की नोटिस दी लेकिन वायस राय ने प्रस्ताव पेश करने की अनुमति नहीं दी। 1916 में काग्रेस -लीग समझौते मे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का उन्होंने विरोध किया। एनीबेसेन्ट, तिलक, श्री निवास शास्त्री, मोती लाल नेहरू, सरतेज बहादुर सप्रू और जिन्ना भी यही मानते थे। मुस्लिम लीग के हट पर जब सब सहमत हो गये तो मालवीय जी ने भी'काल विशेष' सिद्धान्त पर प्रतिनिधि सरकार की आशा में इसे मान लिया[2] नौरोजी के आदेश पर मालवीय जी ने देशभर मे जाति, धर्म से परे-राष्ट्रनिर्माण में' स्वराज्य' का प्रचार किया[3]

1918 के दिल्ली कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में मालवीय जी ने आत्मनिर्णय पर मुस्लिम लीग की सहमति का उल्लेख किया। सरकार द्वारा जनमत की अवहेलना पर मालवीय जी के साथ कौसिल कान्सील की सदस्यता से त्याग पत्र देने वालो में जिन्ना और मजहरूलहक भी थे। 9 अप्रैल को पंजाब में राम-नौवमी धूम धाम से मनायी गयी, जिसमे हिन्दू मुस्लिम एकता का जोर दार प्रर्दशन हुआ। 31 दिसम्बर 1921 के अहमदाबाद कांग्रेस मे मौलाना हजरत मुहानी के पूर्ण स्वराज का कुरान शरियत और हदीस के आधार पर उलेमाओं ने समर्थन करते हुए अधिवेशन में भाग लिया[4] असहयोग आन्दोलन के समय मालवीय जी ने अस्पृश्यता स्वदेशी, खद्दर के साथ हिन्दू मुस्लिम एकता पर अत्यधिक जोर दिया।

हिन्दू महासभा के आरम्भिक काल में मालवीय जी का उससे विशेष सम्बन्ध नहीं था।वे महासभा द्वारा कांग्रेस विरोध से सहमत नहीं थे। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य

---

1 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिंल, जि0 49, पृ0 133 ।

2 लाइफ एण्ड स्पीचेज, वहीं पृ0 572 ।

3 बम्बई भाषण, 10 जुण्लाई सन् 1917 एवं प्रयाग भाषण 8 अगस्त सन् 1917 वही ।

4 पट्टाभि सितार मैया, हिस्ट्री ऑफ नेशनल कांगस, पृ0 229।

उभारना मालवीय जी सनातन धर्म के अनुसार पाप समझते थे।[1] 1921 में उन्होंने गोलमेज सम्मेलन अल्पसंख्यक समिति में स्पष्टतया कहा कि वे हिन्दू महासभा के संस्थापक और प्रवर्तक नहीं है।[2]

दिसम्बर 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना के कुछ ही दिनों बाद जनवरी, 1907 में पंजाब में हिन्दू सभा' स्थापित की गयी।[3] सन् 1912 में इसने 'अखिल भारतीय हिन्दू महासभा' का स्वरूप धारण किया और हरिद्वार में इसका कार्यालय स्थापित हो गया और वहीं किसी पर्व के अवसर पर इसके अधिवेशन होते रहे।[4] 1920 तक मालवीय जी का हिन्दू महासभा से कोई सम्बन्ध न था। लेकिन जब मुसलमान गुण्डों के अत्याचारों के कारण हिन्दू मुसलमान झगड़े और हिन्दुस्तानियों की परेशानियां बढ़ती चली गयीं, नागरिक सेना कहीं भी ठीक तौर पर बन नहीं सकी और कांग्रेस शांति बनाए रखने के लिए कोई प्रभावशाली कार्य नहीं कर सकी, तब राजेन्द्र प्रसाद जी के अनुरोध पर मालवीय जी ने गया में आयोजित हिन्दू महासभा के सम्मेलन को अध्यक्षता स्वीकार कर ली। यह सम्मेलन कांग्रेस के अधिवेशन के समय दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में सन् 1922 में आयोजित हुआ।[625] आगे भी प्रयाग (सन् 1924), कलकत्ता (सन् 1925), जबलपुर (सन् 1928) तथा पूना (सन् 1935) के अधिवेशनों की अध्यक्षता मालवीय जी ने की थी। उनके नेतृत्व में हिन्दू महासभा की रीति-नीति में काफी परिवर्तन आये। अम्बिका प्रसार वाजपेयी के अनुसार मालवीय जी का हिन्दू महासभा से सम्बन्ध रखना मुस्लिम तुष्टीकरण के कुछ कांग्रेसी नेताओं को अनुचित प्रतीत होता था। लेकिन लाला लाजपत राय का मानना था कि- जैसे सेठ जमुनालाल मारवाड़ी अग्रवाल महासभा

---

1 पद्मकान्त मालवीय मालवीय जी के लेख,(संकलन) पृ0 24-25।

2 राउण्ड टेबल कांफ्रेन्स, सेकन्ड सेशन, माइनारिटी कमेटी रिपोर्ट पृ0 1350।

3 मुकुट बिहारी लाल, वही, पृ0 302।

4 वही, पृ0-303।

5 वही, पृ0-307।

के नेता कांग्रेस में भी है; वैसे ही हम लोग हिन्दू महासभा में भी हैं। दोनों में कोई विरोध नहीं है।[1]

हिन्दू महासभा के मंच से मालवीय जी ने हिन्दू जाति की प्राचीनता, विशिष्टता और गौरव की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान आकृष्ट करते हुए बताया कि लोकमान्य तिलक की राय में 'कम से कम आठ हजार वर्ष से यह जाति जीवित है।''[2] मालवीय जी ने कहा कि ऋग्वेद के समय से आज तक यह जाति एक जीवित जाति के रूप में चली आ रही है।[3]

अपने अभिभाषण में मालवीय जी ने कहा कि बौद्ध, जैन और सिक्ख भी वृहद् हिन्दू जाति के अंग हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक कवि के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत किया-

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाण पतृवः कर्त्तेति नैयायिकाः।।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्म्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वांच्छितफलं त्रैलोक्यनाथें हरिः।।

अर्थात् जिसको शैव शिव कहकर पूजते हैं, वेदान्ती ब्रह्म कहकर, बौद्ध, लोग बुद्ध नैयायिक कर्ता, जैनधर्म के अनुयायी अर्हत और मीमांसा कर्म कहकर। पूजते हैं, वह तीनों लोकों का स्वामी आपका मंगल करे।[4].

मालवीय जी की अध्यक्षता में ही सन् 1923 में हिन्दू महासभा का लक्ष्य निर्धारित किया गया, जिसके द्वारा- ''हिन्दू समाज के सभी पंथ वालों में तथा सभी वर्ग वालों में पारस्परिक प्रेम की वृद्धि करके एकीकरण द्वारा अपने इस महान

1 वर्थ कामेमोरेशन वाल्यूम 1961, पृ0 162 ।
2 सीताराम चतुर्वेदी : महामना मालवीय जी पृ0 92 ।
3 वही।
4 वही पृ0 93।

समाज को सुसंगठित प्रबल व उत्कर्षोन्मुख बनाना और सर्वांगीण विकास करना हिन्दू महासभा का प्रमुख उद्देश्य माना गया। संघटित हिन्दू जाति व भारत की अन्य जातियों के साथ परस्पर सद्भाव उत्पन्न करके भारत को स्वयं शासित स्वराज्य युक्त एवं महान् बनाने का प्रयत्न करने के लिए उनसे मित्रता बढ़ाना हिन्दू महासभा का दूसरा प्रमुख लक्ष्य माना गया। हिन्दू महासभा के अन्य उद्देश्य ये- हिन्दू जाति के निम्न वर्गो के साथ सब वर्गो की उन्नति करके उन्हें ऊँचा उठाना, हिन्दुओं के हित की जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ उनकी रक्षा करना। हिन्दुओं का संख्याबल कायम रखना व उसे बढ़ाना, हिन्दू स्त्रियों की स्थिति सुधारना, गो रक्षण व गो-संवर्द्धन करना, हिन्दू जाति के धर्म, सदाचार, शिक्षण और सामाजिक, राजकीय और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना आदि''। इसी अधिवेशन में हिन्दू महासभा के विधान में एक टिप्पणी द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि '' हिन्दू महासभा हिन्दू जाति के किसी भी विशेष पन्थ का, राजनीतिक पक्ष का पक्षपात अथवा विरोध नहीं करेगी अथवा किसी पंथ के मन में रद्दो बदल नहीं करेगी।[1]

वस्तुतः 1920 का दशक भारत में साम्प्रदायिकता के विकास का दशक है। सन् 1923 में अपने अध्यक्षीय भाषण में मौलाना अब्दुल कलाम आजाद ने साम्प्रदायिकता की समस्या पर अपनी चिन्ता व्यक्त की। अधिवेशन में उपस्थित हिन्दू महासभा के नेताओं और जमैयतुल उलेमा के मौलवियों के बीच तीखी नोंकझोंक हुई। बाद में 7 हिन्दुओं और 7 मुसलमानों की एक कमेटी बनायी गयी। इसमें मुख्य रूप से मालवीय जी, श्रृद्धानन्द जी तथा देवबन्द के मौलवी शबीर हसन के बीच बातचीत हुई। मुसलमान चाहते थे कि हिन्दू संगठन और शुद्धि आन्दोलन खत्म कर दिये जायें, पर मालवीय जी और श्रद्धानन्द जी इसके लिए तैयार नहीं थे। मालवीय जी ने कहा कि वे तो पहले ही विभिन्न सम्प्रदायों के नवयुवकों की नागरिक सेना

1 वही, पृ0-88-89

बनाने का प्रस्ताव कर चुके हैं ओर उसके लिए अभी भी सहमत हैं। उन्होंने कहा कि यदि दंगा बन्द हो जाय और हिन्दुओं की रक्षा के उपाय कर दिये जायँ, तो हिन्दू संगठन का आन्दोलन अपने आप समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार समिति के द्वारा कोई समाधान नहीं निकल पाया, लेकिन कमेटी ने आखिर में यह निश्चय किया कि एक जाँच कमेटी नियुक्त की जाय जो दंगों की जांच करे तथा उसे शान्त करने के उपाय बताये। 7 संदस्यी जांच कमेटी में जनाब अब्बास तैयब जी, जनाब टी0के0 शेरवानी, बाबू भगवान दास, बातू पुरूषोत्तम दास टण्डन, मास्टर सुन्दर सिंह, श्री जार्ज जौसेफ और श्री बी0एच0 भरूचा को शामिल किया गया। मौलवियों और पंडितों की ओर से यह घोषणा की गयी कि धर्मस्थानों और सभी धर्मो के लोगों की समान रूप से रक्षा की जाय। सौहार्द के लिए नेशनल पैक्ट की तैयारी की गयी जिसमें -पूर्ण स्वराज्य की मांग फिर से पुष्ट की गयी और स्वराज्य की प्राप्ति होने पर संघीय लोकतांत्रिक सरकार प्रतिष्ठित करना निश्चित किया गया। यह स्पष्ट किया गया कि सबको पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होगी परन्तु साम्प्रदायिक संस्थाओं पर सरकारी धन खर्च नहीं होगा। यह निश्चित किया गया कि 'हिन्दुस्तानी' राष्ट्रभाषा होगी, जिसकी लिपि देवनागरी और उर्दू होगी। यह भी निश्चित किया गया कि सरकारी नौकरियों में तथा शिक्षण संस्थाओं में जाति, सम्प्रदाय या रंग का कोई भेद नहीं होगा, संयुक्त निर्वाचन पद्धति स्थापित की जायेगी तथा विभिन्न सम्प्रदायों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में स्थान सुरक्षित किये जायेंगे। मुसलमान गों-हत्या बन्द कर दें और हिन्दू मस्जिदों को सामने बाजा बंजाना वन्द कर दें।

उपर्युक्त नेशनल पैक्ट का प्रकाशित होना अभी बाकी था कि इसकी उपेक्षा करते हुए देशबन्धु चितरंजन दास ने बंगाल के मुस्लिम नेताओं के सहयोग से बंगाल पैक्ट प्रकाशित कर दिया, जिसका मालवीय जी ने जोरदार विरोध किया। मालवीय जी ने कहा कि यद्यपि पैक्ट का सम्बन्ध केवल बंगाल से है, फिर भी इसका प्रभाव बंगाल तक सीमित नहीं रह सकता। ऐसी दशा में प्रांतीय कांग्रेस समिति द्वारा

प्रान्तीय स्तर पर किसी राष्ट्र-व्यापी प्रश्न पर समझौता करना अनुचित था।[1] उन्हें सन्देह था कि इस पैक्ट के बाद नेशनल पैक्ट पर ठीक प्रकार से विचार नहीं हो सकेगा। दोनों पैक्टों पर विचार के बाद अंततः दोनों समुदायों (हिन्दू और मुसलमान समुदाय) की सहमति प्राप्त नहीं हो सकी। इस तरह नेशनल पैक्ट का प्रयास सफल न हो सका और साम्प्रदायिक समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

दिसम्बर, 1927 में कांग्रेस का मद्रास में अधिवेशन हुआ, जिसमें यह संस्तुति की गयी कि-" उन अधिकारों की पूर्णधारणा के बिना, जिसका हिन्दू और मुसलमान दावा करते हैं- एक, वह जहाँ चाहे बाजा बजाने और जुलूस निकालने का, और दूसरा जहाँ चाहे कुर्बानियाँ करने या खाने के लिए गोकुशी का- मुसलमान, मुसलमानों से यह अपील करते हैं कि वे गायों के सम्बन्ध में हिन्दुओं की भावनाओं का जहाँ तक संभव हो लिहाज रखें और हिन्दू हिन्दुओं से यह अनुरोध करते है कि वे मस्जिद के सामने बाजा बजाने के मामले में मुसलमानों की भावनाओं का यथा सम्भव लिहाज रखें और इसलिए यह कांग्रेस हिन्दू और मुसलमान दोनों से अनुरोध करती है कि गोवध को या मस्जिद के सामने बाजा बजाने को रोकने के लिए हिंसा या न्यायालय का आश्रय न लें।[2] इस सम्मेलन में यह प्रस्ताव भी किया गया कि-

अंतःकारण की स्वतन्त्रता, धार्मिक साहचर्य, शिक्षा-दीक्षा और प्रचार की स्वतंत्रता, धर्मानुचरण की स्वतंत्रता, संयुक्त निर्वाचन पद्धति, भाषा के आधार पर प्रांतों का गठन हो तथ दूसरों की भावनाओं का यथोचित सम्मान आदि लोकतांत्रिक सिद्धान्तों को सम्मान मिलना चाहिए। इस प्रस्ताव में पारस्परिक सौहार्द्र की पुष्टि तथा अल्पसंख्यकों के सन्तोष के लिए कुछ अन्य आवश्यक बातों की भी व्यवस्था थी।

---

1 अबुल कलाम आज़ाद : इण्डिया विंस फ्रीडम, कलकत्ता, ओरियन्ट लॉग मैन्स, 1959, पृ0 9-12 ।

2 इण्डियन क्वाटरली रजिस्टर, सन् 1927, जि0-2, पृ0 398 ।

इस प्रस्ताव पर अपना मत प्रकट करते हुए श्री निवास आयंगर ने कहा--" कांग्रेस उन दो महापुरूषों की निःसन्देह कृतज्ञ है, जिन्होंने कांग्रेस के इस मद्रास अधिवेशन को स्मरणीय बना दिया है। ये महापुरूष महात्मागांधी और पंडित मदन मोहन मालवीय हैं, जिन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के कलकत्ता प्रस्ताव से पैदा हुई कठिनाइयों को दूर करना सम्भव कर दिया।"[1] उन्होंने कहा कि हम इस प्रस्ताव द्वारा पक्के अत्यधिक साम्प्रदायिकता के युग से पूर्ण राष्ट्रीयता की ओर, अपूर्ण राष्ट्रीयता की अस्थायी पगडंडी से होकर प्रकट हो रहे हैं।[2]

मालवीय जी ने कहा कि मतभेदों को सुलझाकर, झगड़ों को मिटाकर स्वराज्य के लिए आगे बढ़ना ही इस प्रस्ताव का लक्ष्य है। इस प्रस्ताव से पृथक् निर्वाचन पद्धति समाप्त हो जायेगी, अच्छा होता यदि विधानमंडलों में स्थानों का आरक्षण भी समाप्त कर दिया गया होता। हिन्दू और मुसलमानों को मिलकर एक प्रतिनिधि चुनने को तैयार होना चाहिए। चाहे कोई सदस्य किसी भी सम्प्रदाय का हो, उसे देश के हित में काम करना चाहिए। प्रस्ताव में व्यवस्था की गयी कि यदि जनता के वित्तीय और आर्थिक हित में भाषा के आधार पर प्रांतों का पुनर्गठन हो, तो होना ही चाहिए। उन्होंने कहा कि मुसलमानों को गो-वध बन्द कर देना चाहिए तथा हिन्दुओं को मस्जिदों के सामने बाजा नहीं बजाना चाहिए। हिंसा को त्यागकर, न्यायालयों में दौड़ लगाने की आदत छोड़कर झगड़ों को आपसी विचार विनिमय से सुलझाना चाहिए। मालवीय जी ने कहा कि हमें उस दिन की प्रत्याशा करनी चाहिए, जब हमारे जहाज हमारे आदमियों से चालित हमारा झंडा फहराते हुए हिन्द महासागर में चलें। हम चाहते है कि हमारी सेना हमारे कमान्डरों और जनरलों से आदेशित और नियंत्रित हो। हमारी लोक सेवा के ऊँचे पदों पर विदेशी लोगों के स्थान पर अपने देश के नागरिक आसीन हों।[3] मालवीय जी ने कहा कि यह तभी

---

1 वही पृ0 409 ।

2 वही पृ0 409-410 ।

3 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल : वही पृ0 352 ।

संभव है जब सभी जाति, विरादरी और सम्प्रदाय के लोग मिलकर काम करें। हिन्दू और मुसलमान एक ईश्वर के बन्दे है, एक माता, भारत के बच्चे हैं। 6000 मील से आकर अंग्रेज हम पर शासन करते हैं। यह बहुत लज्जा की बात है। इसे धो डालना हमारा कर्तव्य है। ब्रिटिश सरकार एक दिन हम पर शासन नहीं कर सकती यदि हिन्दू, मुसलमान, एंग्लो-इण्डियन आदि सब मिलकर अनुभव करें कि एक ही परमात्मा और एक ही भारत माता हैं। उन्होंने कहा, उसी में हम सबका कल्याण हैं।[1]

मौलाना मुहम्मद अली ने मालवीय जी के अद्‌भुत भाषण की प्रशंसा करते हुए कहा कि "यदि पंडित मदन मोहन मालवीय अपने इस अद्‌भुत प्रशंसनीय भाषण के अनुसार काम करें, तो जब अर्ल विन्टर टैन (उप-भारत मंत्री) हमसे कहेगा कि वह अल्पसंख्यकों का हिमायती है, तब हम उनसे कहेंगे कि यह गलत है, अल्पसंख्यकों के हिमायती तो पंडित मालवीय है। मिस्र में पिच्यान्वे प्रतिशत मुसलमान और पांच प्रतिशत ईसाई रहते हैं। जगलोलपाशा का ईसाईयों के साथ ऐसा सद्व्यवहार रहता है कि जब मिलनर कमीशन मिस्र गया और उसने ईसाईयों से बात करनी चाही तो सबने कह दिया कि जगलोलपाशा से बातें की जायें। उन्होंने अत्यंत भावावेग भरे शब्दों में कहा कि मै पंडित मालवीय में अपना विश्वास रखने की प्रतिज्ञा करता हूँ, मै उन्हें धोखा नहीं दूंगा मै विश्वास करता हूँ कि वे मुझे धोखा नहीं देंगे।[2]

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या पर इलाहाबाद में सन् 1932 में एकता सम्मेलन किया गया, जिसका नेतृत्व मालवीय जी को सौंपा गया। 71 वर्ष की आयु में भी मालवीय जी दिन में 12-14 घंटे काम करते थे। उनके प्रयास से एकता सम्मेलन समिति ने सर्वसम्मति से एक समझौता किया।

---

1 इण्डियन क्वाटरली रजिस्टर, सन् 1927, जि0-2, पृ0 408-409 ।

2 इण्डियन क्वाटरली रजिस्टर, सन् 1927, जि0-2, पृ0 410-411 ।

इस समझौते में कहा गया कि इस सम्मेलन की राय में जनहित की सुरक्षा तथा भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति जनता के प्रति उत्तरदायी तथा सरकार के पूर्ण अधिकारों से सम्पन्न केन्द्रीय सरकार ही कर सकती है। सम्मेलन ने मांग की कि रक्षा, वैदेशिक नीति, वित्तीय अधिकारों के साथ केन्द्रीय शासन उन संरक्षणों के साथ जो भारतीय हितों के लिए प्रामाण्य रूप से आवश्यक हों, भारतीय जनता को हस्तान्तरित कर दिये जायें। यह भी निश्चय हुआ कि केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के अधिकारों की विस्तृत सूचियां तैयार की जायें तथा अवशिष्ट अधिकारों का प्रयोग प्रासंगिकता तथा अनुसूचित विषयों से घनिष्ठता के आधार पर केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों द्वारा किया जाये। न्याय की दृष्टि से सभी नागरिकों को समान माना गया। सबको सार्वजनिक सड़कों, सार्वजनिक कुओं आदि सार्वजनिक स्थलों के प्रयोग का समान अधिकार होगा। सभी नागरिकों के जीवन और स्वतंत्रता की राज्य द्वारा रक्षा की जायेगी। इसमें धर्म, सम्प्रदाय, जाति, प्रजाति और लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होगा। कानूनी या प्रशासनिक व्यवस्थाओं द्वारा अल्पसंख्यकों के साथ किसी प्रकार का भेदमूलक व्यवहार न तो स्थापित किया जायेगा और न ही किसी भेदमूलक ढंग पर उनकी व्याख्या की जायेगी या उनका प्रयोग किया जायेगा। साधारण सार्वजनिक व्यवस्था और शिष्टता के अधीन प्रत्येक नागरिक को विश्वास की स्वतंत्रता तथा अपने धर्म की स्वतंत्र अभिव्यक्ति और व्यवहार की गारंटी होगी। प्रत्येक अल्पसंख्यक समुदाय को अपने खर्चे पर परोपकारी, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और सामाजिक संस्था स्थापित करने का तथा संचालन और प्रबन्ध करने का और उनमें अपनी भाषा और लिपि प्रयोग करने का एवं अपने धर्म के अनुसरण करने का समान अधिकार होगा। साधारण लिपि के रूप में हिन्दी और उर्दू अक्षरों के प्रयोग के अधिकार के साथ 'हिन्दुस्तानी' केन्द्रीय सरकार की भाषा होगी। प्रांतों में प्रातीय भाषा सरकारी भाषा होगी, परन्तु हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी के प्रयोग की अनुमति होगी।

इस सम्मेलन में यह भी निश्चय किया गया कि प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्म, संस्कृति और पर्सनल लॉ की पूरी तरह से रक्षा की जायेगी और उसके लिए (1) बुनियादी अधिकारों से सम्बन्धित परिच्छेद में प्रत्येक सम्प्रदाय को संस्कृति, भाषा, लिपि, शिक्षा तथा धर्म की स्वीकारोक्ति और व्यवहार की एवं धर्मादा कोष के अधिकार की गारंटी दी जायेगी, (2) संविधान की विशिष्ट व्यवस्था द्वारा परसनल लॉ सुरक्षित किया जायेगा, (3) विभिन्न प्रांतों में अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा का उत्तरदायित्व सर्वोच्च न्यायालय पर होगा, (4) सम्बन्धित सम्प्रदाय के जनमत के आधर पर ही किसी सम्प्रदाय के परसनल लॉ में तब्दीली होगी, (5) मुसलमानों के पर्सनल लॉ में इस्लाम के सिद्धान्तों के आधार पर ही कोई तब्दीली की जा सकेगी।

उस सम्मेलन द्वारा यह निश्चय हुआ कि सेना प्रांतीयता से निर्मूक्त होगी और उसमें भर्ती योग्यता के आधार पर होगी जाति और सम्प्रदाय के आधार पर नहीं।यह भी निश्चय हुआ कि विधान सभाओं के चुनाव संयुक्त निर्वाचन पद्धति द्वारा होंगे, पर दस वर्ष तक मुसलमानों के लिए केन्द्र में, बंगाल और पंजाब में तथा उन प्रांतों में जहाँ वे अल्पसंख्यक हैं, कतिपय स्थान सुरक्षित रहेंगे। इसी तरह पंजाब और केन्द्र में सिक्खों के लिए तथा पंजाब बंगाल और सिंघ में हिन्दुओं के लिए संयुक्त निर्वाचन पद्धति के अन्तर्गत निश्चित अनुपात से स्थान सुरक्षित रहेंगे तथा ऐसा ही प्रबन्ध हिन्दुओं के लिए उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में भी किया जायेगा। केन्द्रीय विधान सभा में 32 प्रतिशत स्थान मुसलमानों के लिए था 1 स्थान एंग्लो इण्डियन के लिए सुरक्षित होगा बाकी स्थान आम चुनाव क्षेत्र में होंगे।

यह भी निश्चित हुआ कि मुसलमानों की इस राय पर विचार करने के लिए कि उनके विवाह और तलाक के मामलों का निर्णय करने के लिए काजी नियुक्त किये जायें, एक समिति नियुक्त की जायेगी।[1]

---

1 इण्डियन क्वाटरली रजिस्टर, सन् 1932, जि0-2, ।

एकता सम्मेलन के बाद मालवीय जी ने काफी लम्बा एक वक्तव्य प्रसारित किया, जिसमें उन्होंने स्वीकार किया कि विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण से आँकने पर इस समझौते में कई दोष दिखायी देंगे, पर उसका कारण तो वह परिस्थिति है, जिसमें यह समझौता तैयार किया गया। फिर राष्ट्रीय एकता के बड़े लक्ष्य को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि यह एक श्रेष्ठ प्रासाद है, जो जनता की राष्ट्रीय स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय की आशाओं और आकांक्षाओं को एवं उनके राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उत्थान को प्रतिष्ठापित करता है। उन्होंने आशा व्यक्त की कि समझौते ने एकता और सद्भाव की जिन शक्तियों को पैदा किया है वे सब पार्टियों को जनहित की वृद्धि की दिशा में प्रेरित करेंगी। इस समझौते के द्वारा यूरोपियों की मदद से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता आसानी से प्रतिष्ठित हो सकती है। मालवीय जी ने यह भी कहा कि यदि यूरोपियन राजी न हों, तो भी हिन्दू और मुसलमान आपस में मिलकर दूसरे अल्पसंख्यकों के सहयोग से ऐसा समझौता कर सकते हैं, जिसे प्रधानमंत्री को मानना पड़ेगा।[1] लेकिन अंततः सम्मेलन की बात मानने के लिए ईसाई और मुस्लिम नेता तैयार नहीं हुए, फलस्वरूप समझौता न हो सका।

मालवीय जी हमेशा हिन्द-मुस्लिम एकता के लिए प्रयासरत रहे, किन्तु हिन्दुओं के हित के लिए भी वे सदैव चिन्तित रहते थे। बिना बहुसंख्यक जनता का कल्याण किये स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए सन् 1946 के अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा कि धर्म परिवर्तन बन्द होना चाहिए। जो जबरदस्ती मुसलमान बनाए गये हैं और फिर हिन्दू बनना चाहते है, उन्हें फिर हिन्दू समाज में प्रवेश की सुविधा मिलनी चाहिए। हिन्दुओं को आत्मरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। स्वयं जीवित रहना और दूसरों को जीवित रखना उनका उद्देश्य हो। मै अपने हिन्दू भाइयों से यह नहीं कहता कि जहाँ मुसलमान कमजोर या कम हो, वहां वे उन पर

1 चौधरी खलीकुज्जमा : पाथ वे टु पाकिस्तान, पृ0 116–119 ।

आक्रमण करें, पर मैं हिन्दुओं को यह अवश्य कह रहा हूँ कि जहां वे दुर्बल है, वहां वे सबल बनें, जहाँ उनकी संख्या कम है, वहां वे सफलतापूर्वक अपनी रक्षा करें।[1] उन्होंने लिखा कि यदि मुसलमान तथा अन्य जाति या धर्म के मानने वाले लोग हिन्दुओं के साथ शान्ति से रहना चाहते हैं, तो उन्हें हिन्दुओं के धर्म का आदर करना पड़ेगा। वे हिन्दुओं के पूजागृहों, मन्दिरों को भ्रष्ट नहीं कर सकेंगे और धार्मिक स्वतंत्रता, जीवन की पवित्रता एवं स्त्रियों के सतीत्व का उन्हें अवश्य सम्मान करना होगा।[2] उन्होंने कहा कि हिन्दुओं की तथा अन्य जातियों की राजनीतिक उन्नति कांग्रेस के हाथों में सुरक्षित हो सकती है परन्तु हिन्दुओं के विरूद्ध साम्प्रदायिक प्रश्नों पर तथा धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के प्रश्नों पर अंतिम निर्णय देने का अधिकार निश्चित ही किसी हिन्दू संस्था को ही है, जो इसकी ओर से बोलने तथा कार्य करने के लिए प्रतिनिधित्व करती हो। उनकी धारणा थी कि सामाजिक संगठन के आधार पर निर्मित अराजनीतिक संस्थाओं के अभाव ने राष्ट्रीयता के मोर्चे को दुर्बल बना दिया है तथा खुश करने की राजनीतिक नीति ने मुस्लिम लीग की असम्भव मॉगों को जन्म दिया हैं।[3]

यह एक कड़ा वक्तव्य था, जिसे मालवीय जी ने कलकत्ता और नोआखली में हिन्दुओं पर किये गये अत्याचारों की प्रतिक्रिया में तैयार कराया था। वरना मालवीय जी का धर्म के बारे में विचार था कि "दूसरों के प्रति हमको वह काम नहीं करना चाहिए, जिसको यदि दूसरा हमारे प्रति करे, तो हमको बुरा लगे। संक्षेप में यही धर्म है, इसके अतिरिक्त दूसरे सब धर्म किसी बात की कामना से किये जाते है।"

यद्यपि मालवीय जी ने शुद्धि आन्दोलन को प्रोत्साहित किया, अपने धर्म का व्यापक प्रचार और प्रसार शास्त्र संगत और हिन्दुओं का कर्तव्य बताया, फिर भी उन्होंने कभी भी किसी दूसरे धर्म, धर्मगुरू या धर्मग्रन्थ की निन्दा नहीं की। उनका

1 प्रो0 मुकुट बिहार लाल: वही, पृ0 571 ।
2 प्रो0 मुकुट बिहार लाल: वही, पृ0 571 ।
3 प्रो0 मुकुट बिहार लाल: वही, पृ0 572।

कहना था कि "मैं सदैव अपने धर्म का दृढ़ विश्वासी और पाबन्द हूँ, परन्तु किसी के धर्म का अपमान करने का ख्याल तक मेरे दिल में कभी नहीं आया।"[1] वे चाहते थे कि धर्म प्रचार का कार्य बहुत शांति और धैर्य के साथ होना चाहिए।[2] वह इस प्रकार या तरीके से हो, जिससे किसी को क्लेश न पहुँचे। एक दूसरे को कटु बचन कहने से रोकना चाहिए और ऐसे उपाय सोचने चाहिए, जिनसे प्रीति और मित्रता बढ़े।[3] मालवीय जी ने धार्मिक समन्वय के लिए कभी प्रयास नहीं किया परन्तु वे यह स्वीकार करते थे कि सत्य और ईश्वर की आराधना समस्त धर्मो का मूल है। सभी धर्मो में कुछ मूलभूत सद्‌गुण विद्यमान हैं, जीवनसिद्धि के अनेक मार्ग है, मानव अपनी रूचि और परम्परा के अनुकूल अपना मार्ग निश्चित कर और दृढ़ निष्ठा के साथ उस पर चलकर सद्‌गति प्राप्त कर सकता है।

मालवीय जी मनुष्यता को जाति-पाँति और साम्प्रदायिक भेदों से ऊँचा समझते थे।[4] मालवीय जी यह स्वीकार करते थे कि शास्त्रविहित विधियों का यन्त्रवत् अनुकरण निःसन्देह हानिकर है।[5] तथा हमारे नित्यकर्मो में कई ऐसी प्रथाओं का समावेश हो गया है, जो किसी प्रकार शास्त्रविहित नहीं है।[6] वे परम्पराओं का परिशोधन तथा प्रगति का नियमन समाजोत्थान तथा जीवनोत्कर्ष के लिए परमावश्यक समझते थे। उनका कहना था कि "मैं शास्त्र की रस्सी थमकर चलता हूँ और में जो कुछ कहता हूँ, शास्त्र के आधार पर कहता हूँ।[7] उनका मानना था कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के विश्वजनीन आदेशों का अनुसरण प्राचीन परम्पराओं की जड़ताओं को दूर कर सकता है, जीवन को मानवीय, प्रगतिशील और समाजोपयोगी बना सकता है।

---

1 लाहौर में भाषण, 28 जून सन् 1923 ।
2 पंजाब हिन्दू सम्मेलन, सन 1924 ।
3 लाहौर में भापण, 28 जून सन् 1923 ।
4 कानपुर भाषण, 28 जून सन् 1931 ।
5 अभ्युदय 1 मई सन् 1908 ।
6 वही।
7 पंजाब हिन्दू सम्मेलन, सन 1924 ।

मालवीय जी मानव कल्याण को ही परम धर्म मानते थे। उनका मानना था कि निष्काम भाव से समाज की सेवा ही परम तप और परम धर्म है। वे कहते थे कि " जो लोग निष्काम भाव से काम नहीं करते, उन लोगों में परस्पर ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न हो जाते है और कार्य सफल नही होने पाता, किन्तु जहाँ निष्काम भाव से कार्य होता है वहाँ लोग दूसरे की सफलता देखकर प्रसन्न होते हैं और एक दूसरे के प्रति प्रेम ओर सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है इसलिए कार्य में शीघ्र ही सफलता प्राप्त होती है। सकामभाव से काम करने वालों को विपत्तियां काम करने से विमुख कर देती हैं, किन्तु निष्काम भाव से काम करने वाले लोग यह समझकर कि जो काम हम कर रहे हैं वह ईश्वर का काम ही है और इसमें ईश्वर हमारा सहायक है, वे किसी विघ्न या बाधा से पीछे नहीं हटते हैं।[1]

मालवीय जी ने तप की व्याख्या करते हुए कहा कि सच्चे तप का भाव उस देशभक्त में है जो अपने देश एवं अपनी जाति के गोरव और प्रतिष्ठा, कीर्ति और मान, सम्पत्ति और ऐश्वर्य की वृद्धि और उन्नति के लिए दृढ़ इच्छा रखता है, अनेक प्रकार के दुःखों, संकटों और कष्टों को सहन करने, कठिन से कठिन मेहनत और श्रम को उठाने और विध्नों का मुकाबला करने के लिए उद्यत रहता है।[2]

इस प्रकार मालवीय जी मनुष्य का मुख्य धर्म देश-भक्ति मानते थे। उनके अनुसार सच्चा तप अपने भाइयों के ताप से तत्प होना, सच्चा यज्ञ अपने स्वार्थ की आहूति देना, सच्चा दान परमार्थ करना है। सच्ची ईश्वर सेवा दुखी जीवों की सहायता करना है। परमेश्वर सबके हृदय में व्याप्त है। अतः हम जितना प्राणियों को प्रसन्न करेंगे उतना ही ईश्वर प्रसन्न होगा। यह सच्चा धर्म मनुष्य को देश-भक्ति से प्राप्त होता है।[3] वे धर्म को प्रचलित रूढ़िवादी मान्यता से परे समन्वयात्मक, प्रगतिशील, सामाजिक, उदारवादी और धार्मिक मान्यता का अनुपम

---

1 अभ्युदय 26 मार्च सन् 1909 ।

2 अभ्युदय 15 जनवरी सन् 1909 ।

3 अभ्युदय भाद्रपद शुक्ल 14 सम्वत् 1964

प्रतीक मानते थे। आज के धार्मिक सहिष्णुता तथा वर्ग-संघर्ष के युग में उनकी समन्वयात्मक धर्म-दृष्टि अपने आलोक से शांति और मानवता का सन्देश देने में पूर्ण सक्षम सिद्ध हो सकती है।

समाज सुधार

महामना न सिर्फ धार्मिक क्षेत्र में सर्वोदय की कामना करते थे, बल्कि सामाजिक क्षेत्र में भी उन्होंने समाज के सभी वर्गों की स्थिति को उन्नत बनाने के लिए प्रयास किया। सन् 1904 की ब्रिटिश वित्तीय नीति की उन्होंने आलोचना की। बुन्देलखण्ड भूमि हस्तान्तरण विधेयक पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि लगान का अधिक निर्धारण तथा उसकी उगाही किसानों पर कर्जे के बोझ का मुख्य कारण है। लगान में कमी करके और उसे सुविधाजनक समय पर वसूल करके ही किसानों के कष्ट दूर किये जा सकते हैं, हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें दूर नहीं किया जा सकता।[1] मालवीय जी ने विभिन्न जाँच रिपोर्टो का हवाला देते हुए माँग की कि किसानों पर लगान के बोझ को पच्चीस-तीस प्रतिशत कम किया जाय, ताकि वे सुविधापूर्वक अपने जीवन का निर्वाह कर सकें।[2] उन्होंने यह भी माँग की कि किसानों को अधिकारों का स्थायी बन्दोबस्त किया जाय तथा किसानों के हितों की पूरी तौर पर रक्षा करते हुए मालगुजारी का भी स्थायी बन्दोबस्त किया जाय।[3] उन्होंने कहा कि नमक-कर निर्धारण के आधार पर लगान और मालगुजारी का स्थायी बन्दोबस्त ही किसानों की समृद्धि का सबसे अच्छा उपाय है।[4] मालवीय जी ने अकाल की भयानक स्थिति पर क्षोभ व्यक्त करते हुए कहा कि लगान की कमी के साथ-साथ सिंचाई तथा कृषि शिक्षा का समुचित प्रबन्ध तथा उद्योग धन्धों का विस्तार अकाल का मुकाबला करने के आवश्यक उपाय हैं।

---

1 दी आनरेबुल पडित मदनमोहन मालवीयः लाइफ एण्ड् स्पीचेज, सेकेण्ड एडीसन, वही, पृ0 283-289।
2 दी आनरेबुल पडित मदनमोहन मालवीयः लाइफ एण्ड् स्पीचेज, सेकेण्ड एडीसन, वही, पृ0 400-401, 455।
3 दी आनरेबुल पडित मदनमोहन मालवीयः लाइफ एण्ड् स्पीचेज, सेकेण्ड एडीसन, वही, पृ0 455।
4 दी आनरेबुल पडित मदनमोहन मालवीयः लाइफ एण्ड् स्पीचेज, सेकेण्ड एडीसन, वही, पृ0 457।

मालवीय जी ने सरकार से प्रार्थना की कि वह अज्ञानता में फँसी, निर्धनता से दबी, अस्वास्थ्यकर परिवेश में रहने वाली तथा रोगों से त्रस्त जनता की दयनीय दशा को सुधारने का आवश्यक प्रयत्न करें।[1] उनका सुझाव था कि प्रशासन और फौज पर खर्चा कम करके जिला बोर्डो नगरपालिकाओं तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा जनोपयोगी सेवाओं, विशेषत: शिक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा सेवाओं पर अधिक धन खर्च किया जाय, ताकि जनता सुखी और सुशिक्षित जीवन व्यतीत कर सके।

मालवीय जी की इच्छा थी कि खेती की दशा को सुधारने के लिए मनु की व्यवस्था और आधुनिक व्यवस्था दोनों की अच्छी बातों का प्रयोग किया जाय।[2] वे चाहते थे कि पशुपालन के निमित्त चरागाहों का समुचित प्रबन्ध किया जाय, गोबर जलाने की बजाय खाद में काम लाया जाय, किसानों को समझा-बुझाकर उनकी रजामन्दी से छोटी- छोटी जोतों की चकबन्दी की जाय।

मालवीय जी ने सन्1923 और सन् 1924 में काशी और प्रयाग में विद्वत परिषदें आयोजित कीं और उनसे शुद्धि, समाजसुधार तथा निम्नवर्गो की उन्नति के सम्बन्ध में शास्त्रों पर आधारित व्यवस्थायें लेने का प्रयत्न किया। सन् 1928 में प्रयाग में मालवीय जी की अध्यक्षता में सनातन धर्म महासभा का सम्मेलन हुआ, जिसने गोवंश के भयंकर संहार पर सन्ताप करते हुए गोरक्षा के निमित्त एक बहुत बड़ा प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में हिन्दू जनता से यह अनुरोध किया गया कि (1) वे गौओं को कसाइयों के हाथ में पड़ने से बचावें, (2) कसाइयों के साथ किसी तरह के लेन-देन का व्यवहार न करें, (3) जहाँ तक हो सके, चमड़े का व्यवहार न करें, (4) स्वाभाविक मौत से मरे हुए पशुओं के चमड़े से बने हुए जूते आदि ही काम में लायें। प्रस्ताव में हिन्दुओं से यह भी अनुरोध किया गया कि (1) जिसको सामर्थ्य हो, वह एक गौ पाले, (2) जहाँ उचित जान पड़े वहाँ एक

---

1 दी आनरेबुल पडित मदनमोहन मालवीय: लाइफ एण्ड् स्पीचेज, सेकेण्ड एडीसन, वही, पृ0 394।

2 एग्रीकल्चर कमीशन रिपोर्ट, जि07, पृ0 716, प्रश्न 39, 853।

गौशाला खोली जाय, (3) वे गौशालाओं और पिंजरापोलों को दुग्धालय के रूप में परिणत करें और अपने साड़ों द्वारा गौओं की नस्ल सुधारें और दूध बढ़ावें, (4) योग्य पात्र को ही (जो गौ का पालन कर सकें) वे गोदान दें और गो-दान के योग्य गौओं का ही दान करें। महासभा ने जमींदारों से अनुरोध किया कि (1) वे गावों में गोच्चारण के लिए पर्याप्त भूमि छोड़ने का नियम करें और जिस गोच्चारण भूमि को खेती में मिला लिया गया हो, उसे छोड़ दें, (2) जहाँ उनकी जमींदारी के भीतर गो-बैल के बाजार लगते हैं, उनमें वे ऐसा प्रबन्ध करें कि वहाँ धोखे में पड़कर कोई हिन्दू गौ को कसाई के हाथ न बेंचे और धोखा देकर कोई कसाई गौ को न खरीद सके।

इस प्रस्ताव में ही सनातन धर्म सभा ने निश्चय किया कि (1) एक अखिल भारत- वर्षीय गो-रक्षा कोष की स्थापना की जावे, जिससे गोचर-भूमि की वृद्धि और गोरक्षा के अन्य साधन प्रस्तुत किये जावें, (2) कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से कार्तिक शुक्ल अष्टमी तक अर्थात् गोवर्धन पूजा के दिन से गोपाष्टमी तक प्रतिसप्ताह 'गो-सप्ताह' मनाया जाय, जिसमें गो-रक्षा सम्बन्धी उत्सव, गो-पूजा, गो-कथा, गो-महात्म्य, व्याख्यान तथा गो-परिपालन के साहित्य का प्रचार किया जाय और प्रतिपदा के दिन सारी हिन्दू जनता से गो-रक्षा के लिए दान माँगा जाय।

वर्ण-आश्रम व्यवस्था:

वर्णाश्रम धर्म का विश्लेषण करते हुए मालवीय जी ने कहा-वर्ण में दोष भी हैं, गुण भी हैं। आश्रम में भी ऐसा ही है, परन्तु इसमें गुण बहुत हैं, दोष कम।[1]

आश्रम धर्म के बारे में मालवीय जी चारों आश्रमों के पालन पर जोर देते थे, उन्होंने कहा था- आयुर्वेद वाले कहते हैं कि 25 वर्ष के पुरूष और 16 वर्ष की स्त्री का परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए। इस अवस्था से पहले जो बालक होगा,

---

1 सीताराम चतुर्वेदी : महामना मदन मोहन मालवीय खण्ड-2 पृ0 94।

वह मर जायेगा या दुर्बल होगा।....ब्रह्मचर्याश्रम आश्रमों का मूल है, नींव है। नींव कमजोर हो जायेगी तो कुछ नहीं कर सकते। सनातन धर्म का उपदेश यही है कि पहले पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहो।[1]

मालवीय जी ने वर्ण व्यवस्था की व्याख्या करते हुए कहा था कि वह न तो असवर्ण विवाह के पक्ष में हैं[2] और न ही जात-पांत तोड़क विचार को ठीक समझते हैं।[3] पर हमें अपनी जाति का अभिमान नहीं करना चाहिए, और न ही दूसरी जाति का निरादर करना चाहिए।[4] हमें यह समझना चाहिए कि जो बाह्मण अच्छा काम करेगा, उसकी इज्जत होगी, जो बुरा काम करेगा, उसका यश न होगा, और शूद्र से भी नीचे गिर जायेगा। वह शूद्र जिसमें ब्राह्मण के गुण आ जायेंगे, वह ब्राह्मण के समान आदर पाने के योग्य हो जायेगा, मगर ब्राह्मण नहीं हो जायेगा।[5]

मालवीय जी ने इस व्याख्यान में "ऊँ नमः शिवाय" तथा ऊँ नमों भगवते वासुदेवाय" एवं "ऊँ नमों नारायणाय" मन्त्रों की महिमा की व्याख्या करते हुए कहा; " पुराणों के अनुसार इन मन्त्रों के उच्चारणा और जाप से पतित भी पवित्र हो जाता है, वह सब पाप से छूट जाता है। इन मन्त्रों की दीक्षा लेने का सबको अधिकार है। हमारा कर्तव्य है कि हम अन्त्यज पर्यन्त सब हिन्दुओं को इन मन्त्रों से दीक्षित कर उनके जीवन को पवित्र बनाने में सहायक हों।

मालवीय जी मन्दिर में सभी लोगों के प्रवेश के पक्षधर थे,परन्तु शुद्धता के साथ। उन्होंने कहा था कि "मै यह नहीं कहता हूँ कि भंगी और डोम आकर

---

1 वासुदेवशरण अग्रवाल: हामना पं0 मदन मोहन मालवीय के लेख और भाषण, भाग-1 धार्मिक, वाराणसी, का0 हि0 वि0 वि0, 1962, पृ0 188।

2 वही पृ0 186 ।

3 वही पृ0 187 ।

4 वही पृ0 187 ।

5 चही पृ0 186 ।

शिवजी की पूजा करें, यद्यपि इसका भी प्रमाण शास्त्र में है। मै तो यह कहता हूँ कि उन्हें दूर से दर्शन कर लेने दो। वे भी प्रवेश न करें, जब तक उन्हें दीक्षा न मिले।[1] उन्होंने यह भी बताया कि जिन शास्त्रों ने अस्पृश्यता की व्यवस्था की है, उन्होंने यह भी कहा है कि" तीर्थयात्रा, देवालय, सड़क आदि में तथा नगर में आग लगने के अवसर पर छुआछूत का विचार नहीं होता।"[2] वे यह भी कहते थे कि "प्रत्येक अछूत को यह अधिकार है कि वह अपने घर में ईश्वर की प्रतिमा रखे। मेरी इच्छा है कि प्रतिमा के रूप में भगवान को सबके घर पहुँचा दूँ, ताकि सभी लोग भगवान का पूजन करें।"[3] उन्होंने हिन्दुओं से यह अपील की कि वे गाँव-गाँव में हिन्दू सभाएं स्थापित कर, अपनी गिरी दशा को सुधारने तथा उन्नत करने का उपाय सोचें और अछूतों से प्रेम करें। उन्हें भी अपना भाई समझकर छुआछूत दूर करें, उनकी अवस्था को सुधारें और उनकी उन्नति का मार्ग सोचें।"[4]

हिन्दू धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" का सिद्धान्त इसकी प्रमुख विशेषता है। कीट-पतंग में हाथी से चींटी तक सबमें एक ब्रह्म का अंश है। एक ही अंतर्यामी घट-घट में व्याप्त है।[5]

मालवीय जी ने हिन्दू जाति की विपत्तियों के कारणों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बताया कि हिन्दुओं की विपत्तियों का मूल कारण उनकी शारीरिक दुर्बलता है। उन्होंने आग्रह किया कि हिन्दू इस शारीरिक दुर्बलता को दूर करने के लिए ब्रह्मचर्य और व्यायाम की ओर समुचित ध्यान दें, तथा बाल विवाह की प्रचलित प्रथा में सुधार करें। उन्होंने शिक्षा के व्यापक प्रसार तथा स्त्रियों के सर्वांगीण विकास की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। विद्वत मण्डली से उन्होंने प्रार्थना की कि वे अंत्यजोद्धार और शुद्धि के सम्बन्ध में उचित व्यवस्था दें।

---

1 वही पृ0 192 ।
2 वही पृ0 189 ।
3 वही पृ0 193 ।
4 सीताराम चतुर्वेदी : महामना मदन मोहन मालवीय खण्ड-2 पृ0 84-85।
5 वही पृ0 94 ।

हिन्दू महासभा के प्रतिनिधियों में छुआछूत के सम्बन्ध में मत विभिन्नता थी, लेकिन मालवीय जी के प्रयत्नों से सन् 1923 में महासभा ने निर्णय किया कि सवर्ण हिन्दुओं के समान दलित जातियों को सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ने, कुओं तथा पानी के अन्य स्रोतों से पानी लेने, सार्वजनिक सभाओं में अन्य लोगों के साथ बैठने, सड़कों पर चलने तथा देव दर्शन का अधिकार है। यह भी निर्णय किया गया कि प्रत्येक हिन्दू को, चाहे वह किसी जाति का हो, समान सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार है।

अछूतों और शूद्रों को वेद-पाठ के प्रश्न पर हिन्दू महासभा में मतभेद होने पर मालवीय जी ने निराकरण करते हुए बताया कि "ईश्वर के दिये हुए प्रसाद सबके लिए सुलभ है, पर वेदों के अध्ययन करने के लिए कठोर तपस्या की आवश्यकता है, जो सबके लिए साध्य नहीं है।....गीता भूमण्डल में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसका अध्ययन और मनन सबके लिए सुलभ है। शूद्र और अन्त्यज भी उसका पाठ करके मनोरथ की प्राप्ति कर सकते हैं।....वह वेद ही के समान पूज्य और फलप्रद है।....मानवजाति के कल्याण के लिए उसमें सब कुछ है। आप लोग प्रयत्न करें कि घर-घर में गीता का प्रचार हो। प्रत्येक हिन्दू के पास गीता की पोथी रहे। शूद्र और अन्त्यज भी उसका नियमित पाठ करें और अल्प प्रयास से ही वेदों का मुख्य तत्व प्राप्त करें।[1]

1918 के प्रयाग महाकुम्भ के अवसर पर यात्रियों की सेवा के लिए लगभग दो हजार भंगी बुलाये गये थे। इनका कार्य बड़ा सराहनीय था। लेकिन कुम्भ की समाप्ति पर भोगियों के सत्कार का ध्यान किसी को न था। ध्यान आया तो सिर्फ मालवीय जी को। मालवीय जी ने सभापति की हैसियत से प्रयाग सेवा समिति के मंत्रियों को यह आदेश दिया कि प्रत्येक भंगी को एक धोती, एक सफेद कुर्ता और एक साफा दिया जाय।

---

1 सीताराम चतुर्वेदी : महामना मदन मोहन मालवीय खण्ड-1 पृ0 93-94।

सब भंगियों को महामना की कुटिया पर भोजन के लिए आमंत्रित किया गया। भंगियों को मालवीय जी के परिवार ने अपने हाथ से बना भोजन कराया। भोजनोपरान्त मालवीय जी ने उन्हें धर्मकथा सुनायी। लगभग दो घंटे तक धर्मचर्चा होती रही। धर्मकथा में एक भी शब्द ऐसा न था, जो भंगी समझ न सकें।....भंगी जमात टस से मस न हुई, मंत्रमुग्ध होकर उनके उपदेशों को सुनती रही। कथा के बाद मालवीय जी बिना स्नान किये, तुरन्त भोजन पर बैठ गये। सब अतिथियों को खिलाने के बाद ही मालवीय जी ने प्रसाद लिया, तब तक उन्होंने व्रत रखा था।[1]

मालवीय जी परम्परा-सापेक्ष प्रगतिवादी दृष्टिकोण के थे। वे वर्ण-व्यवस्था के उन्मूलन पर नहीं, बल्कि जन्मजा के स्थान पर गुण-कर्मजा पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे। वे गीता द्वारा मान्य गुण और कर्म के भेद से व्यवस्थित चतुर्वण्य-व्यवस्था को स्वीकार करते थे। परन्तु वे न तो जातिवादी थे और न जाति के आधार पर हिन्दू समाज को टुकड़ों में बंटा देखना चाहते थे। वे जाति को केवल वर्ण-संकरता की उपेक्षा के लिए स्वीकार करते थे, क्योंकि संस्कार बहुत जल्दी नहीं बदलते। वे चाहते थे कि जिसकों जिस कर्म में रूचि हो, उसे वह स्वतंत्रतापूर्वक बिना किसी हस्तक्षेप एवं नियंत्रण के करे।[2]

मालवीय जी ने अपने 'अन्त्यजोद्धार विधि' नामक लगभग 100 पृष्ठ के गवेषणात्मक लेख में सैकड़ों ग्रन्थों के प्रमाणों को उद्धृत करते हुए यह सिद्ध किया कि शूद्रों एवं अन्त्यजों को भी (कुछ बातों को छोड़कर) उन सब सुविधाओं को पाने का अधिकार हे, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को प्राप्त हैं। उन्होंने लिखा है -"जिस प्रकार रस के विधान से कांसा कंचन हो जाता है, उसी प्रकार दीक्षा द्वारा मनुष्य द्विजत्व (श्रेष्ठता) को प्राप्त कर लेते हैं।.... अछूतों की आर्थिक दशा सुधारकर, सदाचार सिखाकर, उनको मंत्र दीक्षा देकर उनका उद्धार करना हमारा धर्म है।[3]

---

1 विश्वज्योति (मालवीयांक) होश्यारपुर, पंजाब, जनवरी 1962 पृ0 19-20।

2 वासुदेव शरण अग्रवाल: महामना मालवीय, लेख और भाषण (धार्मिक) का0हि0वि0वि0, वाराणसी 1962, पृ0 185-188 ।

3 वही पृ0 13 ।

महामना ने देवीभागवत पुराण के आधार पर कहा कि " विद्या कुल की, जाति की, रूप की और पुरूष सम्बन्धी पात्रता की परवाह नहीं करती, किन्तु जो कोई भी उसको पढ़ता है, वह उसका उपकार करती है।" परन्तु मालवीय जी शूद्रों को वेद एवं यज्ञ की सलाह नहीं देते। उन्होंने कहा कि "शूद्रादि के लिए साधारणतः धर्मशास्त्र का निषेध नहीं है, जिसका सम्बन्ध वैदिक तथा स्मार्त विधानों से है, जो कि वेदमंत्र पूर्वक संस्कार-युक्त द्विजों को प्राप्त है।------वैदिक मंत्रपूर्वक होने वाले उपनयनादि संस्कार शूद्र के लिए नहीं होते।"[1] जैसे द्विज जाति का बालक उपनयन के पूर्व वेदादि के अध्ययन का अधिकारी नहीं रहता है, किन्तु उपनयनादि संस्कार से संस्कृत और गायत्र्यादि मंत्र से दीक्षित हो जाने पर उन बातों का अधिकारी हो जाता है, उसी प्रकार चाण्डालादि अन्त्यज साधारणतः बहुत अंश में सम्मानित नहीं रहता है, किन्तु जब उसको अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौचादि उपदेश मिल जाता है और जब वह शैव, वैश्वादि मंत्रों से परिचित हो जाता है तथा मद्य, मांस, घूतादि का परित्याग कर नित्य स्नानादि क्रिया से पवित्र होकर भक्तिभाव से युक्त होता है, तो ब्रह्मसमाज में सम्मान का पात्र होकर देव-दर्शन, कूप, पाठशाला, तीर्थ, व्रत, उत्सव और कथा-पुराण श्रवणादि सामाजिक सर्वसाधारण कार्यों में भाग लेने का पूर्ण अधिकारी हो सकता है।[2]

अन्त्यजोद्धार

महामना अन्त्यजों के उद्धार के लिए अन्त्यज या अछूत की व्याख्या करते हुए कहते है कि अछूत वे है, जो धर्मरहित हैं; 'अछूतों को धर्म की लालटेन दें, से यही अर्थ निकलता है। उनके अनुसार अन्त्यज शूद्र वर्ण की ही अवान्तर जाति है। अन्त्यज वह है, जिसकी गर्भ और शरीर सम्बन्धी अशुचि रहती है, इस कारण उन्हें असच्छूद्र कहा गया। जो शूद्र पंचयज्ञ करता हो, द्विजाति सेवा करता हो, वह सच्छूद्र

---

1 वहीं पृ0 276 ।

2 वहीं पृ0 224 ।

है। इसके अतिरिक्त मनमानी करने वाला असच्छूद्र। अन्त्यज शब्द अस्पृश्य का बोधक नहीं है, किन्तु शूद्रों का एक वर्ग-विशेष अन्त्यज है।[1]

अछूत या अन्त्यजों के उद्धार के लिए महामना सर्वाधिक चिन्तित रहते थे। मंत्र दीक्षा कार्यक्रम उन्हीं की देन है उनका मानना था कि जब हम सभी ईश्वर की सन्तान हैं, तब ईश्वर की दी हुई बातों के बंटवारे में भी बेईमानी नहीं होनी चाहिए। अन्त्यजों की तो बात ही क्या, आज तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सब गिर रहे हैं।[2] उन्होंने बड़े दुःख के साथ कहा -''अब समय की दशा देखो,आज ईसाई एक व्यक्ति को वाप्तिस्मा देता है, ईसाई का नाम देता है, तो उसे ईसाई बना लेता है; कलमा पढ़ने से एक हिन्दू को मुसलमान बना लिया जाता है। भाइयों! बहनों! मैं हाथ जोड़कर पूछता हूँ कि क्या हमारे मंत्र में शक्ति नहीं कि इससे एक पापी भी पवित्र हो जाय? अछूत यह कभी नहीं चाहेंगे कि वह मैले वस्त्रों और गन्दी दशा में स्पर्श करें, वे दर्शन करें। वे तो दर्शन के भूखे हैं। जब तक वे शुद्ध नही होंगे, तब तक वे स्वयं नहीं छुएंगे। मिलकर कोई नियम बनाओ कि इनको भी दर्शन कर लेने दो। जहाँ ऐसी आशंका हो कि लोग न मानेंगे, तो नया मन्दिर बना दो, क्योंकि मन्दिर भावना से बनते हैं। एकछोटे से मकान के आले में मूर्ति रख दो, वेद-वचनों से उसकी प्रतिष्ठा करो, बस वही मन्दिर है। प्रत्येक अछूत को अधिकार है कि वह अपने घर में प्रतिमा रखे।' सनातन धर्म की शक्ति दुर्बल है, इस गृह कलह से और दुर्बल मत करो।[3]

सनातन धर्म की मजबूती के लिए मालवीय जी ने सन् 1923 में हिन्दू महासभा से शुद्धि का प्रस्ताव पारित कराया। उन्होंने 1923 और 1924 में काशी और प्रयाग में विद्वत परिषदें आयोजित कर शुद्धि का प्रस्ताव लिया और स्वयं

---

1 वहीं पृ0 268, 273 ।
2 वहीं पृ0 190 ।
3 वहीं पृ0 189-193 ।

नासिक, प्रयाग, काशी, कलकत्ता आदि स्थानों पर मन्त्र दीक्षा देकर लाखों अछूतों को हिन्दू समाज में मिलाया। मालवीय जी का कहना था कि हमारे शास्त्रों में प्रायश्चित कराना एक पंडित का धर्म है, प्रायश्चित के बाद एक दोषी व्यक्ति निर्दोष हो जाता है, उसके बाद उसके पुराने दोष या पाप की चर्चा धर्मविरूद्ध है। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने भूले-भटके भाइयों को सनातन धर्म का मर्म समझाकर, उन्हें प्रायश्चित कराकर, उनकी शुद्धि करें, उनके साथ सद्व्यवहार करें, उन्हें अपनी पंगत में शामिल करें। मालवीय जी का मानना था कि ईश्वरीय ज्ञान सबके लिए है, उसका प्रचार हर विद्वान का धर्म है। धर्म की व्यापकता और सार्वभौमिकता के लिएउसका विस्तार नितान्त आवश्यक है। उनके विचार में शास्त्रों में भी इसका विधान है, ऋषियों का आचरण भी उसके अनुकूल है। व्यावहारिकता की दृष्टि से भी शुद्धि का अनुष्ठान आवश्यक है। उनका कहना था- ''यदि कोई चाहता है कि वह पूजा-पाठ किया करे, गंगा-स्नान करके भोजन करे और आपके धर्म को पवित्र मानकर उसकी ज्योति से मुक्ति पाये, तो हम उससे कैसे कह दें कि तुम्हें हिन्दू होने का अधिकार नहीं ।[1] उन्होंने कहा- प्राचीन काल के ऋषि समझदार थे। इसीलिए उन्होंने असभ्यों को सभ्य किया था। यदि आज भी यह साधु मण्डली, विद्वतमण्डली यह आज्ञा दे कि जो छल या बल से मुसलमान बनाये गये है, उन्हें वापस ले लो तथा जो और लोग भी आना चाहते हैं, उन्हें भी ले लो, तो आज ही विजय की घोषणा हो जाय। विश्वनाथ का नाम लो और आज ही यह ब्यवस्था कर दो कि जो चाहे हिन्दू हो सकता है।[2] मालवीय जी का मुसलमानों से कहना था कि ''आप अपने धर्म का प्रचार करते हैं, तो आपको यह अधिकार नहीं है कि आप दूसरे भाइयों को अपने धर्म के प्रचार से रोकें।[3]

---

1 सीताराम चतुर्वेदी : महामना मदन मोहन मालवीय खण्ड-2 पृ0 109।

2 वही ।

3 लाहौर में भाषण 28 जून सन् 1923 ।

सन् 1924 में हिन्दू महासभा के विशेष अधिवेशन में मालवीय जी ने ब्राह्मण-अब्राह्मण भेदभाव का विरोध करते हुए कहा-"ब्राह्मण-अब्राह्मण दोनों ही एक सभ्यता के अन्तर्गत है। दोनों को भाई-भाई की तरह रहना चाहिए। ब्राह्मणों को चाहिए कि गुण और योग्यता जहाँ कहीं मिले-उसका आदर करें। भक्ति करना इस बात का प्रमाण है कि गुण कहीं भी मिले, उन्हें उसका आदर करने में संकोच नहीं होता था। दुःख की बात है कि सरकारी नौकरियों तथा दो-एक मन्त्री पदों की लालच से, जो हिन्दू मात्र की एकता के सामने तुच्छ वस्तुएं हैं, हम आपस में झगड़ते हैं। हमें दूसरों का सुख और शान्ति देखकर प्रसन्न होना चाहिए। जब तक हमारी बुद्धि में विकार न आ जाये, हमारे लड़ने का कोई कारण नहीं। क्या महात्मा गाँधी अब्राह्मण नहीं है और क्या यह सत्य नहीं है कि आज देश में जितनी उनकी प्रतिष्ठा है, उतनी और किसी की नहीं है। मै अपने ब्राह्मण तथा अब्राह्मण भाइयों से आपस का भ्रम दूर करने का अनुरोध करता हूँ।[1]

सन् 1934 में गाँधी जी हरिजनोंद्धार के काम से वाराणसी आये, इसका (हरिजनोद्धार का) विरोध होने पर मालवीय जी ने शास्त्रों का प्रमाण देते हुए कहा कि हमारे सनातन धर्म की महिमा हे कि मनुष्य चाहे किसी जाति में रहे, किन्तु धर्म से चले तो उसका उद्धार हो सकता है। मै धर्मग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर कहता हूँ कि हरिजनों को भी देवदर्शन का लाभ मिलना चाहिए। यही अभिलाषा गाँधी जी की भी होगी। उन्होंने स्कन्द पुराण का उल्लेख करते हुए बताया कि यदि चाण्डाल सदाचारी हो तो वह ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्य के समान आदर पाने के योग्य हो जाता है। यदि ऐसा हो सकता है तो फिर हम अपने अछूत भाइयों को सदाचारी क्यों न बनायें। हम उनको सदाचारी बनाकर दिखा दें कि जो भाई छोटे से छोटा हो उसे भी हिन्दू धर्म ऊँचा उठा सकता है।[2] उन्होंने

---

1 सीताराम चतुर्वेदी : महामना मदन मोहन मालवीय खण्ड-2 पृ0 123।

2 वही पृ0 65 ।

कहा कि सदाचार के पालन से नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी सम्मान का अधिकारी हो जाता है। यदि कुएँ पर हमारा एक अछूत भाई रामदास जाता है, जिसके सिर पर चुटिया है, जो एकादशी व्रत रखता है, सत्यनारायण की कथा सुनता है, गंगा-स्नान करता है, यदि वह प्यासा रह गया तो समझ लो कि हमारे पूर्व पितर सब प्यासे रह गये। चाण्डाल भी हमारा अंग है। हमारा धर्म है कि स्मृति में उनके लिए जो मार्ग दिखाया गया है, उसका उन्हें उपदेश दें।[1]

मालवीय जी ने कहा कि "आज कई करोड़ हिन्दू अछूत कहे जाते हैं। इनमें अछूत वे ही लोग हैं, जो मैले काम करने वाले हैं। वे मानवजाति की वह सेवा करते है , जो कोई नहीं कर सकता। यदि वे एक दिन भी अपना काम बन्द कर दें, तो हमारी क्या दुर्गति होगी? भगवान ने कहा- 'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:'- अपने -अपने काम में लगे हुए लोग मेरा मद पा सकते हैं। ये भंगी, चमार अपना काम करें, फिर जब स्नान करके सूर्यनारायण को अर्ध्य दें, मन्त्र जपें तो बोलो उनका मंगल होगा कि नहीं? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज सबके लिए भगवान के दर्शन का अधिकार है। जहाँ मन्दिर के अधिकारी प्रसन्नता से जाने का अवसर दें, वहाँ गर्भ द्वार के बाहर से ही दर्शन करा दें। जहाँ आज्ञा न हो वहाँ न जायँ। आखिर में उन्होंने यह भी कहा कि हमें इन अछूतों को जल देना है रहने को स्थान देना है, और इन्हें शिक्षा देनी है। मैं तो चाहता हूँ कि उनके चार करोड़ घरों में मूर्तियां रखी हो और भगवान का भजन हो, तभी तो मंगल होगा।"[2]

मालवीय जी ने हरिजनोद्धार के निमित्त 'अन्त्यजोद्धार विधि' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें उन्होंने बहुत सी पौराणिक कथाओं का उल्लेख करके बताया कि देवदर्शन का उन सबको अधिकार है, जिनका उस पर विश्वास हो और

---

1 वही पृ0 66 ।
2 वही पृ0 67 ।

उसके द्वारा निकृष्ट भी उत्कृष्ट हो सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने धर्मव्याध और ब्राह्मण वार्तालाप की चर्चा करते हुए बताया कि- धर्मव्याध ने ब्राह्मण से कहा कि "शूद्र योनि में भी उत्पन्न हुआ पुरूष यदि अपने में अच्छे गुण सम्पन्न करे, तो हे ब्राह्मण, वह वैश्य हो जाता है और क्षत्रिय भी। यदि वह सदाचारपूर्ण जीवन बितावे तो उसमें ब्राह्मण की योग्यता भी प्राप्त हो जाती है[1] उन्होंने कहा कि महाभारत में यह भी कहा गया कि " जो शूद्र मन और इन्द्रियों के रोकने में, सत्य में, धर्म में, सदा लगा रहता है, उसको मैं ब्राह्मण मानता हूँ। ब्राह्मण चरित्र से ही होता है।[2] मनुष्य पुण्य कर्मो के करने से वर्ण में ऊपर उठ जाता है और नीच कर्म करने से नीचे गिर जाता है। यह शास्त्र का कहना है।"[3] सनातन धर्म के लेख-1934 में मालवीय जी ने यह भी उदाहरण दिया कि "शील सम्पन्न, गुणवान् शूद्र भी ब्राह्मण हो जाता है और कियाहीन ब्राह्मण भी शूद्र से नीचे गिर जाता है।"[4]

मालवीय जी का कहना था कि "अन्त्यजो में जो कुछ भी त्रुटि समझी जाती है, उसका सबसे प्रबल कारण उनमें विद्या-प्रचार की कमी है।"[5] वे कहते थे कि अन्त्यजों को भी विद्या का अधिकार है। देवी पुराण का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि विद्या कुल की, जाति की, रूप की, और पुरूष सम्बन्धी पात्रता की परवाह नहीं करती है। किन्तु जो कोई भी उसको पढ़ता है, उसका उपकार

---

1 महाभारत, वनपर्व 212,11 तथा 212-12।
' 'शूद्रयोनौ हि जातस्य सदगुणानुपतिष्ठत: ।
वैश्यत्वं लभते ब्राह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च।।
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते"।।

2 महाभारत वनपर्व, 215।
"यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थित: ।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विज::"।।

3 महाभारत शांति पर्व, 191।
' 'वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नर: पुण्येन कर्मणा।
यथाऽपकर्ष पापेन इति शास्त्रनिदर्शनम्"।।

4 महाभारत वन पर्व 180- 25।
"शूद्रोअपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणो*ऽपि कियाहीन: शूद्रात प्रत्यवरो भवेत्"।।*

5 महामना पं0 मालवीय जी के लेख और भाषण, भाग-1 (धार्मिक) पृ0 283 ।

करती है।[1] उन्होंने बताया कि "जिस विद्या के प्रभाव से या विद्या को पढ़कर अन्त्यज भी चन्द्र, सूर्यादि ग्रह और पराक्रमशील राक्षसों के साथ खेला करते हैं और जिसके बराबर इस संसार में और कोई भी नहीं है, उस विद्या की उपमा किससे हो यकती है।"[2]

"अन्त्यजा अपि यां प्राप्य कीड़न्ते ग्रहराक्षसैः ।

सा विद्या केन मीयेत यस्याः कोऽन्यः समोऽपिन"।।

मालवीय जी ने बताया कि "शूद्रों को द्विज-सेवा के अतिरिक्त श्राद्ध, देवपूजन, दर्शन, गर्भाधानादि द्वादश संस्कार, व्रत, उपवास, पौराणिक मन्त्रजप, मालाधारण, स्तुति, दया, दान और अहिंसा आदि अनेक धर्मो का पूर्ण अधिकार है।[3] उन्होंने बताया कि"याज्ञवल्क्य ने अन्त्यज पर्यन्त सब शूद्रों को सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया और शान्तिधर्म का उपदेश किया है।[4]

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दमो दया शांतिः सर्वेषं धर्मसाधनम्"।।

मालवीय जी ने बताया कि मनुस्मृति में भी दिया गया है-----

" अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः .

एतं सामासिंक धर्म चातुवर्ण्ये*ऽब्रवीन् मनुः"।।*

हिन्दू जाति और वैदिक सनातन धर्म के प्रति मानलवीय जी के हृदय में अथाह प्रेम था। वे सनातन धर्म के मूर्त रूप और भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे। उनका ऐसा विश्वास था कि हिन्दू धर्म ही मानव धर्म है और वही विश्वधर्म बनने की क्षमता रखता है। क्योकि केवल इस धर्म में ही अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड को एक

---

1 वही पृ0 284 ।

' 'नहि विद्या कुलं जातिरूपं पौरूषपात्रताम्।
वशते सर्वलोकानां पठिता उपकारिका"।।

2 वही पृ0 284 ।

3 वही पृ0 278 ।

4 वही पृ0 269 ।

कुटुम्ब माना गया है। संसार का कोई धर्म इतना उदार नहीं, सारे धर्मो और मत-मतान्तरों के प्रति उसमें श्रद्धा की भावना पायी जाती है। मनुष्य तो एक ओर, जड़-जंगम तक से इसमें प्रेम-भावना का संदेश मिलता है। इस धर्म में संकीर्णता को कोई स्थान नहीं है। वे निष्ठापूर्वक इस मान्यता में विश्वास रखते थे कि हिन्दू धर्म को राष्ट्र का धर्म घोषित किया जाना चाहिए। ऐसे विश्वस्त धर्म की बुनियाद पर आधारित समाज के विभाजन का प्रश्न उठाना उनकी दृष्टि में भयंकर अपराध था।

महामना दलित जाति को हिन्दू जाति का अभिन्न अंग मानते थे, उन्होंने दलितोद्धार को अपने जीवन का व्रत बनाया था, जिसे उन्होंने अपने जीवनकाल में धार्मिक निष्ठा के साथ क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। वेंकटेश नारायण तिवारी ने अपने स्मरण में बताया कि "मालवीय जी ने कलकत्ता में हुगली नदी के किनारे जब हरिजनों को ओंकार सहित मन्त्र-दीक्षा देनी प्रारम्भ की तो पंडितों ने बड़ी हुल्लड़बाजी की थी। हाबड़ापुल के लोहाघाट पर एक बडा शामियाना लगाया गया था और उसके नीचे होम और दीक्षा देने की तैयारी की गयी लेकिन जब कुछ रूढ़िवादी लोगों ने इसका विरोध किया तब मालवीय जी अछूतों को लेकर गंगा-किनारे चले गये। कुछ उपद्रवी वहाँ भी पहुँचकर दीक्षा-कार्य बाधित करने लगे, फिर भी मालवीय जी मुस्कराते हुए अपना कार्य करते रहे, थोड़ी देर बाद उन्होंने उपद्रवियों से पूछा कि 'आप लोगों को कौन सा धर्मग्रन्थ मान्य है। बताए गये ग्रन्थों से प्रमाण उद्धृत कर -करके मालवीय जी ने लगभग तीन घंटे तक भाषण दिया। विरोधियों में कुछ मुँह लटकाये लौट गये और कुछ वहीं बैठकर दीक्षा-कार्य देखने लगे। 'मालवीय जी की जय' से दिगंत गूँज उठा। इसी प्रकार मालवीय जी ने विरोध के बाद भी 6 जनवरी, 1929 को कलकत्ता में मंत्र-दीक्षा देकर अस्पृश्यों को हिन्दू धर्म का अंग बनाया।"[1]

---

1 वेकटेश नारायण तिवारी : मालवीय जी की जीवनी पृ0 66-67 ।

जो हरिजन मालवीय जी के पास दीक्षा लेने के लिए जाते थे, उन्हें पहले गंगा में स्नान कराकर पहनने के लिए धोती और रामनामा (चादर) निःशुल्क दिया जाता था। दीक्षा लेने के लिए समागत इन स्नात तथा पूत हरिजनों से मालवीय जी दस प्रतिज्ञायें करवाते थे- जैसे, सच कह, झूठ मत बोल, पाप कर्म न कर, बड़ों का आदर कर, माता-पिता की आज्ञा मान, मद मत पी, जुआ न खेल, राम-नाम जप,। प्रतिज्ञा करने के पश्चात् मालवीय जी उन्हें तुलसी की माला बाँटते थे तथा प्रतिदिन उनसे राम-नाम जपने का आग्रह करते थे। इसके बाद वे ओंकार सहित 'नमः शिवाय' तथा *'ओऽम् नमो भगवते वासुदेवाय,' इन मन्त्रों का उच्चारण करते* थे और बाद में उन हरिजनों को भी दुहराने के लिए कहते थे। दीक्षा के अंत में वे दसों प्रतिज्ञायों की व्याख्या करते हुए उनका पालन करने के लिए उन्हें प्रेरित करते थे।[1] जब एक दल या समूह की दीक्षा समाप्त होती थी तब हरिजनों का दूसरा, फिर तीसरा, चौथा आदि दल उनके सामने उपस्थित होते रहते थे।

मालवीय जी ने 'मंत्र महिमा' नामक एक पुस्तिका तैयार की थी। उन्होंने 'मंत्र' की व्याख्या करते हुए कहा कि ''जिसके मनन करने से विश्व का ज्ञान हो जाता है, संसार बंधन से रक्षा होती है और जिससे सिद्धि प्राप्त होती है, उसे 'मंत्र' कहते हैं। मंत्र देने वाले गुरू को निर्मल, शान्त, साधु, स्वल्प बोलने वाला, काम क्रोधादि से रहित, जितेन्द्रिय और सदाचारी होना चाहिए। इसी तरह दीक्षा लेने वाले को स्नानादि से शुद्ध, सत्य, दया, क्षमा, दान, जितेन्द्रिय, अग्नि में हवन, देव-पूजन, संतोष, चोरी न करना, इन दस धर्मों का पालन करना चाहिए। मंत्र-दीक्षा के लिए गंगातट सर्वोत्तम बताया गया है।[2]

---

1 अछूतोद्धार के लिए मालवीय जी ने निम्नलिखित कविता बनायी थी, उसी का भाव यहाँ आया है-

'घट-घट व्यापक राम जप रे।
मत कर बैर, झूठ मत भाखै, मत पर धन हर,
मद मत चाखै।
जीव मत मार, जुआ मत खेलै। मत पर तिय लख, यही तेरो तप रे।
घट-घट व्यापक राम जप रे।''

2 वासुदेव शरण अग्रवाल : लेख और भाषण, पृ0 218-220

मालवीय जी हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म की रक्षा, कीर्ति और अभिवृद्धि के लिए एवं तथाकथित अस्पृश्यों के अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए छुआछूत की प्रथा का धर्मानुकूल परिशोधन नितान्त आवश्यक समझते थे। उन्होंने सन् 1916 में श्री मानक जी दादाभाई द्वारा दलितों की दशा में सुधार के लिए प्रस्तुत विधेयक का समर्थन करते हुए कहा था कि "दलितों के उत्थान का प्रश्न.... शिक्षा पर निर्भर है।.... उन वर्गो में शिक्षा के प्रसार के लिए जो कुछ सरकार कर सकती है, उसे वह करे। सरकार और समाज के विद्यालय दलित वर्गों के लिए उतनें ही खुले हों, जितने दूसरे बच्चों के लिए।[1]

सितम्बर, 1917 में मालवीय जी ने श्री बी0 एन0 शर्मा के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए सरकार से आग्रह किया कि वह मद्यनिषेध की नीति को स्वीकार कर 25-30 वर्ष के अन्दर शराबखोरी को बिल्कुल बन्द करा दे। उन्होंने मद्यपान की बढ़ती हुई बुरी आदत पर चिन्ता व्यक्त करते हुए पुर्णरूप से उसका निषेध जनहित के लिए आवश्यक बताया।[2]

महिला सशक्तिकरण :

दहेज प्रथा का मालवीय जी विरोध करते थे क्योंकि उससे अनेक समस्याओं का जन्म होता है। मालवीय जी का कहना था - "जो वर-पिता तिलक पर विवाह के समय कोई रकम लेने का करार करता है, उसका शास्त्र में कहीं विधान नही है। प्रत्युत इसके विपरीत उसकी घोर निन्दा है- किन्तु करार की कुरीति कई जातियों में और कई प्रांतों में फैली हैं। यह शास्त्र धर्म के विरूद्ध है और अनेक अनर्थो का मूल है। शास्त्र में अपत्य विक्रय की घोर निन्दा है और 'अपत्य शब्द के अर्थ में कन्या और पुत्र दोनों आ जाते है। सनातन धर्म की रक्षा और सम्पूर्ण हिन्दी

1 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल, सन् 1916 दिल्ली, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया प्रेस, 1916, जि0 54, पृ0 377-379।

2 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल, सितम्बर, सन् 1917, दिल्ली, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया प्रेस, 1916, जि0 56, पृ0 546-549।

जाति के हित के लिए यह आवश्यक है कि करार की प्रथा सर्वथा बंद कर दी जाय। संस्कारों में अधिक धन व्यय न किया जाय तथा फैशन समाप्त होना चाहिये।[1]

मालवीय जी का मानना था कि यदि विधवा चाहे तो उसका विवाह कर देना चाहिए। वे बाल-विवाह को हिन्दू जाति के ह्रास का प्रमुख कारण मानते थे और इस कुरीति को दूर करना हिन्दू जाति के उत्थान के लिए विशेषत: स्त्री जाति के उत्कर्ष के लिए अत्यंत आवश्यक मानते थे। सन् 1923 में उन्होनें हिन्दू महासभा के अधिवेशन में कहा था - " आठ - दस वर्ष की कन्याओं का विवाह करने से तो रजो - दर्शन के बाद ही विवाह करना श्रेष्ठ है और इसके लिए यदि नरक में जाना पड़े , तो नरक में जाना अच्छा है, पर बाल - विवाह करना अच्छा नहीं।[2] उनका आदेश था था कि " लड़की का 12 वर्ष तथा लड़के का 18 वर्ष की आयु से पहले विवाह किसी भी हाल में न किया जाय और यदि कन्या का 16 वर्ष और बालकों का 20 या 25 वर्ष की अवस्था में विवाह सम्पन्न हो तो और भी उत्तम है। ब्रह्मचर्य का प्राचीन नियम चलाओ तभी हमारे पूर्वजों के समान उच्च श्रेणी के पुरूष पैदा हो सकेंगे।[3] उन्होनें कहा - "मैं 25 वर्ष के विवाह को सबसे उत्तम समझता हूँ। उससे उतरकर 20 वर्ष की उम्र के विवाह का समझता हूँ। 18 वर्ष से पहले तो किसी बालक का विवाह होना ही नहीं चाहिए।[4] सन् 1934 में उन्होनें रावलपिंडी में पंजाब सनातन धर्म सम्मेलन में घोषित किया कि "सनातन धर्म यही है कि पहले पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहो।[5]

---

1 वेकटेश नारायण तिवारी महामना पं0मालवीय जी की जीवनी, (संकलन, संपादन) वाराणसी का0हि0वि0वि0 1962।

2 पं0 सीताराम चतुर्वेदी: महामना पं0 मदन मोहन मालवीय (खण्ड-2) वाराणसी, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय 1937, पृ0 -120।

3 पं0 सीताराम चतुर्वेदी महामना पं0 मदन मोहन मालवीय (खण्ड-2) वाराणसी, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय 1937 पृ0 121।

4 पं0 सीताराम चतुर्वेदी महामना पं0 मदन मोहन मालवीय (खण्ड-2) वाराणसी, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय 1937 पृ0 121-131।

5 वासुदेव शरण अग्रवाल: महामना मालवीय: लेख और भाषण वाराणसी काशी हिन्दू विश्व विद्यालय 1962,भाग 1,पृ0 188।

मालवीय जी चाहते थे कि समाज में स्त्रियों का समुचित आदर हो। वे चाहते थे कि स्त्रियां बिना पर्दा के चले, घर से बाहर निकलें और पुरूषों के कार्य में हाथ बँटावें। वे यह मानते थे कि स्त्रियों को पुरूषोचित आत्मबल से युक्त होना चाहिए। उनके शब्दों में-" मैं चाहता हूँ कि हमारे देश की सभी स्त्रियां अँग्रेज महिलाओं की भाँति पिस्तौल और बन्दूक रखें .और चलाना सीखें। वे किसी भी आकमण से अपने सतीत्व की रक्षा कर सके।"[1] वे मानते थे कि भारतीय स्त्री पुरूषों के हाथ का खिलौना नहीं, अपितु वह स्वावलम्बी तथा अपनी रक्षा स्वयं करने वाली है। उनके अनुसार, "आदर्श नारी सिर्फ घर की शोभा नहीं, कर्म तथा धर्म क्षेत्र में भी स्वावलम्बी है।"[2]

मालवीय जी का भारतीय स्त्रियों के बारे में विचार था कि वे विश्वावारा, स्वर्णसिक्ता, रोमसा, विद्योत्तमा आदि की तरह विदुषी, गंधारी आदि की तरह वीरांगना, सीता की तरह सती, सावित्री की तरह रूपगुण की खान हों और उनका पूरा रहन-सहन, चाल चलन, बोली - विचार, वेश भूषा, खान-पान आदि मानवीयता के अनुकूल हो।[3] वे छात्राओं के 'आटोग्राफ' बुक में लिखा करते थे।

जो पै पुती होय तो सीता सती समान ।

अथवा सावित्री सरिस रूप शील गुन खानि।।[4]

(स्व0) मुंशी ईश्वर शरन ने अपने संस्मरण में लिखा है-

" वर्षो पहले की बात है जब इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला का उपाधि वितरण समारोह था। मैं और मालवीय जी एक साथ गये थे। इलाहाबाद हाईकोर्ट के कोई अंग्रेज न्यायाधीश उसके सभापति थे। उनके साथ उनकी कुमारी कन्या भी

---

1 31 दिसम्बर सन् 1922, हिन्दू महासभा के वार्षिक अधिवेशन में दिये गये भाषण।

2 उमेश दत्त तिवारी :महामना पडित मदन मोहन मालवीय: वाराणसी, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय 1988, पृ0 317-318

3 उमेश दत्त तिवारी: महामना पडित मदन मोहन मालवीय: वाराणसी, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय 1988 पृ0 318।

4 उमेश दत्त तिवारी: महामना पडित मदन मोहन मालवीय: वाराणसी, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय 1988 पृ0 318।

आयी थी। वह स्वास्थ्य और शक्ति की साक्षात् मूर्ति मालूम पड़ती थी। सभा विसर्जन होने पर मालवीय जी मेरी ओर घूमकर बोले-''तुमने देखा ? मैंने कहा - '' मैं भी इसी सम्बन्ध में सोच रहा था। वह बोले-'न जाने किस दिन हमारे देश में ऐसी लड़कियाँ होंगी ।''[1]

मालवीय जी छात्राओं के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और चरित्र - गठन पर पढ़ाई से अधिक बल देते थे। वे कहते थे। ''वही तो स्त्री शिक्षा का पावन स्रोत है। स्रोत कलुषित होने से शिक्षा विकृत होकर हानि पहुँचाती है।''[2] सन् 1904 में मालवीय जी ने बाबू पुरूषोत्तम दास टंडन एवं बाल कृष्ण भट्ट के सहयोग से प्रयाग में गौरी पाठशाला की स्थापना की, जो आजकल उच्चतर माध्यमिक कालेज हो गया है और जिसमें लगभग 1000 से अधिक लड़कियाँ पढ़ती हैं ।[3]

मालवीय जी कहते थे कि जो सिद्वान्त लड़कों के लिए ठीक समझा जाता है, उसे उचित संरक्षण के साथ अभिभावकों की राय से लड़कियों पर भी लागू किया जाना चाहिए। वे चाहते थे कि जातीय जीवन के पुनरूत्थान के लिए स्त्री-शिक्षा के पवित्र कार्य को उत्साह के साथ किया जाय, स्त्रियों के हृदय और मन की सारी शक्तियों का सम्यक् रूप से विकास किया जाय, उनकी पूर्ण पुष्टि की जाय।[4] मालवीय जी का विचार था कि पुरूषों की तरह स्त्रियों को भी देशहित का कार्य करना चाहिए।[5] वे स्त्रियों को भारत के भविष्य का आधार मानते थे और कहते थे कि हमारे भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, तत्वज्ञानियों व्यापार तथा कला-कौशल के नेताओं की वह प्रथम शिक्षिका है, अतः उसके व्यक्तितत्व का सम्यक

---

[1] प्रज्ञा, का शी हिन्दू विद्यालय पत्रिका 1961 पृ0 128 ।

[2] उमेश दत्त तिवारी,: महामना पडित मदन मोहन मालवीयः वाराणसी, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय 1988 पृ0 319।

[3] प्रोसीडिंग - गवर्नर जनरल की कौसिंल (विधायिका) सन् 1911 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया पब्लिकेशन ब्रांच 1911 जि0 49 पृ0 469।

[4] अभ्युदय, मार्गशीर्ष शुक्ल 9, संवत 1964।

[5] कांग्रेस का अध्यक्षीय भाषण , सन् 1918।

विकास नितान्त आवश्यक है। इसीलिये उन्होनें काशी हिन्दू विश्वद्यालय में स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध सन् 1922-23 से ही शुरू करा दी और बहुत पहले से ही सह शिक्षा का प्रबन्ध आरम्भ हो गया ।

मालवीय जी महान समाज सुधारक थे लेकिन उनके विचार समय के अनुसार परिवर्तित होते रहे।सन् 1912 में उन्होनें श्री भूपेन्द्र नाथ वसु द्वारा प्रस्तावित विशेष विवाह विधेयक का विरोध किया।[1] उनका यह विरोध, जो सनातन धर्मियों की परम्परागत भावनाओं पर आधारित था, प्रगतिशील विधायकों को बुरा लगा। परन्तु इसी वर्ष उन्होनें श्री मानक जी दादाभाई के 'स्त्रियों और लड़कियों के संरक्षण विधेयक का समर्थन करते हुए देवदासी प्रथा का विरोध किया। उन्होनें कहा कि मन्दिरों में लड़कियों को समर्पित किया जाय,इसके पक्ष में कोई व्यक्ति कोई शास्त्रीय प्रमाण पेश नही कर सकता था। पापमय अपमान का जीवन बिताने के लिए किसी लड़की को समर्पित करने का किसी संरक्षक, माता या पिता का कोई अधिकार नहीं है। विधेयक की दूसरी धाराओं का समर्थन करते हुए मालवीय जी ने कहा कि नाबालिक लड़कियों में अनैतिक व्यापार बन्द होना चाहिए और सहवास की सम्मति की आयु बढ़ानी चाहिए। प्रस्तावित विधेयक में वेश्याओं द्वारा छोटी लड़कियों को गोद लेने की तथा पत्नियों के हस्तांतरण जैसे घृणित व्यवहार को बन्द करने की जो व्यवस्था की गयी थी उसका भी उन्होनें समर्थन किया।[2]

इस प्रकार समाज में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जिस क्षेत्र में महामना का योगदान न रहा हो। समाज-सुधार, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, विधवा - विवाह, हरिजन - मन्दिर- प्रवेश, सती प्रथा, शुद्धि, अछूतोंद्धार गो-रक्षा, दहेज- प्रथा, विरोध आदि सभी क्षेत्रों में उन्होनें क्रांतिकारी सुधारवादी कार्य किये थे। वर्ण-व्यवस्था को मानते हुए भी उन्होनें जन्म के आधार पर भेदभाव का विरोध किया। सभी जातियों

---

1 प्रोसीडिंग - गवर्नर जनरल की कौसिंल (विधायिका) सन् 1912 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया पब्लिकेशन ब्रांच 1912, जि0 50 पृ0 170-175।

2 प्रोसीडिंग - गवर्नर जनरल की कौसिंल (विधायिका सन् 1912 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया पब्लिकेशन ब्रांच 1912,,जि051,पृ0 90।

में समानता के वे पक्षधर थे, यहाँ तक कि अंत्यज जातियों के लोगों को भी समाज मे सम्मान मिले, इसके लिए उन्होंने अपने अछूतोद्धार आन्दोलन द्वारा सराहनीय प्रयास किया। स्त्रियों के सम्मान के लिए महामना ने उनमें शिक्षा के प्रसार पर बल दिया तथा पर्दा प्रथा सती प्रथा, बाल विवाह आदि कुरीतियों का विरोध किया। वस्तुत: मालवीय जी के सामाजिक विचारों का लक्ष्य भी भारत की एकता और उसके अभ्युदय की कामना से प्रेरित था। उन्होनें देश को सर्वोच्च स्थान दिया था और वे चाहते थे कि भारत समस्त नागरिक देशहित के आगे सभी हितों का बलिदान कर दें, यही आज भारत की आवश्यकता है कि देश के सभी लोग देश के विकास के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दें।

शैक्षिक विचार :

भारतीय मनीषियों के चिन्तन का प्रधान उद्देश्य एक शक्तिशाली, ज्ञानसम्पन्न समृद्धिशाली तथा सुव्यवस्थित मानव समुदाय की संरचना करना रहा है और भारतीय साहित्य का भी एक खास उद्देश्य इस समुदाय को नैतिक तथा भौतिक दृष्टि से समुन्नत बनाना रहा है।भारतीय इतिहास में एक समय ऐसा भी रहा है जबकि इसने न केवल धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में, अपितु विज्ञान, कला, उद्योग तथा सभ्यता निर्माण के अन्य अनेक क्षेत्रों में महान उलब्धियां अर्जित की है । भारत गणित, व्याकरण, खगोल विज्ञान, और चिकित्सा का जन्म स्थान रहा है। किन्तु लगभग पिछले आठ नौ वर्षो से भारतीय सम्यता की विकास प्रक्रिया न सिर्फ अवरूद्ध हुई है, बल्कि यह कमशः अवनति की ओर अग्रसर हुई है। गणित के क्षेत्र में भास्कराचार्य के बाद तथा चिकित्सा क्षेत्र में वाण भट्ट के बाद कोई विकास नहीं हुआ। वेद-ज्ञान जो हृदय स्वत्व था, बिल्कुल क्षीण हो चुका है। आज वेदों का अध्ययन भारत से अधिक उत्साह से यूरोप में हो रहा है। हिन्दू गणितज्ञों, चिकित्सकों, संगीतज्ञों, तर्कशास्त्रियों आदि की पीढ़ी कमशः लुप्त होती गयी है। इसी तरह ज्ञान की अनेक शाखाएं, जो कभी यहाँ बड़े मनोयोग से विकसित की गयी और फली-फूली थी अब लुप्त प्राय हो गयी है।

इसे ही देखते हुए युगचिंतक महामना पं0 मदन मोहन मालवीय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमारी समस्याओं की जड़ अज्ञानता है। किसी भी सभ्य एवं समुन्नत समाज की बुनियाद उसकी शिक्षा है। उस समय (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना से पूर्व) पूरे यूरोप में रूस को छोड़कर शिक्षा की जो स्थिति थी, उसके समक्ष भारत की स्थिति बिल्कुल नगण्य थी। इस समय ब्रिटेन में 18 फ्रांस में 15, इटली में 21, जर्मनी में 22, अमेरिका में 134 विश्वविद्यालय थे। जबकि भारत जैसे बड़े देश में केवल 5 विश्वविद्यालय थे। इसलिए मालवीय जी ने शिक्षा के व्यापक प्रसार के लिए एक विश्वविद्यालय की स्थापना का संकल्प लिया। सन्

इस विश्वविद्यालय की योजना सन् 1904 में मालवीय जी ने काशी नरेश प्रभु नारायण सिंह की अध्यक्षता में आयोजित वाराणसी की सभा में प्रस्तुत की । सन् 1905 में इस योजना की रूपरेखा अनेक हिन्दू संभ्रान्त सज्जनों के पास भेजी गयी जिसके प्राक्कथन में कहा गया कि "भारत के प्राचीन धर्म की शिक्षा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने को एक बड़ी समष्टि की इकाई समझकर उसके हित के लिए जीवित रहे और काम करे, लोकल्याण और लोकसंग्रह को परम पुरूषार्थ समझे।[1] इस प्राक्कथन में भारतीय संस्कृति के बहुत से. अन्य सद्गुणों की विवेचना करते हुए उसकी समुचित शिक्षा हिन्दुओं के वास्तविक उत्थान के लिए आवश्यक बतायी गयी। उसमें पाठ्यक्रम का भी संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया। हिन्दू धर्म और प्राचीन भारतीय विद्याओं की शिक्षा के साथ-साथ भारतीय भाषा के माध्यम से आधुनिक ज्ञान विज्ञान और शिल्पशास्त्र की शिक्षा को उसमें शामिल किया गया।[2] 31 दिसम्बर सन् 1905 को यह प्रारूप वाराणसी के टाउन-हाल में आयोजित एक सभा में पुनः प्रस्तुत किया गया, दूसरे दिन कांग्रेस अधिवेशन में इसकी घोषणा की गयी। जनवरी 1906 में प्रयाग कुम्भ के अवसर पर सनातन धर्म के सम्मेलन में

---

1 दर और सोमस्कंदन , हिस्ट्री आफ दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी, 1966 पृ0 51।

2 दर और सोमस्कंदन , हिस्ट्री आफ दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी, 1966 पृ0 53 - 54।

गोवर्धन मठ के शंकराचार्य की अध्यक्षता में इस योजना पर विचार हुआ और तय हुआ कि काशी में ''भारतीय विश्वविद्यालय' नाम से प्रस्तावित विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय। 16 मार्च 1906 को विश्वविद्यालय का विवरण प्रकाशित किया गया तथा उसके शिलान्यास के लिए श्रृंगेरी मठ के शंकराचार्य को आमंत्रित किया गया लेकिन अस्वस्थता के कारण वे उपस्थित न हो सके।[1]

इसी बीच सन् 1907 में श्रीमती एनी वेसेन्ट ने यूनिवर्सिटी आफ इण्डिया नाम से एक विश्वविद्यालय खोलने का निश्चय किया। दरभंगा के महाराजा रामेश्वर सिंह भी बनारस में ही एक संस्कृत विश्वविद्यालय शारदा विद्यापीठ खोलने की योजना बना रहे थे। लेकिन उन दोनों लोगों की योजनाएं सफल होती इसके पहले 1911 में आगा खान के नेतृत्व में ' अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी' की स्थापना के लिए प्रयत्न होने लगा तथा सरकार ने उन्हें आश्वासन दे दिया था कि 25 लाख रूपये जमा होने पर उनकी योजना पर सहानुभूतिपूर्वक विचार होगा।[2]

अपनी योजनाओं की सफलता में संदेह देखकर 1911 से दरभंगा नरेश तथा श्रीमती एनी वेसेन्ट भी मालवीय जी की योजना की सफलता के लिए प्रयास करने लगे। इसी प्रयास की प्रक्रिया में 11 अक्टूबर सन् 1911 को मालवीय जी और महाराजा दरभंगा वायसराय लार्ड हार्डिग और शिक्षा मंत्री सर हरकोर्ट बटलर से मिले। कुछ शर्तो के पूरा होने पर विश्वविद्यालय को मान्यता मिलने का आश्वासन मिला। 22 अक्टूबर सन् 1911 को यह घोषित किया गया कि श्रीमती एनी वेसेन्ट, मालवीय जी और महाराजा दरभंगा की योजनाएं मिलाकर एक कर दी गयी हैं और नये विश्वविद्यालय का नाम हिन्दू यूनिवर्सिटी होगा तथा उसका धर्म विज्ञान विभाग केबल हिन्दुओं के हाथ में होगा।[3]

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल: महामना मदन मोहन मालवीय, जीवन एव नेतृत्व मालवीय अध्ययन संस्थान का हि0वि0वि0 वाराणसी 1978 पृ0150।

2 उमेश दत्त तिवारी : महामना पं0 मदन मोहन मालवीय वाराणसी,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय 1988पृ0 138।

3 दर और सोमस्कंदन, हिस्ट्री आफ दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी, 1966 पृ0 193।

28 नवम्बर सन् 1911 को हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी का गठन हुआ। 4 दिसम्बर को प्रस्तावित विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में 32 सम्मानित व्यक्तियों का एक का एक प्रतिनिधि मण्डल दिल्ली में सर बटलर से मिला। सरकार ने यह निश्चित किया कि विश्वविद्यालय अधिनियम पास हो जाने पर उसका कार्यान्वयन तभी होगा जब बैंक में 50 लाख रूपये जमा हो जाये और समिति एक करोड़ रूपया जमा करने की स्थिति में हो । सन् 1912 से मालवीय जी ने अपने व्यस्त वकालत के पेशे को छोड़कर विश्वविद्यालय निर्माण हेतु चन्दा उगाही का व्यापक कार्यक्रम शुरू किया। देश के विभिन्न हिस्सों में समिति की टुकड़ियां जाने लगी। सन् 1915 के प्रारम्भ तक समिति ने 50 लाख रूपये इकट्ठा कर लिया साथ ही अनेक राजा - महाराजाओं ने वार्षिक अनुदान देने की घोषणा की। योजना के क्रियान्वयन के लिए पूर्वस्थापित व्यवस्थित तथा स्वस्थ स्थिति में चल रहे एक कालेज की आवश्यकता थी । 27 नवम्बर 1914 को 'सेन्ट्रल हिन्दू कालेज एसोसिएशन को हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी' में मिला दिया गया और उसे सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल तथा रणवीर संस्कृत पाठशाला हस्तान्तरित कर दिये गये। 22 मार्च 1915 को सर बटलर ने इम्पीरियल लोजिस्लेटिव कौंसिल में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बिल प्रस्तुत किया।एक अक्टूबर 1915 को प्रवर समिति में इसकी रिपोर्ट पेश की गयी। उसी दिन भारी समर्थन से विधेयक पास हो गया और 4 फ़रवरी, 1916 (माघ शुक्ल प्रतिपदा, संवत्,1972 विक्रमी) को भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग ने विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया। 1 अप्रैल 1916 से विश्वविद्यालय अधिनियम कार्य करने लगा ।[1]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय महामना की अनुपम कृति है। इसके निर्माण में अनेक राजाओं, महाराजाओं, विद्वानों, जमीदारों और धनी लोगों का योगदान था,

---

1 दर और सोमस्कंदन, हिस्ट्री आफ दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी, 1966 पृ0 193।

परन्तु मालवीय जी का साहस, उत्साह, कल्पना, लगन और तपस्या ही उसका प्रमुख आधार था। राष्ट्र सेवा के बहुत से कार्यो में फँसे रहने के कारण वे अपना सारा समय तो विश्वविद्यालय को नहीं दे पाते थे, किन्तु उसके अभ्युदय की चिन्ता उन्हें जीवन की अंतिम घड़ी तक सदैव बनी रही।[1] संन् 1920 से 1939 तक तो उसके संचालन और प्रबन्ध का भार मुख्यत: उन्हें ही वहन करना पड़ा। विश्वविद्यालय के संचालन और प्रबन्धन में जिन महानुभावों ने मालवीय जी के साथ सहयोग किया उनमें पंडित बलदेव राम दबे, पण्डित कन्हैया लाल दवे और पंडित हृदय नाथ कुंजरू का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कोषाध्यक्ष की हैसियत से राजा मोती चन्द, तथा इन्जीनियर की हैसियत से ज्वाला प्रसाद जी का भी भरपूर योगदान था। विश्वविद्यालय के लिए आतिथ्य सत्कार का भार महाराजा बनारस और महाराजा विजयानगरम् को वहन करना पड़ा। बिड़ला परिवार का भी विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों के उत्थान में विशिष्ट योगदान था।[2] उस सम्बन्ध में बाबू शिवप्रसाद गुप्त का नाम भी उल्लेखनीय है, जिन्होनें मालवीय जी के साथ चन्दा जमा करने के लिए देश का भ्रमण किया लेकिन विश्वविद्यालय को सरकारी मान्यता मिलने के कारण वे इससे अलग हो गये फिर भी मालवीय जी की सेवा करते रहे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य तथा आधुनिक मानविकी और विज्ञान के साथ-साथ हिन्दू धर्म विज्ञान, प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति एवं विभिन्न प्राच्य विद्याओं का अध्ययन अध्यापन होता था। यहाँ प्राच्य विद्या संकाय में प्राचीन पद्धति से संस्कृत वाड्.मय का अध्ययन करने के साथ ही कला संकाय में अर्वाचीन अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, दर्शन शास्त्र के अध्ययन की भी सुविधा प्राप्त थी। एक विद्यार्थी एक ही समय में प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों के ज्ञान से लाभान्वित हो सकता था।

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जीवन एवं नेतृत्व, मालवीय अध्ययन संस्थान का0 हि0 वि0 वि0 वाराणसी, 1978 पृ0 158।

2 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जीवन एवं नेतृत्व, मालवीय अध्ययन संस्थान का0 हि0 वि0 वि0 वाराणसी, 1978 पृ0 158।

यद्यपि बीस-पच्चीस वर्ष हिन्दी भाषा शिक्षा का माध्यम नहीं बन पायी पर हिन्दी भाषा-भाषी विद्यार्थियों के लिए हिन्दी भाषा के अध्ययन की सुविधा प्राप्त थी। कुछ वर्षो तक तो यही विश्वविद्यालय हिन्दी साहित्य की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहीं बाबू श्याम सुन्दर दास, पं0 रामचन्द्र शुक्ल, पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय, बाबू भगवान दीन जैसे अध्यापक थे।

कला संकाय में पाश्चात्य विद्वानों के विचारों के साथ-साथ भारतीय विद्वानों के विचारों एवं सिद्धान्तों का भी अध्ययन होता था। दर्शनशास्त्र में कांट और हीगल के साथ शंकर का अध्ययन अनिवार्य था तो राजनीति विज्ञान में भारतीय राजनीतिक विचारों और संस्थाओं का ज्ञान भी अनिवार्य था।

यहाँ राजनीति विज्ञान विभाग में स्वतंत्रता प्राप्त होने से पन्द्रह-सोलह वर्ष पहले ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक विचार तथा समाजवादी सिद्धान्तों का इतिहास आदि विषयों का अध्ययन काफी निर्भीकता से किया जाता था, जबकि इन विषयों के पठन-पाठन का प्रबन्ध इस समय दूसरे भारतीय विश्वविद्यालयों में सम्भव नहीं था।[1]

मालवीय जी विद्यार्थियों में अनुशासन की शिक्षा के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना का भी विकास करते थे। उनके विद्यार्थियों से सम्बन्ध बहुत ही मधुर थे। उनका वात्सल्य समस्त विद्यार्थियों के लिए था परन्तु गरीब विद्यार्थियों पर उनका विशेष अनुराग था। विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ ही हरिजन विद्यार्थियों की शिक्षा निःशुल्क कर दी गयी थी। अन्य गरीब विद्यार्थियों को भी मालवीय जी यथासंभव आर्थिक सहायता देते रहते थे। चौधरी गिरधारी लाल ने अपने संस्मरण में लिखा है कि ''मालवीय जी को मालूम भर हो जाना चाहिए कि यह बालक हरिजन है और उनकी उदारता के कपाट उसके लिए खुल जाते थे। शिक्षा-शुल्क

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल महामना पं0 मदन मोहन मालवीय वाराणसी,काशी हिन्दू वि0 विद्यालय 1988 पृ0 159-160।

और छात्रावास शुल्क तो माफ ही हो जाता था, उसके दूसरे खर्च भी अपने पास से पूरा कर दिया करते थे। आज शिक्षित हरिजन समुदाय में काफी संख्या उन लोगों की है, जिन्हें मालवीय जी की उदारता के कारण ही सारी सहूलियतें प्राप्त हुई है।[1] इतिहास के यथार्थ पर अध्यात्म की शक्ति से निर्मित सर्व विद्या की राजधानी' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शिक्षा जगत में महामना के अभिनव चिंतन का एक क्रांतिकारी प्रयोग है। राष्ट्र व्यापी जागृति का प्रतीक यह विश्वविद्यालय कर्नल वेज बुड् के अनुसार"बीसवीं सदी में भारतीयो की एक महान् उपलब्धि है। विश्वविद्यालय के बारहवें दीक्षान्त समारोह में बोलते हुए महामना ने कहा था-

"शुभ सूर्यालोकित गुंबजों से सुशोभित ये सुन्दर भवन ऐसे प्रतीत होते है, मानों चुनार की शिलाओं में छोटी-छोटी कविताएं लिखी गयी है। कही है सम्पूर्ण एशिया और यूरोप में विद्यार्थियों के योग्य ऐसा सुन्दर स्थान? कहाँ है ऐसा धनुषाकार नीलाकाश? कहाँ है वह दिव्य स्थल,जहाँ मनुष्य पवित्र गंगा की मधुर कोमल कल-कल निनाद निरन्तर सुनता रहे? क्या संसार में संस्कृति का कोई ऐसा केन्द्र है, जिसके साथ इतना प्राचीन इतिहास लगा हो? जिसके साथ अक्षय स्मृतियां बुद्ध, शंकर, रामानुज, तुलसीदास, कबीर आदि की लगी हुई हो? हिन्दू विश्वविद्यालय की गौरवमयी भूमि में भक्तिमय विचारों की एक धारा है, एक अखण्ड राग है, समय के परिवर्तन की ओर देखो सभ्यता के ऊषा की ओर देखों और संसार के प्रातः काल की ओर देखों,, वहाँ प्राचीन ऋषियों के स्वर सुनाई पड़ते मालूम होगें। पृथ्वी भले ही उपजाऊ स्थलों, हरियाली भूमि, धनी प्रदेशों का गर्व करें, किन्तु जैसा रमणीय स्थल यहाँ है, ऐसा अमूल्य, ऐसा पवित्र और ऐसा दिव्य स्थल कही ढूँढ़े नहीं मिलेगा। यहाँ सुपुष्पित, फलवती और पक्षी कूजित कुंजों के बीच से प्रसन्नता, आशा और अमरत्व की हँसी फूट रही है। अनन्तकाल के लिए यही संसार संस्कृति का केन्द्र है, यही मेरी मातृभूमि की पिटारी है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संसार में

---

1 पदम् कान्त मालवीयः मालवीय जीः जीवन झलकियां (संकलन) दिल्ली, नेशनल, 1962, पृ0 118।

एक विशेष उद्देश्य और निश्चित कार्यक्रम लेकर उत्पन्न हुआ है। अपने मंदिर के ज्ञानमय स्तम्भों से अंधकार में पड़े हुए संसार को प्रकाश देने और मनुष्य मात्र को परम ज्योतिर्मय परमेश्वर की झाँकी दिखलाने के लिए यह पैदा हुआ है।[1]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् मालवीय जी के समक्ष एक महत्वपूर्ण प्रश्न था कि शिक्षा का स्वरूप क्या हो? भारतीय परम्परा में ज्ञान के दो प्रकार रहे है- विद्या और अविद्या, जिसे आध्यात्मिक और भौतिक भी कहा जाता है। मानव जीवन की पूर्णता के लिए इन दोनों प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है। देश का संतुलित विकास इनके परस्पर विरोध में न होकर परस्पर समन्वय में है। ये दोनों ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। महामना देश की गरीबी के निवारण के लिए आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा का व्यापक प्रसार आवश्यक मानते थे, ताकि कृषि और औद्योगिक क्रांति द्वारा देश के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन एवं उपयोग कर भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर हुआ जा सके। परन्तु केवल आर्थिक उन्नति ही जीवन की सार्थकता का प्रमाण नही है, बल्कि हमारी समृद्धि हमारा सुखी और शान्तिपूर्ण जीवन हमारे आत्मिक और नैतिक बल पर अवलम्बित है। जिसके लिए परस्पर सम्मान एवं सहयोग, नैतिकता और देशभक्ति, त्याग और तपस्या की भावना आवश्यक है। मालवीय जी विश्वविद्यालय को राष्ट्रीय उन्नति, एकता, विश्वबंधुत्व तथा विश्वशांति के संदेश का एक उच्च स्तरीय केन्द्र बनाना चाहते थे।वे आर्थिक उन्नति को केवल एक साधन मानते थे। राष्ट्र की महत्ता, इसकी भौतिक समृद्धि, शास्त्रास्त्रों की होड़, सड़कों तथा रेलों के विस्तार में नहीं, बल्कि इसके उन निवासियों की मधुर मुस्कान में है जो इस समृद्धि का द्वार खोलते हैं।

मालवीय जी पाश्चात्य शिक्षा पद्वति के दोषों से पूर्ण परिचित थे। वे देश के नौजवानों को आजीविका के लोभ और राष्ट्रीय दृष्टि से नैतिक पतन से बचाने के लिए स्वतंत्र रूप से संचालित राष्ट्रीय शिक्षा को आवश्यक मानते थे। इस

1 प्रज्ञा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पतिका हीरक जयन्ती अंक पृ0 297-298 (उद्धृत खेलाड़ी पाठक)

विश्वविद्यालय को सरकारी नियंत्रण से मुक्त रखने के पीछे उनका यही मन्तव्य था। उनके समक्ष एक महत्वपूर्ण प्रश्न था कि शिक्षा का उद्देश्य क्या हो ? उपनिषदों में कहा गया है कि 'विद्या वह है जो मुक्ति के लिए हो-" साविद्या या विमुक्तयें", हर तरह से मुक्ति आर्थिक्, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक अर्थात् स्वार्थपरता और संकीर्णता के स्थान पर त्याग और समर्पण की भावना का विकास। किन्तु मुक्ति का मार्ग वही दिखा सकता है, जो स्वयं मुक्त हो। महामना ने अपने समय में ऐसे ही अध्यापकों को नियुक्त किया, जो महान त्यागी विद्वान थे। मालवीय जी का इस मामले में दृढ़ मत था कि धर्म तथ आचार शास्त्र, देशभक्ति और नागरिकता की शिक्षा के बिना प्रतिष्ठित चरित्रवान नवयुवकों को उत्पन्न नही किया जा सकता। उनके अनुसार इस संस्था का उद्देश्य सिर्फ इंजीनियर, डाक्टर, व्यवसायी, धर्म शास्त्री आदि ही उत्पन्न करना नहीं था, बल्कि उच्चमनस्क नौजवान भी उत्पन्न करना था, जो यहाँ से निकलकर जहाँ कही भी जायँ, इस विश्वविद्यालय का प्रामाणांक सिद्व हो सके।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एक प्रकार से महामना की अपनी कल्पना का प्रतीक था। वह प्राच्य और अर्वाचीन विद्याओं का संगम, विश्व ज्ञान का विद्यामंदिर है। वर्तमान सभ्यता की अनुकरणीय तथा लाभदायक बातों के साथ भारतीय सभ्यता का उचित सामंजस्य उसका उद्देश्य था। प्राचीन भारतीय आयुर्वेद के साथ अर्वाचीन शल्य शास्त्र की शिक्षा का मेल, आयुर्वेदिक औषधियों का वैज्ञानिक परीक्षण तथा उन पर अनुसंधान, विभिन्न विषयों पर प्राच्य और अर्वाचीन ज्ञान का तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन, प्राचीन भारतीय संस्कृति, दर्शनशास्त्र, साहित्य और इतिहास के गम्भीर अध्ययन- अध्यापन के साथ-साथ आधुनिक मनोविज्ञान, नीति विज्ञान, दर्शन शास्त्र अर्थ शास्त्र, राजनीति विज्ञान आदि का अध्ययन अध्यापन, वेद, वेदांग तथा संस्कृत साहित्य और वाड्मय की शिक्षा के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, धातु विज्ञान, खनन-विज्ञान, विद्युत इंजीनियरी, यांत्रिक इंजीनियरी, कृषि

विज्ञान का अध्ययन इसकी विशेषता थी। अब तो यहाँ पत्रकारिता, लाइब्रेरी सांइस से लेकर आधुनिक कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी तक की शिक्षा उपलब्ध है, यहाँ का विधि संकाय एवं शिक्षा संकाय सर्वप्रसिद्ध है। यहाँ ईश्वर भक्ति के साथ-साथ देशभक्ति की शिक्षा दी जाती थी और विद्यार्थियों को राष्ट्र के जीवन का ज्ञान कराया जाता था - उन्हें समाज की सेवा के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। मालवीय जी की कामना थी कि उनका विश्वविद्यालय जीवन और ज्योति का केन्द्र बने और वहाँ के विद्यार्थी ज्ञान में संसार के दूसरे प्रगतिशील देशों के विद्यार्थियों के समान हों तथा उत्कृष्ट जीवन बिताने के योग्य बनें, देशभक्ति और भगवद् भक्ति से अपने जीवन को अनुप्राणित कर समाज की सेवा करें।

मालवीय जी अध्यापक को समाज का सर्वश्रेष्ठ सेवक स्वीकार करते थे । उनकी धारणा थी कि अगर वह देशभक्त हैं, राष्ट्रीयता से उसे प्रेम है और अगर वह अपने उत्तरदायित्व को समझता है तो वह देशभक्त पुरूषों और स्त्रियों की जाति उत्पन्न कर सकता है जो स्वभावत: देश को किसी ऐसी श्रेणी पर पहुँचा देंगे, जहाँ राष्ट्रहित के सामने जातीय स्वार्थ और द्वेष का लेख-मात्र भी नही रहेगा।[1] वे चाहते थे कि अध्यापक अपने जीवन को देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावना से विभूषित कर इस भूमि से अशिक्षा को हटा दें,अपने नवयुवकों में नागरिकता की शिक्षा तथा प्रेम की भावना का ऐसा विस्तार कर दें कि राष्ट्रीयता रूपी सूर्य के सामने साम्प्रदायिकता कभी टिक नहीं सके।[2] अपने विद्यार्थियों में सद्गुणों तथा सज्ञान का प्रसार करें, उन्हें इस योग्य बना दें कि वे दूसरे देशों के स्नातकों से टक्कर ले सकें, उनमें इतनी क्षमता पैदा कर दें कि वे अपने देश की शक्ति का निर्माण कर सके, उसे समृद्ध ज्ञानसम्पन्न और गौरवान्वित कर सकें ।

---

1 सन् 1929 का दीक्षांत भाषण, दर और सोमस्कन्दन, हिस्ट्री ऑफ द बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी 1966 पृ0193।

2 सन् 1929 का दीक्षांत भाषण) दर और सोमस्कंदन, महामना पं0 मदन मोहन मालवीय वाराणसी,काशी हिन्दू वि0 विद्यालय 1988 पृ0193।

मालवीय जी चाहते थे कि जिस तरह प्राचीन काल में भारत में गुरू सर्वसम्मानित थे, उसी तरह अब भी सरकार अधिकारी और विद्यार्थी गुरूओं के मान की रक्षा तथा उनके गौरव की वृद्धि अपना कर्त्तव्य समझें। इसके बिना शिक्षा की सुव्यवस्था सम्भव नहीं। मालवीय जी का विद्यार्थियों को यह उपदेश था कि वे सत्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, विद्या देशभक्ति, आत्मत्याग द्वारा अपने समाज में सम्मान के योग्य बने।

''सत्येन ब्रह्मचरेण व्यायामेनाथ विद्यया।
देशभक्तयात्मयत्यागेन सम्मानर्हः सदाभव''।।

मालवीय जी विद्यार्थियों को ज्ञान का पुंज बनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि विद्यार्थी सदा सत्य का आचरण करें, ब्रह्मचर्य और व्यायाम द्वारा अपने जीवनशक्ति को परिपुष्ट करें, नियमितरूप से विद्याध्ययन कर अपने बौद्धिक शक्ति का विकास करें, अपने में अपने कुटुम्ब तथा अपने राष्ट्र की सेवा करने की क्षमता पैदा करें, सदा शुद्धता से रहें और शील का पालन करें, अपने सद्व्यवहार से अपने विद्यालय का गौरव बढ़ायें, गुरूजनों का आदर करें, छोटे कर्मचारियों के साथ सहानुभूति और प्रेम का व्यवहार करें, अपने से छोटों की सेवा अपना कर्त्तव्य समझें, दूसरो के प्रति कोई भी ऐसा आचरण न करें जिसे वह अपने प्रति किया जाना अनुचित समझें, उन कार्यो से डरें जो निकृष्ट और त्याज्य है, मातृभूमि से प्यार करें, जनता की सुखवृद्धि करें, जहाँ कही भी अवसर मिले, भलाई करें। महामना यह चाहते थे कि विद्यार्थी अपने अवकाश तथा छुटिटयों में गांवों में जाकर गांव वालों के साथ काम करें, अविद्या रूपी अंधकार को जो हमारी अधिकांश जनता को आच्छादित किये हुए है, ज्ञान के प्रकाश से दूर कर दें। वे चाहते थे कि शिक्षित भारतीय अपने जीवन में सहनशीलता, क्षमा तथा निःस्वार्थ सेवा के भाव को विकसित कर अपने छोटे भाइयों के उत्थान के लिए अपना अधिक से अधिक समय तथा शक्ति लगाये, उनके साथ मिलकर काम करें, उनके शोक तथा आनन्द में उनका साथ दें

और उनके जीवन को दिनोंदिन सुखमय बनाने का प्रयत्न करें। वे यह चाहते थे कि लोग ईश्वर का स्मरण करें, तथा यह विश्वास रख़ते हुए कि ईश्वर सभी प्रणियों में विद्यमान है अपने अन्य जीवधारी भाइयों से अपना सच्चा सम्बन्ध प्रतिष्ठित करें।[1]

मालवीय जी ने सब प्रकार और सब स्तर की शिक्षा के विस्तार की पुष्टि की । वे प्रारम्भिक शिक्षा को सभी सुधारों का मूलाधार मानते थे और चाहते थे कि सरकार सभी बच्चों के हित के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य रूप से उसकी व्यवस्था करें। उन्होनें सन् 1911 में गोखले द्वारा प्रस्तावित 'अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा विधेयक का समर्थन किया था। इसी प्रकार सन् 1917 में श्रीनिवास शास्त्री तथा सन् 1918 में बी0एन0 शर्मा के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए उन्होनें अनिवार्य नि:शुल्क और सर्वभौमिक प्रारम्भिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था की माँग को पुष्ट किया।[2] उनका मानना था कि अनिवार्य शिक्षा नि:शुल्क होनी ही चाहिए परन्तु वित्तीय साधनों की कमी के कारण ब्रिटेन, जापान आदि देशों में अनिवार्य शिक्षा को कुछ वर्ष तक नि:शुल्क नहीं बनाया गया था। इसलिए भारत में भी कुछ समय तक इसका अनुकरण किया जा सकता है। अनिवार्य शिक्षा को चालू करने के लिए जनता को नये करों का बोझ अवश्य वहन करना होगा, पर इस पवित्र काम को सम्पन्न करने में उन्हें इसके लिए खुशी - खुशी तैयार होना चाहिए। गोखले के विधेयक का समर्थन करते हुए उन्होनें कहा था कि यह आक्षेप कि शिक्षा पाकर बच्चों का दिमाग फिर जायेगा, एक बेकार बात है। शिक्षा पाकर बच्चों का दिमाग जरूर फिरेगा, पर उसकी दिशा अशिक्षित बालकों की मानसिक प्रवृत्तियों की दिशा से अधिक अच्छी होगी।[3] उन्होनें स्वीकार किया कि कतिपय सामाजिक प्रथाओं के कारण लड़कियों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाना कठिन जरूर है पर

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल: महामना पं0 मदन मोहन मालवीय जीवन एवं नेतृत्व, मालवीय अध्ययन संस्थान,,काशी हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसी, 1978, पृ0 620-25 ।

2 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौंसिल (विधायिका) सन् 1917 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1918 जि0 55, पृ0 463-466, वही सन् 1918 जि0 56, पृ0 910-911।

3 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौंसिल (विधायिका) सन् 1911 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1911 जि0 49,पृ0 468।

जिन नगरों में पर्दे की प्रथा चालू नही है और जनता चाहती है कि अनिवार्यता लड़कियों पर लागू की जाय, वहाँ उसे अवश्य लागू कर देना चाहिए। जो सिद्धान्त लड़कों के लिए ठीक समझा जाता है संरक्षणों के साथ अभिभावकों की सम्मति से लड़कियों पर भी लागू किये जाने की सम्भावना से घबड़ाने का कौन कारण है? उन्होंनें कहा-समाज के आधे भाग को ज्ञान की ज्योति से तथा उस उत्कृष्ट जीवन से, जो ज्ञान द्वारा सम्भव है, वंचित रखना बहुत दुःखदायी बात होगी?[1]

मालवीय जी का कहना था कि राजा और प्रजा दोनों के हितों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक और बालिका शिक्षा प्राप्त करें और इस लक्ष्य को पूरा करना है तो सरकार को यह बात अभिभावकों की इच्छा पर नही छोड़नी चाहिए कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें या न भेजें। बालिकाओं के सम्बन्ध में अवश्य ही अभी कोई अनिवार्यता का नियम नही बनाना चाहिए। परन्तु यदि बालकों के लिए भी स्वेच्छा की नीति का अवलम्बन किया गया तो सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार नही हो सकेगा। किसी हद तक शिक्ष अवश्य प्रसारित होगी पर बहुसंख्यक जनता अशिक्षित ही रह जायेगी। प्रत्येक सभ्य देश ने यह स्वीकार किया है कि अनिवार्य प्रणाली ही एक ऐसा सुगम मार्ग है जिसके द्वारा सार्वजनिक शिक्षा के लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। इसके बिना किसी देश ने न आज तक सफलता प्राप्त की है और न ही वह हमें प्राप्त हो सकती है।[2]

मालवीय जी ने अनिवार्यता के नैतिक औचित्य को पुष्ट करते हुए कहा कि प्रत्येक शासन के कुछ विभागों में अनिवार्यता के सिद्धान्त को लागू करना आवश्यक ही होता है। प्रत्येक शासन व्यवस्था में अपराधों को दबाने के लिए तथा शांति और सुव्यवस्था के लिए विचार- अभिव्यक्ति पर रोक लगाना अनिवार्य होता है।

1 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1911 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1911 जि0 49, पृ0 469 ।

2 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1912 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1912 जि0 49,पृ0 608।

सभ्यता की उच्च श्रेणी में तो समाज की उन्नति के लिए भी बहुत से जनोपयोगी मामलों में अनिवार्यता के सिद्धान्त की शरण लेनी ही पड़ती है।[1]

मालवीय जी ने अपने भाषण में वायसराय लार्ड हार्डिग, शिक्षा सदस्य सर बटलर तथा विभिन्न प्रांतीय सरकारों के विचारों का विश्लेषण करते हुए कहा कि ये सब लक्ष्य की सार्थकता स्वीकार करते है, फिर अनिवार्यता के सिद्धान्त को स्वीकार करने से ज़िसके बिना लक्ष्य की सिद्धि सम्भव नहीं, क्यों हिचकते है ? उन्होनें वायसराय के उस भाषण को उद्घृत किया जिसमें उन्होनें शिक्षा के विस्तार पर हर्ष प्रकट करते हुए कहा था कि ''वह लक्ष्य अभी बहुत दूर है जब प्रत्येक बालक और बालिका नवयुवक और नवयुवती शिक्षा पा सके, जिससे व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार के जीवन में सुन्दरता और पूर्णता आ सके। मालवीय जी ने कहा कि ने कहा ''शिक्षा के सम्बन्ध में भारत सरकार अपने उदार भाव तथा उच्च लक्ष्य को इससे अच्छे शब्दों में व्यक्त नही कर सकती पर जिस प्रश्न का उत्तर वांछनीय है, वह यह है कि उस लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है?[2]

मालवीय जी ने कहा कि उस समय से जबकि सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार के महत्व को स्वीकार किया है, सरकार के राजस्व और खर्चे में बहुत वृद्धि हुई है, प्रशासन और सेना आदि पर कही अधिक धन खर्च किया जा रहा है, पर शिक्षा पर जितना चाहिए उतना खर्च नही हो रहा है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त प्रगति के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का समुचित प्रबन्ध नितान्त आवश्यक है।[3]

---

1 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1912 कलकत्ता गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1912, जि0 50, पृ0 604।

2 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1912 कलकत्ता गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1912, जि0 50, पृ0 606।

3 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1918 कलकत्ता गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1918, जि0 56, पृ0 910।

केवल प्रारम्भिक शिक्षा ही नही बल्कि मालवीय जी सभी प्रकार की शिक्षा पर सरकार से ध्यान देने की अपील करते थे। सन् 1914 मे उन्होनें माध्यमिक शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने का आग्रह किया। उन्होनें कहा कि माध्यमिक शिक्षा का स्तर इतना ऊँचा हो कि उसे प्राप्त करने पर विद्यार्थी, जीवन में प्रवेश करने तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा से लाभ उठाने के लिए अधिक योग्य बन सके। उन्होनें सुझाव दिया कि इण्टरमीडिएट कक्षा की दो वर्ष की पढ़ाई की व्यवस्था समस्त हाई स्कूलों में की जाय और बी0ए की शिक्षा की अवधि दो वर्ष की बजाय तीन वर्ष कर दी जाय।[1] मालवीय जी चाहते थे कि विश्वविद्यालयों को शैक्षिक संस्थाओं का स्वरूप दिया जाय, उन्हें जीवन और ज्योति का केन्द्र बनाया जाय, वहाँ के विद्यार्थी ज्ञान में संसार के दूसरे प्रगतिशील देशों के विद्यार्थियों के समान हो तथा उत्कृष्ट एवं सभ्य जीवन बिताने के योग्य बन सकें, भगवद् -भक्ति और देशप्रेम से अपने जीवन का अनुप्राणित कर समाज की सेवा कर सकें। उन्होनें सन् 1914 में उच्च स्तर की प्राविधिक शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त विदेश जाने वाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने की माँग की।[2]

26 जनवरी, 1920 को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अपने दीक्षान्त भाषण में मालवीय जी ने कहा था कि ''विद्यार्थियों को इस योग्य भी बना दिया जाना चाहिए कि वे किसी न किसी उपाय से अपना जीविकोपार्जन कर सके। हाईस्कूल की शिक्षा अन्य देशों की भांति तभी सफल मानी जा सकती है, जब वह विद्यार्थियों को अर्थोपार्जन के योग्य बनाने वाली हो। शिक्षा के लिए विद्यार्थियों को दूर नहीं जाना पड़े और छात्र अर्थकारी शिक्षा कम व्यय पर अपने समीप के विद्यालय में ही प्राप्त कर सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।'' उन्होनें सर्वसाधारण

---

1 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1914 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1914, जि0 52, पृ0 1032।

2 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1914 कलकत्ता गवर्नमेंन्ट आफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच, 1914, जि0 52, पृ0 1032।

स्कूलों में बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ हस्तकला की शिक्षा को आवश्यक बताया है। वे चाहते थे कि विद्यार्थियों के ज्ञान को व्यवहारिक और कार्यशाला प्रयोगात्मक बनाया जाय। प्रयोगशाला तथा वर्कशॉप द्वारा उनमें प्रेक्षण की शक्ति पैदा की जाय। ऐसा सुझाव उन्होनें सन् 1907 के प्रांतीय परिषद में रखा था। वे शिक्षा संस्था में उच्चस्तरीय विद्वानों को रखने की आवश्यकता समझते थे, जो अपने अध्यापन एवं अनुसंधान द्वारा विद्यार्थियों को अनुप्राणि तथा प्रशिक्षित करें और जो वास्तव में विद्वता, प्रतिभा की खोज और विकास तथा वैज्ञानिक ज्ञान और अनुसंधान की तरक्की एवं व्यावसायिक स्तर के उन्नयन का केन्द्र बन सके।[1]

देश में युवकों में व्याप्त बेरोजगारी के बारे में दीक्षान्त भाषण में उन्होनें कहा कि ''आज बेरोजगारी का प्रमुख कारण है कि हमारे विश्वविद्यालय विभिन्न विषयों की शिक्षा नही देते । उनकी शिक्षा अर्थपरक नहीं है। कला अथवा विज्ञान में उपाधि प्राप्त करने वाले विद्यार्थी केवल एक शिक्षक या राज्य कर्मचारी के पद के योग्य ही रहते हैं, परन्तु स्कूल तथा कालेज और नौकरियों में प्रतिवर्ष निकले हुए स्नातकों की अल्पसंख्या में ही नियुक्ति हो सकती है। इन सभी का एकमात्र उपाय यही है कि व्यापार, कृषि शिल्पादि कला अभियान्त्रिकी तथा प्रयोगात्मक रसायनों में शुद्ध ढंग पर भरपूर शिक्षा का विकास किया जाय। शिक्षा को ऐसा क्रियात्मक रूप देने की आवश्यकता है, जिसकी माँग सदैव बनी रहे और इस माँग की उन्नति स्थिर चित्त होकर की जाय। सरकार तथा विश्वविद्यालयों को इस कार्य में सहयोग करना चाहिए कि वे नवयुवकों को उपयुक्त ढंग की शिक्षा दें और जीवन-निर्वाह की वृत्तियों का प्रबन्ध करें।''उनके अनुसार'' वर्तमान शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि बीस वर्ष की शिक्षा के बाद भी भारतीय नवयुवक अपना, अपने स्त्री-बच्चों तथा निर्धन माता-पिता के निर्वाह के लिए कुछ नही कर पाता। अत:

---

1 दर और सोमस्कंदन : हिस्ट्री ऑफ दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी, 1966 पृ0 51।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली जड़ से ही दोषयुक्त है और इसमें आमूल सुधार की आवश्यकता हैं, जो किसी व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। इसके लिए सामूहिक एवं राजकीय प्रयत्न होने चाहिए।[1]

महामना का आग्रह था कि सभी विद्यार्थियों को राष्ट्रीयता की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाय। इसके लिए उन्होनें मुख्यत: जापान का उदाहरण प्रस्तुत किया, जहाँ शिक्षा के एक आवश्यक अंग के रूप में राष्ट्रीयता की शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया है। उन्होनें बताया कि ''जापान में सन् 1868 में उनकी अपनी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का आरम्भ हुआ, जिसमें देशभक्ति की शिक्षा अनिवार्य थी।.... सन् 1890 में वहाँ शिक्षा के विषय में एक राजकीय आज्ञा द्वारा तत्काल सम्राट मिकाडों ने प्रजा को राजभक्ति पितृभक्ति, देशभक्ति तथा विद्या-प्रेम की शिक्षा देने की घोषणा की थी, जिसका फल यह हुआ कि देशभक्ति जापान का धर्म ही हो गया।''

मालवीय जी ने कृपि शिक्षा के बारे में अपना विचार रखते हुए सन् 1907 में प्रांतीय विधान परिषद में जापान का उदाहरण प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार ''उस समय जापान में 403 प्रारम्भिक कृषि स्कूल एवं 73 माध्यमिक कृषि - शिक्षा संस्थाएं थी, जिनमें मध्यम श्रेणी के भावी कृषकों को कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिक और व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी।'' उन्होंने टोकियों के कृषि कालेज की तरह भारत में भी कृषि अनुसंधान केन्द्र खोलने की आवश्यकता बताई और कहा-'' यदि जापान की तरह इस देश में भी वैज्ञानिक खेती के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाय तो भारतीय कृषक जापान, अमेरिका और यूरोप आदि के किसान की तरह बेहतर और अधिक प्रचुर फसल पैदा कर सकेगें और धरती की उपज बढ़ा पायेगें।[2] 22 फरवरी, 1927 को लार्ड लिनलिथगों की अध्यक्षता में गठित 'कृषि आयोग के समक्ष अपनी

---

1 दर और सोमस्कंदन : हिस्ट्री ऑफ दी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणसी, 1966

2 प्रोसिडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1907 कलकत्ता गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन ब्रांच 1907 पृ0 419।

गवाही में भी उन्होनें उपर्युक्त बात दुहराई थी।[1] और यह भी कहा था कि साधारण माध्यमिक शिक्षा विद्यालयों में भी खेती एक पाठ्य विषय हो, ताकि जब विद्यार्थी कालेज में प्रवेश करें, तब उन्हें खेती की अच्छी शिक्षा प्राप्त हो सके।[2] वे विश्वविद्यालय में उच्च-स्तरीय कृषि शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते थे। उनके अनुसार विश्वविद्यालय सर्वोत्तम उदीयमान विद्यार्थियों को आकर्षित करता है। विश्वविद्यालय ही विचारों के प्रसार तथा विद्यार्थी समाज में किसी विषय के लिए उत्साह पैदा करने का सर्वोत्तम केन्द्र है।[3] उनका सुझाव था कि कालेजों में पर्याप्त संख्या में स्नातक प्रशिक्षित किये जायँ और वे किसानों की सहायता से खोज के काम में लगाये जायँ।[4]

मालवीय जी ने कहा कि विश्वविद्यालय में दूसरे विद्वानों के सम्पर्क और सहयोग से ही कृषि - विज्ञान के विशेषज्ञ कृषि सम्बन्धी उच्च स्तरीय अनुसंधान ठीक ढंग से कर सकेंगे। उनका कहना था कि यदि पूसा इन्स्टीट्यूट किसी आवासीय विश्वविद्यालय में स्थापित किया गया होता तो अनुसंधान कार्य में उसकी सफलता और अधिक प्रशसनीय होती।[5] मालवीय जी चाहते थे कि वनस्पति विज्ञान, जीव-विज्ञान आदि विषयों के समान ही कृषि - विज्ञान का सम्मान हो। उनका मानना था कि यदि विद्यार्थी कृषि - विज्ञान का अध्ययन करें तो वे अपने जीवन में दूसरे बहुत से विषयों से उसे अधिक लाभदायक पायेगें।[6]

मालवीय जी ने औद्योगिक, व्यापारिक, शिल्प, सैनिक आदि शिक्षा पर भी अपना मत व्यक्त किया। 1909 के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन में उन्होनें औद्योगिक, यांत्रिक शिल्प शास्त्र आदि से सम्बन्धित शिक्षा पर व्यापक सुझाव प्रस्तुत किया था।

---

1 एग्रील्चर कमीशन रिपोर्ट जिल्द 7 पृ0 704-705।

2 एग्रील्चर कमीशन८रिपोर्ट जिल्द 7 पृ0 704 ,705, प्रश्न ।

3 एग्रील्चर कमीशन रिपोर्ट जिल्द 7 पृ0 702 ।

4 एग्रील्चर कमीशन रिपोर्ट जिल्द 7 पृ0 705।

5 एग्रील्चर कमीशन रिपोर्ट जिल्द 7 पृ0 702।

6 एग्रील्चर कमीशन रिपोर्ट. जिल्द 7 प्रश्न 732 पृ0 40, 33।

देश के औद्योगिक विकास की ओर सरकार क ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होनें सरकार से औद्योगिक शिक्षा के विस्तार तथा भारतीय उद्योगों के संरक्षण और प्रोत्साहन देने की अपील की। उन्होनें सरकार से अनुरोध किया कि प्रत्येक जिले, कम से कम प्रत्येक कमिश्नरी में ऐसी माध्यमिक स्तर की औद्योगिक शिक्षा-संस्थाएं खोली जाय जिनमें, बुनाई, रंगाई, धुनाई, वस्त्र- छपाई, लोहारी, बढ़ईगीरी, मीनाकारी आदि के शिक्षण और प्रशिक्षण का समुचित प्रबन्ध हो।[1] इसके अतिरिक्त उन्होनें प्रत्येक प्रांत में कम से कम उच्च-स्तरीय ।औद्योगिक शिक्षा महाविद्यालय खोलने की माँग की जिसमें औद्योगिक रसायन यांत्रिक इंजीनियरी, वस्त्रोत्पादन, चीनी परिष्करण आदि के शिक्षण प्रशिक्षण की व्यवस्था हो सके।[2]

मालवीय जी ने प्रबन्ध की शिक्षा को भी आवश्यक बताया। उन्होनें 60 प्रतिशत लघु उद्योगों एवं 40 प्रतिशत भारी उद्योगों के विस्तार को आवश्यक बताया, साथ ही देशी लघु उद्योगों को संरक्षण दिये जाने की माँग की, ताकि बेरोजगारी दूर करने में उससे सहायता मिल सके।[3]

मालवीय जी ने सनड्हर्स्ट कॉलेज के स्तर का एक उच्च स्तरीय सैनिक कॉलेज तथा कई सैनिक स्कूल खोले जाने की मांग सन् 1921 में सेनाध्यक्ष रालिन्सन की अध्यक्षता में गठित सरकारी समिति के समक्ष गवाही देते हुए की थी। सन् 1916 में इण्डियन डिफेन्स फोर्सबिल पर विधान परिषद में बोलते हुए उन्होनें कहा था - '' यह अजीब बात है कि सैनिक प्रशिक्षण के लिए भारत में स्थापित कॉलेज में भारतीयों को दाखिल ही न किया जाय।'' उन्होनें सेना के भारतीयकरण पर जोर देते हुए कहा कि सम्राट की भारतीय प्रजा को भी सेना में सम्राट का कमीशन अर्थात् ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त करने का अधिकार हो।[4]

---

1 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1907 पृ0 422-423 ।

2 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1907 पृ0 422-423।

3 प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौसिल (विधायिका) सन् 1907 पृ0 424-426।

4 राउण्ड टेबिल कांफेंस (सेकेंड सेशन) पृ0 988, लेजिस्लेटिव असेम्बली डिबेट्स 1928 जि0 2, पृ0 1656

सिविल सेवा प्रतियोगिता परीक्षा को भारत में आयोजित करने की माँग को लेकर सन् 1913 में लार्ड इसलिंगटन की अध्यक्षता में गठित लोक सेवा आयोग के समक्ष गवाही में मालवीय जी ने कहा था कि भारत में भी सिविल सर्विस में भर्ती के लिए परीक्षा का प्रबन्ध हो। उन्होनें कहा कि "भारतीयों का दावा न्याय पर आधारित है। वे न्याय के प्रार्थी हैं, अनुग्रह के नहीं। उन्होनें आयोग की समिति में अपना सुझाव रखा था कि परीक्षा के विषयों का चुनाव भारत की आवश्यकताओं कों देखकर किया जाय। ग्रीक और लैटिन साहित्य एवं रोमन और ग्रीक इतिहास के बजाय संस्कृत और अरबी तथा भारतीय इतिहास और कानून परीक्षा की विषय सूची में शामिल किये जाएँ।[1]

निष्कर्षत: मालवीय जी ने एक व्यक्ति से लेकर एक राष्ट्र तक के सर्वांगीण विकास का सूत्र प्रस्तुत किया है। उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार वर्तमान में अधिकतर प्रयुक्त हो रहे है-प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने की बात चल रही है। भारतीय संविधान का अनु0 (45) यह घोषित करता है कि संविधान लागू होने के दस साल के भीतर 14 वर्ष की आयु तक के विद्यार्थियों की शिक्षा अनिवार्य तथा नि:शुल्क होगी। सरकार ने इसके लिए प्रयास आरम्भ कर दिया है। मालवीय जी के विचारों के आधार पर कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना हो रही है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कृषि विज्ञान के लिए संस्थान की व्यवस्था की गयी है। औद्योगिक शिक्षा का भारत में व्यापक प्रसार हो रहा है। सैनिक शिक्षा का प्रबन्ध भी प्रशंसनीय है। अत: मालवीय जी के शिक्षा पर विचार वर्तमान समाज के लिए भी उतने ही प्रासंगिक है जितने तत्कालीन समाज के लिए थे।

* * * * *
* * *
*

1 इस्लिंगटन पब्लिक सर्विस कमीशन रिपोर्ट, जिल्द 5, (संयुक्त प्रांत की गवाहियां)।

अध्याय - ३

राष्ट्रवाद की अवधारणा एवं महामना मदन मोहन मालवीय: एक विश्लेषण।

राष्ट्रवाद की अवधारणा एवं महामना पं0 मदन मोहन मालवीय : एक विश्लेषण

राजनीति विज्ञान में राष्ट्रवाद की परिभाषा के सम्बन्ध में मत-विभिन्नता की स्थिति पायी जाती है लेकिन वर्तमान काल में विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि 'राष्ट्रवाद एक मानसिक पृवत्ति या भावना है। किस्टोफर लॉयड ने इसे वर्तमान समय का धर्म कहा है ।[1] जिस प्रकार प्राचीन समय में धर्म में अगाध श्रद्धा रखी जाती थी, मनुष्य उसे अपने जीवन में सर्वोच्च महत्व देते हुए उसके प्रति पूरी निष्ठा रखते थे, उसके लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने में अपना तन, मन, धन तथा सर्वस्च समर्पण करने के लिए तैयार रहते थे, उसी प्रकार आज राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखी जाती है और इसके नाम पर लड़े जाने वाले युद्धों में नागरिक उच्चतम बलिदान करने में संकोच नहीं करते है।

यद्यपि राष्ट्रवाद प्राचीनकाल से ही किसी न किसी रूप में सदैव विद्यमान रहा है, लेकिन राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का जो स्वरूप वर्तमान में दृष्टव्य है उसका उदय उस आधुनिक युग में हुआ, जिसका सूत्रपात विद्वान इटली के पुनर्जागरण जर्मनी के सुधार आन्दोलन तथा फ्रांस की राज्य क्रांति से हुआ मानते है। फ्रांस के राजा लुई सोलहवें के भागने पर यह कहा जाना कि ''राजा भाग गया तो भाग जाने दो, फ्रांसीसी राष्ट्र तो विद्यमान हैं,'' निश्चय ही इस बात का परिचायक था कि राजनीतिक संगठन का वास्तविक आधार राजा न होकर राष्ट्रीय एकता है। किसी व्यक्ति समूह को राजनीतिक एकता में बांधने के लिए राष्ट्रवादी प्रवृत्ति की आवश्यकता है, न कि राजा के प्रति भक्तिभाव की। फ्रांस की राज्य क्रांति से प्रारम्भ होकर राष्ट्रवादी विचार धारा निरन्तर जोर पकड़ती गयी। धीरे-धीरे इस बात

---

[1] सी,लायड: डेमोक्रेसी एण्ड इट्स रिवाल्स, पृ0 4 ।

को व्यापक समर्थन मिला कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व प्राप्त करने व उसे बनाए रखने का अधिकार है। परतंत्र राष्ट्रों के लिए यह स्वाभाविक अधिकार की वस्तु बन गयी कि वे अपने स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व के लिए आवाज उठाएँ।

राष्ट्रवाद के विकास में वे ही तत्व सहायक होते है जिनके द्वारा राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्र- निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है, जैसे - भौगोलिक एकता, नस्ल की एकता, सामान्य ऐतिहासिक अतीत, सांस्कृतिक एकता, राजनीतिक एकता, धार्मिक एकता, विजय - पराजय की भावना व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा, शोषण और उसका विरोध आदि तत्व राष्ट्रवाद के विकास में सहायक रहे है।[1]

सामान्य तौर पर ये वे तत्व है, जो राष्ट्रवाद के विकास के लिए उत्तरदायी है, परंतु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि केवल इन्हीं तत्वों के द्वारा राष्ट्रवाद का आविर्भाव हुआ है। इसी कारण हेज[2] ने यह स्वीकार किया है कि ''राष्ट्रवाद के प्रादुर्भाव, उसके विकास व उसके महत्व के निश्चित कारणों के विषय में कुछ निश्चित नही कहा जा सकता''। वस्ततु: भिन्न-भिन्न परिस्थितियँा तथा भिन्न-भिन्न काल व देशों में भिन्न-भिन्न कारणों ने राष्ट्रवादी भावना के प्रोत्साहन में योग दिया है। इसी प्रकार राष्ट्रवाद की कोई सर्वमान्य विचारधारा भी नहीं है, विभिन्न विचारधाराओं को मानने वालों ने इस पर विभिन्न दृष्टि कोणों से विचार किया है। इस कारण राष्ट्रवाद के अनेक स्वस्थ विकसित हो गये है जिनमें रूढ़िवादी, उदारवादी, एकाधिकारवादी, जनवादी तथा मार्क्सवादी आदि दृष्टि कोण महत्वपूर्ण हैं।

रूढ़िवादी दृष्टिकोण के अनुसार राष्ट्रवाद का जो रूप माना गया है, उसें जो कुछ परम्परागत है, उसके प्रति निष्ठा के नाम पर निहित स्वार्थो की रक्षा करने का प्रयत्न निहित है। उदारवादी दृष्टिकोण के अनुसार राष्ट्रवाद का जो रूप माना गया है

---

[1] मेरियटः यूरोप एण्ड वियाण्ड पृ0 8।
2. हेजः एसेज ऑन नेशनलिज्म, पृ0 1 –8।

वह व्यवहार में वर्गीय राष्ट्रवाद बन जाता है, क्योंकि वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाम पर सुविधा सम्पन्न वर्ग द्वारा ऐस राष्ट्र में सर्वे-सर्वा बनकर जनसाधारण का शोषण करना स्वाभाविक है। एकाधिकारी दृष्टिकोण के अनुसार राष्ट्रवाद के जिस रूप का प्रतिपादन किया जाता है, उसे राष्ट्रवाद के नाम पर व्यक्ति को बलिदान व राष्ट्र की उन्नति के नाम पर अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जाता सकता । इसी प्रकार मार्क्सवादी दृष्टिकोण के राष्ट्रवाद के विषय में यह कहा जात सकता है कि वर्गविहीन समाज वाले राष्ट्र की स्थापना के नाम पर एक वर्ग का विनाश करके दूसरे वर्ग की सत्ता की स्थापना करने के सिवा राष्ट्रवाद और कुछ नहीं है। जनवादी दृष्टिकोण जो अधिक प्रासंगिक लगता है, राष्ट्र के सभी लोगों को राष्ट्र - निर्माता मानता है। वह सामाजिक असमानता पर आधारित समाज व्यवस्था का पक्षयाती ने होकर राजनीति, आर्थिक व सामाजिक समानता, व्यक्ति स्वातंत्र्य, लोक सम्प्रभुता तथा राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकारों व विश्व बन्धुत्व का समर्थन करता है।

राष्ट्रवाद की उपरोक्त विचारधाराओं से प्रभावित होने के बावजूद भी भारतीय राष्ट्रवाद एक अलग स्वरूप प्रस्तुत करता है जिसे समझने के लिए उसकी पश्चिमी राष्ट्रवाद से तुलना करना विचारणीय होगा। जिस प्रकार पुनर्जागरण तथा धर्मसुधार के कारण मध्ययुग के पश्चिमी सार्वभौमिकता के आदर्श का ह्रास हुआ तथा जिसने पश्चिमी राष्ट्रवाद के उदय के लिए वौद्धिक आधार का काम किया, उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों में स्वायत्त तथा आत्म-निर्णय पर आधारित राजनीतिक जीवन का निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न की। यूरोपीय राष्ट्रवाद की झलक पारसील्सुस, बेकन और मोंटेन की रचनाओं में मिलती है, यह मूलतः बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक था। भारतीय राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्रो में हुई बाद में इसने राजनीतिक स्वरूप प्राप्त किया। यूरोपीय राष्ट्रवाद ने ईश्वर के स्थान पर व्यक्ति को अपने चिन्तन का

केन्द्र माना, व्यक्ति को उसने उच्च परिस्थिति तथा गरिमा के पद पर प्रतिष्ठित किया। इसने ब्रह्माण्ड विधा की समस्याओं के सन्दर्भ में भी नये दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। किन्तु भारतीय दृष्टिकोण नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं से प्रेरित है।

दोनों ही राष्ट्रवाद (पश्चिमी और भारतीय राष्ट्रवाद) अपने यहाँ के पुनजार्गरण के शिशु हैं। पश्चिमी पुनर्जागरण में पेट्रार्क तथा बोकेशियों ने मनुष्य को महत्वपूर्ण स्थान देकर जटिल मानवीय अस्तित्व के अभिप्राय की व्याख्या की एवं इरास्मस ने मानवतावादी दृष्टिकोण का निरूपण इसके विपरीप भारतीय पुनर्जागरण में अतीत को पुनर्जीवित करने की प्रवृत्ति अधिक बलवती थी। भारतीय पुनर्जागरण के नेताओं ने वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों के आधार पर वर्तमान जीवन को ढालने की बात की। वे उन लोगों की निन्दा करते थे, जो मिल, स्पेंसर, डार्विन आदि से प्रभावित होकर राष्ट्र-प्रेम रहित तथा आध्यात्मिकता के विरोधी हो गये थे। अतीत को पुनर्जीवित करने की यह भावना आक्रामक तथा अहंकारपूर्ण विदेशी सभ्यता की महान चुनौती के विरूद्ध प्रतिक्रिया थी। नये भारत का उदय पश्चिमी यांत्रिकता तथा भारतीय आध्यात्मिकता के संघर्ष से ही हुआ था।[1] जहाँ पश्चिमी राष्ट्रवाद मुख्यतः भौतिकवाद और धर्म -निरपेक्षतावाद पर आधारित है। अपने देश के लोगों का अधिकतम मात्रा में सुख-सम्वर्द्धन करना इसका लक्ष्य हे। वहीं भारतीय राष्ट्रवाद समग्र उन्नति का पोषक है। अभ्युदय की यह कदापि उपेक्षा नहीं कर सकता। यह आत्मिक कल्याण और निदिध्यासन का समर्थक है। यह राष्ट्र के विकास के लिए भी किसी प्रकार के अनैतिक साधनों का प्रयोग विहित नहीं मानता।

---

[1] जे एन, फार्कुहारः माडर्न रिलिजियस मुवमेन्ट इन इण्डिया न्यूयार्क मैकमिलन एण्ड कं0 1918 पृ0 430 – 444 तथा अल्वर्ट श्वाइट्जर इण्डियन थाट एण्ड इट्स डेवलेपमेन्ट लन्दन जे. एम0 डेन्ट एड स–स. 1911 पृ0 209।

पश्चिमी राष्ट्रवाद प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का समर्थक रहा है। भारतीय राष्ट्रवाद मानव की समानता में विश्वास करता है। यह विश्व-वंधुत्व की बात करता है। इसका लक्ष्य है -मानवमात्र के साथ एकात्मकता, राष्ट्रस्थ मनुष्यों के साथ एकात्मकता और उनमें एक प्रशस्त नैष्ठिक अनुरक्ति।

पश्चिमी राष्ट्रवाद का दार्शनिक आधार भौतिकवाद और जड़वाद है। जर्मनी और इटली के उग्र - राष्ट्रवाद में अंशत: अविवेकवाद और भावनावाद की प्रधानता थी। भारतीय राष्ट्रवाद भावना और बुद्धि के समन्वय और समीकरण का सन्देश है। यहां जड़वाद के स्थान पर आत्मवाद को मानव - असमानता के स्थान पर मानव समानता को और निरे अविवेकवाद के स्थान पर बुद्धिवाद और भावनावाद के समन्वय को महत्व प्रदान किया गया है।

भारत में राष्ट्रवाद की कियाशील भावना की प्रधानता है। स्वामी रामतीर्थ ने इसको समझाते हुए बताया था कि - दरिद्र, भूखे हिस्दुस्तानी, हिन्दू को नारायण का साक्षात् जीवित रूप समझा जाय।[1] दरिद्र पवित्र दैवी - विभूति है। जातियों के कठोर नियम शिथिल हों, उग्र वर्ग-भेद राष्ट्रीय मातृ भावना के अधीन रहे।[2] राष्ट्रवाद की माँग है कि ''जनता में प्रेम और एकता उत्पन्न हो।[3]

भारतीय राष्ट्रवाद तत्वत: एक मानसिक और आध्यात्मिक प्रत्यय है। भारत में बंकिमचन्द्र चटर्जी स्वामी विवेकानन्द बालगंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, विपिन चन्द्र पाल और गांधी जी ने राष्ट्रवाद के इस आध्यात्मिक तत्व को महत्व दिया है । उसके विपरीत पश्चिमी विचारधारो से प्रभावित दादाभाई नौरोजी,फिरोजशाह मेहता और गोखले ने राष्ट्रवाद की धर्म - निरपेक्ष धारणा का पोषण किया है। भारत में

---

[2] इन बुड्स ऑफ गाड–रीमलाइजेशन, लखनऊ, रामतीर्थ पब्लिकेशन लांग, 1946, जि0 7 पृ0 12।
3 वही, पृ0 131।
[3] पूरन सिंह 'द स्टोरी ऑफ स्वामी राम लखनऊ, रामतीर्थ पब्लिकेशन पृ0 239।

राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक स्वरूप की ही प्रधानता है। यहॉ पर राष्ट्र के अवयवी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। अध्यात्मिक तथा नैतिक अवयवी के रूप में राष्ट्र अपने अटल ऐतिहासिक स्मृतियों तथा भावी उद्देश्यों की चिरस्थायी अविच्छिन्नता में व्यक्त होता है।[1] इसे विपिन चन्द्र पाल ने ''यौगिक राष्ट्रवाद''[2] कहा है तथा उसे व्यक्त करते हुए बताया है '' यह नया भारत हिन्दू नहीं है, यद्यपि हिन्दू इसके मूल तथा प्रमुख वंशधर हैं, यह मुस्लिम भी नहीं है, यद्यपि उनकी इसको महत्वपूर्ण देन है, और न यह ब्रिटिश है, यद्यपि इस समय वे इसके राजनीतिक स्वामी है- बल्कि वह उस मूल्यावान तथा विविध प्रकार की सामग्री से बना है, जो विश्व की तीन बड़ी सभ्यताओं ने उसे उसके विकास की क्रमिक अवस्थाओं में प्रदान किया है और जिसका प्रतिनिधित्व वर्तमान भारतीय समाज के तीन बड़े अंग करते हैं।[3]

श्री अरविन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद के स्वरूप को व्यक्त करते हुए कहा था कि ''राष्ट्रवाद राष्ट्र में निहित दैवी एकता का साक्षात्कार करने की उत्कृष्ट अभिलाषा है। इस एकता के अंतर्गत राष्ट्र के सभी अवयवभूत व्यक्ति वास्तव में तथा बुनियादी तौर पर एक और समान है चाहे अपने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यों में वे कितने ही भिन्न तथा असमान क्यों न प्रतीत होते हों। भारत राष्ट्रवाद का जो आदर्श विश्व के समक्ष रखने जा रहा है, उसके अंतर्गत व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच तात्विक समानता होगी। जैसा कि तिलक ने कहा है, वे सब भिन्न होते हुए भी समान और राष्ट्र में साक्षात्कृत विराट पुरूष के संयुक्त अंग होगें। हम स्वेच्छाचारी शासन के इसलिये विरूद्ध है, कि वह राजनीति के क्षेत्र में इस तात्विक समानता का निषेध करता है। हम जाति प्रथा की आधुनिक विकृति

---

[1] लाइफ एण्ड यूटरे न्स ऑफ बी.सी पाल मद्रास गणेश एण्ड कं. पृ0 138–521 यहा श्री विपिन चन्द्र पाल ने यह बताया है कि भारतीय राष्ट्र वाद का विचार मुगल साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ विकसित हुआ।

[2] बी.सी.पालः रिसपान्सिबुल गवर्ममेण्ट कलकत्ता बनर्जी दास एण्ड कं. नं0 1917,पृ0 12–13।

[3] लाइफ एण्ड यूटरेन्स ऑफ बी.सी. पाल, वही पृ0 1511 श्री पाल ने यह कहा कि भारत एक संघात्मक राष्ट्र होगा।

को बुरा मानते हैं, क्योंकि उससे समाज में तात्विक समानता के उसी सिद्धान्त का निषेध होता है। हमारा आग्रह है कि राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्र का लोकतात्रिक एकता के आधार पर पुनर्संगठन किया जाय, साथ ही साथ हम यह भी चाहते है, कि सामाजिक क्षेत्र में भी पुनर्संगठन का वही सिद्धान्त अपनाया जाय। यदि जैसी कि हमारे विरोधियों की कल्पना हैं, हम इस सिद्धान्त को केवल राजनीति तक ही सीमित रखना चाहें तो हमारे सारे प्रयत्न विफल होंगे, क्योंकि जो सिद्धान्त एक बार राजनीति के क्षेत्र में साक्षात्कृत कर लिया गया है, वह सामाजिक क्षेत्र में भी अपने को क्रियान्वित किये बिना नहीं रह सकता।[1]

इस प्रकार जहॉ पश्चिमी राष्ट्रवाद का रूप कोरा राजनीतिक तथा आर्थिक था, भारतीय राष्ट्रवाद सामाजिक और राजनीतिक विकास का प्रतीक है।

महामना पं0 मदन मोहन मालवीय भी इसी भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करते थे। मालवीय जी हिन्दू राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को मानते थे। वे राष्ट्रवाद की किसी ऐसी धारणा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, जो हिन्दू धर्म के नैतिक के सिद्धान्त के प्रतिकूल हो। अर्थात् महामना 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को स्वीकारने के पक्ष में थे, किन्तु उनकी भावना संर्कीर्णा नहीं थी, अली अन्धुओं ने भी उनके उदार राजनीतिक विचारों की प्रशंसा की है। मालवीय जी के अनुसार, "सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद की आवश्यकता थी, कि जनता के सभी वर्गो के कल्याण ओर हितों का सम्बर्द्धन किया जाय। वे कहा करते थे कि सब सम्प्रदाय के लोगों को एक महान राष्ट्र के रूप में संयुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि देशभक्ति तथा भाईचारे की भावनाओं का परिवर्द्धन किया जाय।[2]

डा0 राजबली पाण्डेय ने लिखा है - महामना मालवीय जी आधुनिक भारत के निर्माताओं में प्रमुख थे किन्तु उनकी राष्ट्रीयता राजनीति तक सीमित नहीं थी। वे

---

[1] बन्दे मातरम्, सितम्बर, 22, 1907।

[2] स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ पं0 मदन मोहन मालवीय मद्रास जी.ए. नटेसन एण्ड कम्पनी, 1919 पृ0 – 119।

राष्ट्र और राज्य को जीवन के उच्चतम मूल्यों की प्राप्ति का माध्यम मानते थे और उनका यह विश्वास था कि उन मूल्यों की उपलब्धि के बिना राष्ट्र और राज्य शीलवान और स्थायी नहीं हो सकता।''[1]

इसीलिए मालवीय जी हिन्दुत्व के समर्थक होने के बावजूद हिन्दू राष्ट्र का पक्षपोषण नहीं करते थे। वे किसी दलबंदी का समर्थन नहीं करते थे। वह जो कुछ करते उसमें देशभक्ति और सेवाभाव सर्वोपरि रहता था। उनका मनोभाव ऐसा था कि जब राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय विचारों को धक्का लग रहा हो, तब वह उसको बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।[2]

महामना के लिए राष्ट्र से बढ़कर दूसरा कुछ भी न था। वे देशभक्ति के अप्रतिम उदाहरण थे। महात्मा गांधी ने लिखा है - ''देश-सेवा ही मालवीय जी का भोजन है। वे इसे कभी नहीं छोड़ सकते । जिस तरह 'भगवत् गीता' का नित्य पाठ छोड़ना उनके लिए असम्भव है, उसी तरह देश-सेवा भी उनके जीवन में साँस की तरह ओत-प्रोत है। इसलिए जब तक उनके शरीर में साँस है तब तक देश-सेवा होती रहेगी, और कौन जानता है कि वे इसे अपने साथ स्वर्ग में भी ले जायँ।

मालवीय जी देश-सेवा के लिए सर्वस्व समर्पण की भावना रखते थे। राष्ट्र के उत्थान के लिए उनसे बढ़कर त्यागी कोई दूसरा न था। गोपाल कृष्ण गोखले ने उनके त्याग के बारे में बताया था-''त्याग तो मालवीय जी महाराज का है। वे निर्धन परिवार में उत्पन्न हुए और बढ़ते-बढ़ते प्रसिद्ध वकील होकर उस जमाने में सहस्रों रूपये मासिक कमाने लगे। उन्होंने वैभव का स्वाद लिया और जब दृश्य से मातृभूमि की सेवा की पुकार उठी तो उन्होंने सब कुछ त्याग कर पुनः निर्धनता स्वीकार कर ली।[3]

---

[1] सम्मेलन पत्रिका पृ0 49।
[2] पदम् कान्त मालवीयः मालवीय जी, जीवन झल किया दिल्ली नेशनल, 1962 पृ0 4– 10।
[3] विश्व ज्योति (मासिक) 'मालवीयांकः होश्यारपुर, पंजाब,जनवरी 1962।

मालवीय जी व्यापक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को मानते थे। उनका राष्ट्रवादी विचार विभिन्न मंचों एवं विभिन्न समयों पर दनकी गति, विधियों तथा उनके द्वारा व्यक्त विचारों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है जिनमें मुख्य है - राष्ट्र भाषा हिन्दी के विकास के लिए उनके द्वारा किये गये प्रयास, पंातीय विधान सभा, केन्द्रीय विधानसभा एवं विधानसभाओं के बाहर उनके द्वारा व्यक्त राजनीतिक विचार, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भागीदारिता इत्यादि।[1]

हिन्दी-राष्ट्रभाषा:

14 सितम्बर, सन् 1949 ई0 को हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा घोषित की गयी। जिस देवनागरी लिपि एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी का उल्लेख भारतीय संविधान के अनुच्छेद (343)में किया गया है उसके विकास में मालवीय जी द्वारा किया गया प्रयास अविस्मरणीय है। सन् 1884 में हिन्दी के विकास से सम्बद्ध प्रथम महत्वपूर्ण संस्था ''हिन्दी उद्धारिणी सभा'' की स्थापना हुई, मालवीय जी इसके सक्रिय और जागरूक सदस्य थे।

मालवीय जी ने अपनी वकालत के आरम्भिक समय में यह देखा कि सरकारी कार्यालयों में कामकाज की भाषा उर्दू, फारसी एवं अंग्रेजी है, जबकि इस देश की अधिकांश जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा हिन्दी का कोई स्थान नहीं है। इसी बीच काशी में 'नागरी - प्रचारिणी सभा' की स्थापना की गयी तथा उसका नेतृत्व मालवीय जी को सौप दिया गया, जिसे स्वीकार कर उन्होंने अपनी वकालत की प्रेक्टिस को रोककर तीन वर्षो के कठिन श्रम से उक्त आन्दोलन के पक्ष में आधारभूत आंकड़ों एवं प्रमाणों की छानबीन एवं संग्रह कर एक निबन्ध तैयार किया, जो ''कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजूकेशन इन नार्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज

---

[1] उमेश दत्त तिवारी, भारत भूषण महामना पं.0 मदन माहेन मालवीय., पृ0 70।

एण्ड अवध'' नाम से सन् 1893 ई0 में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से छपा। यह एक प्रकार से लघु 'शोध प्रबन्ध' था। इसके साथ मालवीय जी ने एक प्रार्थना पत्र संलग्नित कर सरकार के पास भेजा। इसमें उन्होंने आँकडों के आधार पर यह स्पष्ट किया कि संयुक्त प्रांत में प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या उर्दू पढ़ने वाले विद्यार्थियों से दुगुनी तिगुनी है। सन् 1895-96 में वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों में उर्दू पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या हिन्दी पढ़ने वालों से तिगुनी थी। इस भारी परिवर्तन का मूल कारण सरकार की सन् 1877 की वह आज्ञा है, जिसने सरकारी दफ्तरों में नौकरी के लिए उर्दू या फारसी में ऐंग्लो - वर्नाक्यूलर परीक्षा पास करना अनिवार्य कर दिया था ।''....... उर्दू लिपि के साथ-साथ नागरी लिपि का भी अदालतों में प्रयोग किया जाय। हिन्दी ही उत्तर भारत की भाषा है और नागरी अक्षरों का प्रचार पश्चिमोत्तर प्रान्त और अवध में शिक्षा प्रचार के लिए अत्यंत आवश्यक है।[1]

प्रार्थना पत्र के साथ 60 हजार नागरिकों के हस्ताक्षर से युक्त ज्ञापन गवर्नर के पास भेजा गया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

14 अप्रैल सन् 1900 ई0 को गवर्नर ने फारसी लिपि के साथ नागरी - लिपि के चलन की आज्ञा जारी कर दी। मालवीय जी के प्रयास से गवर्नर ने प्रांतीय सरकार की सन् 1877 की वह आज्ञा भी वापस ले ली, जिसके द्वारा सरकारी दफ्तरों में दस रूपये या उससे अधिक की नौकरी पाने के लिए उर्दू या फारसी में एंग्लो - वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास करना अनिवार्य बना दिया गया था।

मुसलमान इसका विरोध करने लगे, तब एक दिन मालवीय जी ने एक अरबी नजीर नागरी लिपि में लिखकर हाईकोर्ट में पढ़कर इस तरह से सुनाया कि मौलवी

---

1 सीताराम चतुर्वेदी: महामना पं0 मदन मोहन मालवीय, खण्ड 3, पृ0 80-106।

जामिन अला (एक मशहूर वकील) ने मुकदमा खत्म होने पर मालवीय जी से बरामदें में हाथ पकड़कर कहा कि '' पन्डित साहब '' आज में नागरी अक्षरों की उम्दगी का कायल हो गया लेकिन मै पब्लिक (जनता) में यह नहीं कहूँगा।[1]

मालवीय जी की अध्यक्षता में सन् 1910 में 'नागरी प्रचारिणी सभा' का सम्मेलन हुआ, जिसमें 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का उद्देश्य था - देशव्यापी व्यवहारों और कार्यो को सुलभ बनाने के लिए राष्ट्रलिपि देवनागरी एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रसार, हिन्दी को अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनाना, सरकारी प्रबन्धों, कार्यालयो कचहरियों आदि में उसके प्रवेश के लिए आन्दोलन करना, विश्वविद्यालयों में उसे उच्च शिक्षा का माध्यम बनाये जाने के लिए यत्न करना तथा हिन्दी में उच्चस्तरीय परीक्षा की व्यवस्था करना। इसके पॉ विभाग बनाये गये - प्रचार, संग्रह, साहित्य परीक्षा तथा पुरस्कार पारितोषिक ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए मालवीय जी ने जनता से हिन्दी सीखने, अंग्रेजी ग्रंथो के हिन्दी अनुवाद करने तथा सरल सहज भाषा के प्रयोग करने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि ''हिन्दी में फारसी - अरबी के बड़े-बड़े शब्दों का जैसा व्यवहार बुरा है, हिन्दी को अकारण ही संस्कृत के शब्दों से गूंथ देना भी बुरा है। हमारी भाषा के शब्द ऐसे हों जिनसे सब प्रदेश के लोग लाभ उठा सकें। ..... सब भाषाएं हमारी भाषाएं है, पर हिन्दी अपनी बहनों में सबसे प्राचीनतम और बड़ी बहन है और माता (संस्कृत) का रूप और उसकी प्राकृति उससे बहुत मिलती है। आप भी ऐसा यत्न करें,जिससे आपकी भाषा राष्ट्रभाषा न सके।''[1]

19 अप्रैल सन् 191 को बम्बई में आयोजित हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए मालवीय जी ने देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी भाषा को

---

[1] पं0 रामनरेश त्रिपाठी :तीस दिन मालवीय जी के साथ , पृ0 1994–96।
[1] प्रज्ञा, ही0ज0 अंक में प्रकाशित भाषण से उदघृत।

राष्ट्र भाषा'' की मान्यता प्रदान करने पर जोर दिया।[1] उन्होंने कहा कि ''हिन्दी भारत के अधिकांश प्रांतों में किसी न किसी रूप में प्रचलित है।[2] '' अन्य प्रान्तीय भाषाओ की अपेक्षा इसके बोलने वालों की संख्या कहीं अधिक है। इसी भाषा को 32 करोड़ भारतवासियों में साढ़े तेरह करोड़ लोग बोलते हैं।[3] उन्होंने बताया कि ''बंगाली, मराठी आदि बहुत सी भारतीय भाषाओं से हिन्दी का बहुत मेल है।[4] उन्होंने कहा कि ''मुसलमान भाइयों का हिन्दी को मानना कोई नवीन बात नहीं है। प्राचीन काल से मुसलमान कवि हिन्दी में कविता करते आये हैं। सम्राट अकबर तक ने हिन्दी से प्रेम दिखलाया है। वे स्वयं हिन्दी में बहुत अच्छी कविता करते थे।''[5]. उन्होंने कहा कि ''इसी तरह रहीम कवि ने अच्छी उपदेशप्रद कविता की है और मुबारक, जायसी, रसखान आदि अनेक मुसलमान सज्जनों ने हिन्दी को अपनी माँ की बोली समझकर उसकी सेवा की है।''[6] मालवीय जी ने कहा कि ''हिन्दी भाषा एक ऐसी सार्वजनिक भाषा है जिसे सब भेदभव छोड़कर प्रत्येक भारतीय स्वीकार कर सकता है।साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा के द्वासरा ही हो सकती है।[7] और जिस देश की जो भाषा है, उसी भाषा में वास्तव में उस देश के न्याय, कानून, राजकाज, कौंसिल आदि का कम होना चाहिए। जब राज्य प्रजा के अधीन होगा- तब हमको राजकाज ऐसी भाषा द्वारा करना होगा - जिसको बहुजन समाज समझता हो। मुट्ठी भर आदमी जिस भाषा को बोलते और समझते है, उसके द्वारा सारी प्रजा का कार्य नहीं किया जा सकता। प्रजा की सम्मति उसी भाषा में प्रकट होनी चाहिए, जिसे

---

[1] सीताराम चतुर्वेदी, खण्ड 2 पृ0 30 ।
[2] वही, पृ0 307।
[3] वही, पृ0 37।
[4] वही, पृ0 37।
[5] वही,पृ0 38।
[6] वही, पृ0 34।
[7] वही,पृ0 33।

वह समझाती है। उसका शासन उसी भाषा में होना चाहिए जिसको वह बोलती हो। इसीलिए हिन्दी को ही उच्च भाषा का भी माध्यम बनाया जाय।[1]

मालवीय जी का मन्तव्य यह नहीं था कि हिन्दी क्षेत्रीय भाषाओं को समाप्त कर आगे बढे बल्कि उन्होंने तो यह कहा कि ''हम यह नहीं कहते कि देश भर में एक ही भाषा रहे, अन्य प्रांतीय भाषाए न रहें। हर प्रांत में वहाँ की भाषा की उन्नति हो और इन सबके रहते हुए हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रयुक्त किया जाय। अभी तक जो काम अंग्रेजी द्वारा होता आया है, वह अब हिन्दी के द्वारा होना चाहिए।[2] मालवीय जी ने सभी भारतीयों से यह निवेदन किया कि ''सब भाई बहन राष्ट्र भाषा के गौरव को मानकर अपनीभाषा के साथ-साथ प्रत्येक बालक को हिन्दी का ज्ञान भी करावें।[3]

राष्ट्र भाषा के महत्व को रेखांकित करते हुए मालवीय जी ने कहा कि ''जब से भारतीयों में राष्ट्र को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न होने लगा तबसे इस बात की चिन्ता बहुत से देशभक्तों को हो गयी है कि राष्ट्रीय कार्यो और व्यवहार के लिए एक राष्ट्रीय भाषा मान ली जाय। अतः उन्होंने हिन्दी को 'राष्ट्र-भाषा' मान लिया है, क्योंकि वही देश के अधिक स्थानों में बोली और समझी जाती है। यह उद्योग सर्वथा सराहने योग्य है। किन्तु जिस रीति से आजकल भाषा का स्वरूप बदलने का प्रयत्न हो रहा है, वह मेरी राय में देश और समाज के लिए हिकारी नहीं होगा और हमारे धर्मिक और सांस्कृतिक भावों को इससे क्षति पहुँचने की आशंका है।[4] मालवीय जी को भय था कि लिपि में अनावश्यक संशोधन से साहित्य अजायबघर की समाग्री बन जायेगी।[5]

---

[1] वही, पृ0 34 – 35।
[2] वही, पृ0 34।
[3] वही, पृ0 38।
[4] वही, पृ0 83।
[5] वही, पृ0 83।

मालवीय जी हिन्दी को संकीर्ण भाषा नहीं बनाना चाहते थे बल्कि वे चाहते थे कि इसमें यथोचित अन्य भाषाओं के शब्दों को स्थान मिलना चाहिए। उन्होंने कहा था कि ''मुसलमानों के समय में बहुत से मुसलमानी शब्द हमारी भाषा में मिल गये, और अब वे हमारी भाषा के अंग है। इसी प्रकार अंग्रेजों के आने से कुछ अंग्रेजी भाषा के शब्द भी हमारी भाषा में मिल गये है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमारी भाषा उन शब्दों से बनी है या इनके कारण बनी है। हमारी भाषा उन्हीं शब्दों से बनी है, जो संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश बनकर हिन्दी की शोभा को बढ़ाते है। जीवित भाषाओं की यह स्वाभाविक गति है कि उनमें प्रयोजन के अनुसार दूसरी भाषा के शब्द मिला लिए जाते है। किन्तु उसका यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि हम अपने शब्दों को छोड़कर उनके स्थान पर दूसरी भाषा के शब्द ग्रहण करें। हमें केवल उन्हीं विदेशी शब्दों को ग्रहण करना चाहिए जिनसे हमारी भाषा की शक्ति बढ़े और भाव को स्पष्ट करने में सहायता मिले।''[1]

पं0 बलदेव जी उपाध्याय ने अपने संस्मरण में लिखा है कि '' भाषा तथा शैली के विषय में मालवीय जी सर्वदा सरल भाषा तथा सुबोध शैली का आग्रह करते थे । जैसा उनका भेष था अर्थात् निर्मल, उज्ज्वल और निश्कलंक वैसी ही उनकी भाषा भी विशुद्ध, सरस और सरल थी। सम्वत् 2000 में विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दि के अवसर पर 'अखिल भारतीय विक्रम परिषद' की स्थापना हुई। महाकवि कालिदास की सम्पूर्ण रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद करने की योजना बनायी गयी। अनुवाद की भाषा के विषय में महामना ने हम सबको स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं चाहता हूँ कि अनुवाद की भाषा इतनी सरल हो कि हिन्दी का साधारण पाठक भी उसे आसानी से समझ जाय। उसे सरस भी होना चाहिए, जिससे किसी को पढ़ने में विरक्ति न हो । वे अपने भाषण में भी सुबोध विधा

---

[1] वही ,पृ0 83 ।

का प्रयोग किया करते थे। तत्सम शब्दों में विशेष रूचि नहीं रखते थे, तद्‌भव शब्दों के विशेष हिमायती थे तथा विशेष पारखी भी। हिन्दी भाषण और लेख में वे अंग्रेजी शब्दों का पुट किसी भांति भी स्वीकार नहीं कर सकते थे।[1]

इस तरह मालवीय जी राष्ट्र की उन्नति एवं विकास के लिए राष्ट्र भाषा को आवश्यक मानते थे तथा इसके लिए हिन्दी को सर्वाधिक उपयुक्त भी मानते थे। वे हिन्दी को सरल तथा सुबोध बनाना चाहते थे, जिसमें अनावश्यक रूप से उर्दू फारसी या अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग न हो, लेकिन वे जहाँ आवश्यक हो हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोग को वांछनीय भी मानते थे।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति मालवीय जी के अनुराग से यह सिद्ध होता है कि वे पूरे राष्ट्र के लिए एक राष्ट्र भाषा को अनिवार्य मानते थे जिसके द्वारा एक राष्ट्र की जनता आपसी विचार - विनियम करती है। उनका मानना था कि बिना राष्ट्र-भाषा के देश का विकास सम्भव नहीं है। जब जापान, चीन, जर्मनी आदि देशों ने अपनी राष्ट्रभाषा के द्वारा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक ज्ञान का विकास किया है, तो भारत के पास भी अपनी एक राष्ट्र भाषा होनी चाहिए। राष्ट्र भाषा का समस्त गुण हिन्दी मे विद्यमान है। इसीलिए मालवीय जी ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा का दर्जा दिये जाने की माग की थी। यह उनके सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रतीक था।

विधान सभाओं में व्यक्त राष्ट्रवादी विचार

प्रांतीय विधान सभा में व्यक्त विचार

ब्रिटिश भारत की सरकार ने सन् 1892 के अधिनियम द्वारा विधायिका में भारतीय सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की। निर्वाचन व्यवस्था का लाभ उठाकर फिरोजशाह मेहता, गोखले आदि भारतीय नेता भारतीयों के पक्ष में अपनी बातें रखते

---

[1] महामना मालवीय जी, बर्थ सेनटिनरी कोमेमोरेशन वाल्यूम पृ0 216।

थे। मालवीय जी सन् 1902 में सयुक्त प्रांत की परिषद के सदस्य चुने गये तथा लगातार निर्वाचित होकर सन् 1912 तक वहाॅ कार्य करते रहे। उस समय प्रांतीय परिषद के सदस्यों को विधेयक प्रस्तुत करने के भी अवसर कम थे तथा बहस करने का अधिकर भी सीमित था फिर भी संयुक्त प्रांत की परिषद् में मालवीय जी ने जनता की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और माँगों को सरकार के सामने प्रस्तुत कर परिषद के सदस्य के अधिकारों का सर्वाधिक उपयोग किया।

संयुक्त प्रांत की परिषद में किसानों के ऊपर लगान के भार को कम करने की माँग करते हुए उन्होंने कहा कि नरम कर निर्धारण के आधार पर किसानों पर से लगान के भार को कम किया जाय। उसे पचीस-तीस प्रतिशत घटाया जाय और घटाये हुए लगान के आधार पर लगान और मालगुजारी का स्थायी बन्दोबस्त ही किसानों की समृद्धि का सबसे अच्छा उपाय है।[1]

मालवीय जी ने भारत के अकाल पर सरकार का ध्यान आकृष्ट करते हुए विभिन्न अकाल आयोगों की रिपोर्ट का हवाला दिया जिसमें सिंचाई द्वारा अकाल के प्रकोप को कम करने की बात की गयी थी। उन्होंने कहा कि ''अकाल को रोकने के लिए सिंचाई का समुचित प्रबन्ध सरकार का एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य है और यदि सरकार सिंचाई द्वारा अकाल का निराकरण नहीं करती तो हिन्दुस्तान में अंग्रेज भले ही अराजकता के स्थान पर शांति स्थापित कर दें, समान न्याय फैला दें और अज्ञान दूर कर दें, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होने इस देश की जनता के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्य का पूरी तौर पर निर्वाह किया है।[2]

मालवीय जी ने कृषि शिक्षा तथा औद्योगिक शिक्षा के विकास के लिए सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। इस के लिए उन्होंने जापान का उदाहरण दिया। औद्योगिक विकास के लिए मालवीय जी पुराने घरेलू उद्योगों का पुतरूत्थान तथा नये

[1] द आनरेबिल पं0 मदनमोहन मालवीय, हिज लाइफ एण्ड स्पीचेज, सेकेण्ड्री एडीशन मद्रास गणेश एण्ड कम्पनी 1978, पृ0 371–457।
[2] वही,पृ0 371–373।

बड़े-बड़े उद्योगो की स्थापना आवश्यक मानते थे। मालवीय जी ने रूस के वित्त मंत्री काउंट डिविटे का उद्धरण दिया कि ''उपभोग के क्षेत्र में राज्य जनता के लिए सस्ते और उपयुक्त माल मुहैया करें और उत्पादन के क्षेत्र में वह देश की उत्पादक शक्ति का विकास करें। देश की आर्थिक सम्पत्ति के विकास के लिए लाभदायक स्थितियां पैदा करके तथा इसी तरीके से धीरे-धीरे घरेलू होड़ प्रोत्साहित करके...... अपनी सीमाएं सारे संसार को खोलकर स्वच्छन्द व्यापार के द्वारा जनता को सस्ता माल मुहैया कराये । संरक्षण और मुक्त नीति का चयन समय की स्थिति पर निर्भर होता है।'' मालवीय जी ने यह माँग की कि संयुक्त प्रांत में चीनी के उद्योग को संरक्षण प्रदान किया जाय।[1]

प्रांतीय विधानसभा में मालवीय जी ने अज्ञानता में फँसी, निर्धनता से दबी, अस्वास्थ्यकर परिवेश में रहने वाली तथा रोगों से त्रस्त जनता की दयनीय दशा की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करते हुए उसको सुधारने के लिए आवश्यक प्रयत्न करने की प्रार्थना की।[2] उन्होंने गरीबी के निवारण के लिए शिक्षा के प्रसार की सरकार से मॉग की। उन्हें यह दु:ख था कि स्वास्थ्य-रक्षा का अच्छा प्रबन्ध न होने के कारण लाखों लोग अपनी बौद्धिक शक्ति का विकास ठीक प्रकार से नहीं कर पाते। उन्होंने बहुत ही संतप्त हृदय से कहा कि ''जबकि ग्रेट बिटेन में प्रतिवर्ष मृत्यु संख्या 16 प्रति हजार है वहीं भारत में यह संख्या 35 प्रति हजार और संयुक्त प्रांत में तो और भी अधिक 44 प्रति हजार है।[3] उन्होंने सरकार से यह मॉग की कि वह स्वास्थ्य रक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए उसका समुचित प्रबन्ध को । वे चाहते थे कि इंग्लैण्ड की तरह यहाँ भी कानून द्वारा गंदगी से नदियों के जल की रक्षा की जाय, नगरों की गन्दगी को नदियों में न डाला जाय।[4] सन्

[1] वही, पृ0 415–426।
[2] वही, पृ0 394।
[3] वही, पृ0 398।
[4] वही ,पृ0 350–351।

1908 में उन्होंने कहा कि "सामाजिक स्वास्थ्य विज्ञान के एक विद्वान ने कहा है कि जहाँ अग्नि का भय अधिक हो, वहाँ अंसख्य चिनगारियों के बुझाने से समाज की इतनी सेवा नहीं होती, जितना मकान का बुद्धिसंगत निर्माण और उसका प्रस्तुत परिस्थितियों से अनुकूलन करने की क्षमता से।"[1] उसी तरह अकाल और महामारी की स्थितियों में जनता की सहायता करते रहने से कहीं अच्छा यही है कि सरकार अपनी शक्तियों और साधनों को जनता की शक्ति के निर्माण में, उसके मस्तिष्क को ज्ञान से प्रदीप्त करने में, उसके घरों के स्वास्थ्य परिवेश के सुधार में तथा अपनी आमदनी को बढ़ाने के नये स्रोत्रों को अपनाने की क्षमता प्राप्त करने में इस तरह प्रयोग करें कि वह अकाल और रोगों का आज से कही अधिक अच्छी तरह स्वयं मुकाबला कर सके।[2]

सरकार की प्रशासकीय नीतियों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि "बेगार ब्रिटिश शासन पर कलंक है, उसे फौरन खत्म कर देना चाहिए।" उन्होंने सार्वजनिक धन के अपव्यय पर असंतोष व्यक्त किया तथा कहा कि "हिन्दुस्तान की मौजूदा आर्थिक स्थिति में जहाँ एक भारतीय नियुक्त किया जा सकता है वहाँ यूरोपियन नियुक्त करना पाप है।"[3] सचिवालयों के उच्च पदों पर योग्य भारतीयों की बजाय भारत में रहने वाले यूरोपियनों को नियुक्त करना भारतीय नवयुवकों के साथ अन्याय है।[4] उन्होंने कहा कि "यदि सरकार केवल प्रजाति, देश, धर्म और रंग के कारण यूरोपियनों या यूरेशियनों को भारतीयों पर तहजीह देती है, तो वह अपने अधिकारों का दुरूपयोग करती है।[5]

मालवीय जी ने सरकार की वित्तीय नीति एवं प्रक्रिया की आलोचना करते हुए सरकार से यह माँग की कि बजट को अंतिम रूप से स्वीकार करने से पहले,

---

[1] वही, पृ0 475–476।
[2] वही,, पृ0 476।
[3] वही,, पृ0 474।
[4] वही ,पृ0 359–363।
[5] वही ,पृ0 475।

उसका प्रारूप परिषद के सामने रखा जाय, ताकि गैर-सरकारी सदस्यों के सुझावों के संदर्भ में सरकार उसे संशोधित कर सके।[1] उन्होंने कहा कि '' वित्त व्यवस्था केवल अंकगणित नहीं है। वित्त व्यवस्था एक बड़ी नीति है। निर्दोष वित्त व्यवस्था के बिना निर्दोष शासन सम्भव नहीं है।[2] महामना ने संयुक्त प्रांत की सरकार से यह माँग की कि सरकार संयुक्त प्रांत के अंशदान और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ऐसी वित्तनीति अपनाये जिससे जनता के लिए एक बड़ी सभ्य सरकार की प्रजा की तरह रहना और फलना-फूलना संभव हो।''[3]

विधानसभा में बहस और जनता की अपेक्षाओं के प्रति आदर की भावना के बारे में श्री सी0वाई0 चिन्तामणि ने बताया कि - केन्द्रीय विधानसभा में सर फिरोजशाह मेहता और गोपालकृष्ण गोखले, बंगाल परिषद में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बोस, मद्रास में विजय राघवाचार्य और सुबाराव पन्तलू, बम्बई में चिमन लाल सीतलवाड़ और गोकुल दास पारख और संयुक्त प्रांत में पं0 मदन मोहन मालवीय ने अपनी संसदीय क्षमता का तथा उत्तरदायित्व की भावना का जो परिचय दिया उसने मार्ले-मिन्टो सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया।[4]

केन्द्रीय विधान सभा में व्यक्त विचार-

प्रांतीय विधान परिषद में अपने उत्तरदायित्व का समुचित निर्वहन कर मालवीय जी सन् 1910 में केन्द्रीय कौंसिल के सदस्य निर्वाचित हुए और लगातार 1920 तक वे निर्वाचित होकर वहाँ कार्य करते रहे। इस काल में परिषद में निर्वाचित सदस्यों की संख्या मनोनीत सदस्यों से कम थी। अलग-अलग हितों के अलग अलग प्रतिनिधि थे तथा वे अधिकांशतः सरकार का समर्थन करते थे। फिर भी गोखले, मालवीय जी और अन्य कुछ दूसरे सदस्य तत्परता, भद्रता और दृढ़ता के साथ

---

[1] वही, पृ0 450।
[2] वही ,पृ0 390।
[3] वही ,पृ0 390–391।
[4] सी0वाई0 चिन्तामणिः इण्डियन पॉलिटिक्स मिन्स म्युटिनी, लन्दन, जार्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1940, पृ0 45–46।

जनता के हित के लिए सरकार के कार्यो की समीक्षा करते रहते थे। गोखले और मालनीय जी की कर्त्त्व्यपरायणता तो निःसंदेह बहुत प्रशंसनीय थी। दोनों ही संसदीय भद्रता तथा नियमों का पालन करते हुए सभी सार्वजनिक प्रश्नों पर विवेकशीलता के साथ सदैव शिष्ट भाषा में अपने विचार और सुझाव परिषद के समक्ष प्रस्तुत करते तथा प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार की और जनहित की वृद्धि की सरकार से माँग करते थे वे रचनात्मक आलोचना करते थे। तथा उनके विचारों का लक्ष्य राष्ट्र का सर्वागीण। विकास था।

मालवीय जी ने सरकार की सैनिक, प्रशाासनिक, आर्थिक और वित्तीय नीतियों तथा कार्यो की समीक्षा करते हुए सरकार से सैनिक और प्रशासनिक खर्चे घटाने की माँग की, जिससे जनहित के कार्यो के लिए अधिक धन मिल सके। गरीबों पर कर का भार कम पड़े, इस प्रकार की वित्तीय नीतियों के निर्माण की वे माँग करते थे। उन्होंने सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि 25-30 वर्षो के अन्दर सरकार का खर्च दुगुना हो गया है, जिसे कम करना आवश्यक है।[1] वे सरकार से बार-बार मॉग करते रहते थे कि सैनिक प्रशासनिक और अनुपादक खर्चो को कम कर शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य रक्षा तथा उद्योगों एवं देश के संसाधनों के सम्वर्द्धन में अधिक धन खर्च किया जाय।[2] बड़ी-बड़ी योजनाओं और भवनों पर अधिक खर्च हो जाने से जनहित के कार्यो में बाधा पड़ती थी, इसलिए मालवीय जी चाहते थे कि लोक निर्माण विभाग की तरह वृहद योजनाओं का खर्च चालू खाते की बजाय पूंजी खाते से किया जाय। उन्होंने कहा कि ''जब किसी कार्य या सेवा से मौजूदा पीढ़ी के साथ-साथ आगामी पीढ़ी को भी लाभ पहुँचता हो, तब

---

[1] प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौंसिल (विधायिका), 1911, कलकत्ता, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन, ब्रान्च जि0 49, पृ0 200-201।

[2] वहीं, सन् 1914, जि0 52, पृ0 718-723 एवं 1031-1032।

उसका भार भी दोनों को बाँटना चाहिए।''[1] इसीलिए वे वृहद निर्माण कार्य के खर्चो को पूंजी खाते में डालना न्यायसंगत मानते थे।[2]

मालवीय जी ने सरकार की कर नीति की समीक्षा करते हुए कहा कि ''क्रमिक आयकर सर्वाधिक न्यायसंगत है''[3] क्योंकि इससे गरीबों पर कर का बोझ हलका पड़ता है और समृद्धिशाली लोग कर का अधिक भार वहन करते हैं।[4] उन्होंने बताया कि ''यह तो स्वयंसिद्ध है कि जो व्यक्ति शासन से सबसे अधिक लाभ उठाता है उसे उसके संभरण के लिए अपनी आय के अनुपात में सर्वाधिक अंशदान करना चाहिए।[5] मालवीय जी कहते थे कि शुल्क नीति का लक्ष्य देशज उद्योगों की रक्षा और विकास होना चाहिए। उन्होंने कहा कि ''किसी देश के लिए हर समय और प्रत्येक परिस्थिति में न संरक्षण और न स्वच्छन्द व्यापार ही लाभदायक होता है।[6] ''बदलती परिस्थितियों के अनुसार प्रत्येक विकासशील राष्ट्र को आयात नीति में आवश्यक हेर-फेर करनी पड़ती है। आज की परिस्थितियों में भारत के देशी उद्योगों के हित में संरक्षण आयात - शुल्क लगाना अनिवार्य है।[7] देशज उद्योगों के संरक्षण में आयात शुल्क लगाने से कीमतों के बढ़ने से हुई हानि को उपभोक्ताओं को कुछ काल के लिए सहन करना चाहिए ताकि देशज उद्योगों की उन्नति हो सके।''[8] इसलिए उन्होंने सरकार से प्रार्थना की कि राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखते हुए विदेशी चीनी पर आयात शुल्क बढ़ा दिया जाय।[9]

मालवीय जी चाहते थे कि भारत के औद्योगिक विकास के निमित्त स्वच्छन्द व्यापार नीति का त्याग किया जाय तथा सकारात्मक औद्योगिक नीति का अनुसरण

---

[1] वहीं ,,मार्च, सन् 1912, जि0 50, पृ0 418–419।
[2] वहीं, मार्च, सन् 1917, जि0 55, पृ0 212–214।
[3] वही,, मार्च सन् 1916 जि0 54, पृ0 241।
[4] वही, ,मार्च सन् 1916 जि0 54, पृ0 242, पृ0 547।
[5] वही,, मार्च सन् 1916 जि0 54, पृ0 241–242।
[6] वही,, सन् 1911,जि0 49,पृ0 418।
[7] वही,, जि0 49, पृ0 419।
[8] वही, जि0 49, पृ0 421।
[9] वही,, जि0 49, पृ0 421।

किया जाय। उन्होंने सरकार से यह माँग की कि वह देश के औद्योगीकरण पर समुचित ध्यान दें।[1] उनको कहना था कि ''हमें उद्योग धन्धों में यथा सम्भव स्वतंत्र होने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और उस समय तक स्वतंत्र नहीं होना चाहिये, जब तक हम वे सब चीजें तैयार न कर सके जिनकी हमें जरूरत है और जिनको तैयार करने के लिए आवश्यक संसाधन देश में मौजूद है।[2] वे चाहते थे कि सरकार एक स्टेट बैंक खोले, जिसके द्वारा देशी उद्योगों को चलाने में सरकारी कोष का प्रयोग हो।[3] वे चाहते थे कि सरकार रेलों का प्रबन्ध अपने हाथ में लें।[4] जिस प्रकार सरकार कुछ रेलों का प्रबन्ध करती है, वैसे ही वह समस्त रेलों का प्रबन्ध करें।[5] उन्होंने सरकारी प्रबन्ध को कम्पनी की तुलना में अधिक श्रेयस्कर कर बताते हुए इसके लिए अनेक कारण गिनाये।[6]

मालवीय जी ने किसानों के पक्ष में अपनी दलील दी।[7] समाज सुधार के समर्थक होते हुए भी उन्होंने सन् 1912 में 'विशेष विवाह विधेयक' का विरोध किया।[8] उनका यह विरोध सनातनी परामपराओं पर आधारित था, किन्तु उन्होंने अन्य अवसरों पर देवदासी प्रथा का विरोध किया, वैश्याओं द्वारा लड़कियों का गोद लेने का विरोध किया, पत्नियों के हस्तांतरण का विरोध किया तथा इसी प्रकार अन्य समाज सुधार कानूनों का समर्थन किया।[9]

केन्द्रीय विधान सभा में मालवीय जी ने शिक्षा के विकास पर सर्वाधिक जोर दिया।[10] साथ ही प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि

---

[1] वही,, सन् 1915, जि0 53, पृ0 400।
[2] वही,, सन् 1915, जि0 53, पृ0 400।
[3] वही,,सन् 1919, जि0 58, पृ0 437।
[4] वही, ,सन् 1918, जि0 56, पृ0 1096।
[5] वही,, सन् 1918, जि0 56, पृ0 1096।
[6] वही,, सन् 1918, जि0 56, पृ0 1098।
[7] वही,, सन् 1914, जि0 52, पृ0 603।
[8] वही,, सन् 1912, जि0 50, पृ0 170—175।
[9] वही,, सन् 1912, जि0 51, पृ0 90।
[10] वही,, सन् 1917, जि0 55, पृ0 463—466, सन् 1918, जि0 56,पृ0 910—911, सन् 1914, जि0 52,पृ0 1032, सन् 1911,जि0 49, पृ0 468—469,सन् 1912,जि0 50,पृ0 604—608।

''भारतीय कुली - प्रथा का अन्त करने के लिए शीघ्र से शीघ्र आवश्यक उपाय काम में लाये जायें।'' कुली प्रथा की समाप्ति के लिए उन्होंने विस्तार से विवरण दिया तथा कहा कि जिस प्रथा को सुधारा नहीं जा सकता उसे समाप्त कर देना ही श्रेयष्कर है।[1]

प्रेस की स्वतंन्त्रता पर बल :

मालवीय जी प्रेस की स्वतंत्रता के लिए 'सदैव प्रयत्नशील रहते थे। वे प्रेस पर सरकार द्वारा लगाये गये किसी भी प्रतिबन्ध का डटकर विरोध करते थे। उन्होंने स्वयं 'अभ्युदय' 'हिन्दुस्तान, 'इण्डियन ओपीनियन' 'लीडर', 'भारत', 'मर्यादा', 'सनातन धर्म' आदि अनेक पत्रों का सम्पादन किया। उनके पत्रों को भी सरकार जब्त कर लेती थी।सन् 1910 में मालवीय जी ने प्रेस विधयेक का विरोध करते हुए कहा था कि ''केवल चार दिन की सूचना के बाद जल्दी में विधयेक पास करना अनुचित है। जिन संस्थाओं ने इसके विरोध में तार भेजे हैं, उन्हें विस्तार के साथ अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर मिलना ही चाहिए।[2] उन्होंने बताया कि प्रेस विधेयक की जरूरत नहीं है और सरकार प्रचलित फौजदारी दण्डविधान द्वारा राजद्रोहात्मक लेखों के विरूद्ध समाचार पत्रों के खिलाफ उचित कार्यवाही कर सकती है। उन्होंने कहा कि ''वैसे भारतीय समाचार पत्रों का व्यवहार काफी संतुलित रहा है। अगर समाचार पत्रों ने कभी कटु वचनों का प्रयोग किया भी होगा तो इसके लिए सरकारी कर्मचारियों एवं वायसराय के व्यवहार तथा उनके द्वारा भारतीयों की मानहानि करने सम्बन्धी व्यवहार उत्तरदायी है।[3] उन्होंने कहा कि ''देश के करीब आठ सौ समाचार पत्रों में से केवल छः पत्रों द्वारा किसी एक अपराध को दुहराने से यह सिद्ध नही होता कि वर्तमान व्यवस्था में राजद्रोह को या राजद्रोह फैलाने के प्रयत्न को सजा देने का कोई प्रबन्ध नहीं है.... और उसे दबाने के लिए सब

---

[1] वही,, सन्1916, जि0 54, पृ0 369–405,तथा सन् 1912, जि0 50,पृ0 379–382।
[2] वही,, फरवरी सन् 1910, जि0 48, पृ0 122–123।
[3] वही, , सन् 1910, जि0 48, पृ0 130।

समाचार पत्रों की स्वतंत्रता का अपहरण करना उन पर विशेष प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है।''[1] सभी नये समाचार पत्रों को जमानत देने के लिए वाध्य करना किसी भी प्रकार न्यायसंगत नहीं है। अपराध करने से पहले ही नये समाचार पत्रों के सभी भावी सम्पादकों और संचालकों को राजद्रोही मानकर उनसे भविष्य में सद्व्यवहार के लिए जमानत तलब करना कैसे न्यायोचित समझा जा सकता है।[2] उन्होंने कहा कि जनता के मन में इस बात का भ्रम पैदा हो गया है कि न्याययुक्त आलोचना का अधिकार, जिससे जनता का हर प्रकार का लाभ ही है, उससे छीना जा रहा है और इसलिए यदि यह विधेयक पास हो गया तो देश में एक नये असन्तोष का प्रसार होगा।[3] इसलिए मालवीय जी ने सरकार से यह अनुरोध किया कि वह इस विधेयक को वापस ले ले और यदि यह सम्भव न हो तो पुनः विचार के लिए इसे स्थगित कर दिया जाय।[4]

गोखले साहब इस विधेयक का विरोध न करने का वायदा कर चुके थे, इसलिए उन्होंने इसमें कुछ संशोधन पेश किया, जो पास न हो सका इस पर समाचार पत्रों ने गोखले और प्रेस कानून की कड़ी आलोचना की तथा मालवीय जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मालवीय जी को यह बात बुरी लगी। उन्होंने बड़े संतप्त हृदय से मुंशी ईश्वर शरण से कहा-''गोखले कायर हें, मै बहादुर-यह कहा जा रहा हैं, कितने परिताप की और हृदय विदारक बात है।[5]

दमनकारी कानूनों का विरोध:

सन् 1910 में ही मालवीय जी ने 'विद्रोह सभा विधयेक' का विरोध किया।[6] और जब सन् 1911 में दूसरा 'विद्रोह सभा विधयेक' परिषद में प्रस्तावित किया

---

[1] वही, , सन् 1910, जि0 48, पृ0 129।
[2] वही, ,फरवरी सन् 1910, जि0 48, पृ0 132।
[3] वही, ,फरवरी सन् 1910, जि0 48, पृ0 131–133।
[4] वही, ,पृ0 131–132।
[5] पद्मकान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियां, पृ0 23–24।
[6] प्रोसीडिंग गवर्नर जनरल की कौंसिल (विधायिका) 1911,, जि0 49, पृ0 57–62, तथा पृ0 550–551।

गया तब भी उन्होंने इसे अनावश्यक, मूलरूप से दमनकारी बताते हुए इसका विरोध किया।[1] लेकिन सरकार ने इस विधेयक को मनोनीत सदस्यों के बल पर पास करा लिया।

1915 के 'भारत के रक्षा विधेयक' का विरोध करते हुए उन्होंने बताया कि इस विधयेक की धारा 3 और 6 के अधीन साधारण अपराध पर भी मौत, काला पानी आदि की सजा दी जा सकती है। उन्होंने सरकार से यह कहा कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश से कम स्तर का कोई व्यक्ति न्यायाधिकरण का न्यायाधीश न बनाया जाय तथा उसे मौत की सजा देने का अधिकार न हो।[2]

सन् 1919 में महामना ने **रौलट कानून** का विरोध किया और जब सरकार ने गैर-सरकारी मनोनीत सदस्यों की मदद से उसे पास करा लिया तब उन्होंने अन्य तीन सदस्यों के साथ परिषद से इस्तीफा दे दिया। मतदाताओं का विश्वास हासिल कर वे पुनः परिषद में आये तथा ओडायर और डायर के अत्याचारों के लिए भारत तथा पंजाब की सरकार की उन्होंने खूब भर्त्सना की। उन्होंने घटनाओं की जॉच के लिए शाही आयोग की माँग की तथा वायसराय चेम्सफोर्ड से इस्तीफे की माँग की। उन्होंने 'क्षमा विधयेक' का जबरदस्त विरोध किया।[3]

राजनीतिक सुधारों की माँग :

मालवीय जी ने विधायिका को प्रयोग राजनीति सुधारों की माँग के लिए भी किया। उन्होंने 1911 में ही केन्द्रीय विधानसभा में सरकार से यह माँग की कि वह गैर-सरकारी और सरकारी सदस्यों की एक समिति नियुक्त कर यह पता लगाये कि ''सम्राट की प्रजा के विभिन्न वर्गों के साथ व्यवहार में असमानता के कारण तथा परिषदों में चुनाव चाहने वाले उम्मीदवारों के चयन पर लगायी गयी कतिपय

---

[1] वही,, सन् 1911, जि0 49, पृ0 551–559।
[2] वही,, सन् 1915, जि053, पृ0 492–512।
[3] वही,, सन् 1919, जि058, पृ0 58–79, तथा 278–320।

अयोग्यताओं और प्रतिबन्धों के कारण जो न्यायसंगत शिकायतें हैं, उन्हें दूर करने के लिए तथा प्रांतीय परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत की व्यवस्था को व्यवहार में अधिक प्रभवशाली बनाने के लिए भारतीय परिषद कानून सन् 1909 के अंतर्गत बने अधिनियमों में क्या परिवर्तन किये जायें।''[1] इसी प्रस्ताव पर आगे बोलते हुए मालवीय जी ने विशेष हितों और साम्प्रदायिक हितों के आधार पर तथा राजनीतिक महत्व के आधार पर पृथक् प्रतिनिधित्व व्यवस्था को समाप्त करने की वकालत की।[2]

मालवीय जी ने परिषद में अनेक संवैधानिक और प्रशासनिक विषयों की चर्चा की । सन् 1911 में उन्होंने श्री सच्चिदानन्द सिन्हा के इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि संयुक्त प्रांत में कार्यकारी परिषद गठित की जाय।[3] 1913 में उन्होंने इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि न्यायालयों को प्रशासनिक अधिकारियों से अगल रखा जाय, ताकि देश में शुद्ध न्याय-व्यवस्था प्रतिष्ठित हो सके और जनता को निष्पक्ष न्याय मिल सके।[4] उन्होंने 1914 में भारत मंत्री की परिषद के किसी एक सदस्य द्वारा भारत की वित्त-नीति के निरीक्षण का अधिकार दिये जाने का विरोध किया तथा यह माँग की कि भारत-मंत्री की परिषद के नौ सदस्यों में से तीन सदस्य भारत की केन्द्रीय और प्रांतीय विधान परिषद के गैर सरकारी सदस्यों द्वारा निर्वाचित हों, तीन सदस्य, वे अधिकारी हों, जिन्होंने भारत में कम से कम दस वर्ष सेवा की हो और तीन सदस्य ऐसे योग्य सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हों, जिनका भारत सरकार से कोई सम्बन्ध न हो। इस परिषद की तीन उपं-समितियां हों, जिसमें से प्रत्येक में एक सदस्य भारतीय हो।[5] 1916 में 'इण्डियन डिफेन्स फोर्स बिल' तथा बजट पर विचार करते हुए उन्होंने फौज के सभी पदों पर भारतीयों की नियुक्ति योग्यता के

---

[1] वही, जनवरी, सन् 1911, जि0 49, पृ0 133।
[2] वही,, पृ0 133–139।
[3] वही,, पृ0, 160–161।
[4] वही,, सन् 1913, जि051, पृ0 390–392।
[5] वही,, सन् 1914, जि052, पृ0 1029।

आधार पर करने की माँग की तथा यह आश्चर्य व्यक्त किया कि भारत में स्थापित सैन्य प्रशिक्षण कालेजों में भारतीयों को ही दाखिला नहीं दिया जाता।[1] इसी वर्ष मालवीय जी के प्रयासों से राजनीतिक सुधारों के लिए 'कांग्रेस लीग योजना' नाम से एक ज्ञापन तैयार किया गया। सन् 1917 में मालवीय जी ने डॉ0 तेजबहादुर सप्रू के इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि संयुक्त प्रांत में लेफ्टिनेंट गर्वनर के बजाय गवर्नर नियुक्त किया जाय और उसकी कार्यकारी परिषद में भारतीय सदस्यों की संख्या दूसरे सदस्यों के बराबर हो।[2] सन् 1917 में ही मालवीय जी ने माँग की कि ''युद्ध के बाद इस प्रकार के राजनीतिक सुधारों की आवश्यकता है, जिनसे वर्तमान और भविष्य में भारत के हितों की रक्षा हा सके जिससे जनता की कामना पूरी हो सके और वह अपने देश के शासन-प्रबंध में उचित भागीदारी कर सके। मालवीय जी ने भारत के लिए आर्थिक स्वतंत्रता की माँग की, जिसमें भारत-मंत्री के स्थान पर विधान परिषद को यह निर्णय करने की स्वतंत्रता हो कि कौन से कर लगाये जायें और उनसे प्राप्त धन को किस प्रकार व्यय किया जाय। उन्होंने आशा व्यक्त की कि युद्ध के बाद भारत सरकार का दफ्तर इग्लैंड से हटाकर भारत में ही पूर्ण रूप से स्थापित किया जायेगा।[3]

राजनीतिक सुधारों के बारे में पं0 मोतीलाल नेहरू के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए मालवीय जी ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की पुष्टि की तथा माँग की कि भारतीयों को अपने लिए संविधान बनाने तथा अपनी समस्याओं को सुलझाने का अवसर मिलना चाहिए। ली आयोग की संस्तुतियों पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि एक तो आयोग की कार्यप्रणाली ही गलत है। क्योंकि बन्द कमरे में गुप्त रूप से सरकारी अफसरों की गवाही लेना और फिर उसे प्रकाशित भी न करना किसी तरह ठीक नहीं समझा जा सकता। उन्होंने कहा कि जब तक सिविल सेवा में भार्ती

---

[1] वही,, सन् 1916, जि055, पृ0 343–414।
[2] वही,,सन् 1917, जि055, पृ0 398–399।
[3] वही,, सन् 1917, जि055, पृ0 804–807।

ब्रिटिश में होनी बन्द नही होती, भारत में उत्तरदायी शासन की आशा नहीं की जा सकती। अतः आयोग की संस्तुतियां देश की संवैधानिक उन्नति में बाधक है और दोषपूर्ण संस्तुतियों को जनता के प्रतिनिधि किसी हालत में स्वीकार नहीं कर सकते।[1]

प्रथम विश्व युद्ध के समय सन् 1917 में सरकार ने यह निश्चय किया कि युद्ध के लिए भारत ब्रिटेन को 10 करोड़ पाउण्ड (डेढ़ अरब रूपये) की धनराशि युद्धकोष में दें। मालवीय जी ने इस पर विरोध व्यक्त करते हुए कहा कि ''यह बोझ अत्यधिक है। इसे चुकाने के लिए 30 साल तक 9 करोड़ रूपये वार्षिक के नये कर लगाने पड़ेगे। ब्रिटेन की तो बात ही क्या, यदि हम स्वशासित डोमिनियनों से आधे भी धनी और समृद्ध होते, तो हमने इस बोझ को प्रसन्नता पूर्वक वहन कर लिया होता, परन्तु दुर्भाग्य से भारत बहुत गरीब है, उसके साधन बहुत सीमित है। उसकी अनिवार्य घरेलू आवश्यकताएं बड़ी और बहुत जरूरी हैं।.... यह बजटीय प्रस्ताव हमें ऐसी स्थिति का मुकाबला करने पर मजबूर करेगा, जिसमें एक पीढ़ी के जीवन-काल तक तो बहुत आवश्यक किस्म के आन्तरिक सुधार भी बाधाग्रस्त हो जायेगें।[2] उक्तधन में से भारत सरकार ने नब्बे करोड़ रूपये का भुगतान कर्ज लेकर किया तथा शेष 60 करोड़ रूपये भारतीय जनता से बसूलने की कोशिश की। मालवीय जी ने सरकार से अनुरोध किया कि यह रकम गत वर्ष के युद्ध अनुदान से दी जाय, पर भारत सरकार ने मालवीय जी की यह बात न मानी और युद्ध का भार भारतीयों पर डाल दिया।

सामरिक नीति एवं मालवीय जी:

मालवीय जी ने केन्द्रीय विधानसभा में इंडियन टेरिटोरियल फोर्स और आक्जीलरी फोर्स के एकीकरण के प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा कि अब अंग्रेजों को भारतीयों के साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए। उन्होंने प्रश्न किया कि जब

---

[1] वही,, सन् 1924, जि0 4 भाग 4, पृ0 28,24–28,29।
[2] वही,, सन् 1917, जि055, पृ0 557।

हिन्दुस्तानी और अंग्रेज न्यायाधीश एक साथ बैठकर उच्च न्यायालय में मुकदमों का फैसला कर सकते है तो क्या कारण है कि केवल अंग्रेज न्यायाधीश ही आक्जलरी फोर्स का सदस्य हो सकता है?[1] उन्होंने माँग की कि देश के समस्त विद्यालयों में देशभक्ति की शिक्षा स्पष्ट रूप से दी जानी चाहिए तथा देश की रक्षा का भार भारतीयों का है, जिसे वे नागरिक सेना का गठन कर, उठा सकते है।[2] उन्होंने कहा कि एक नागरिक संस्थान गठित हो, जो हर जिले से होनहार नौजवानों को चुने, उन्हें उचित सैनिक शिक्षा दिये जाने का प्रबन्ध करे, उन्हें देशभक्ति की भावना से अनुप्राणित करे और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अपना जीवन तक अर्पण करने को तैयार करें।[3] उन्होंने यह भी माँग की कि उच्च स्तरीय आयोगों के पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के लिए तथा उनके प्रशिक्षण के लिए उच्च स्तरीय सैनिक विद्यालय खोले जायँ।[4] सन् 1928 में मालवीय जी ने यह माँग की कि आंतरिक सुरक्षा का भार भारतीय सैनिकों को सुपुर्द कर दिया जाय तथा आन्तरिक दंगों को शान्त करने के लिए अंग्रेज सैनिकों का प्रयोग न किया जाय, क्योंकि उससे अंग्रेजों और भारतीयों में कटुता पैदा होती है।[5] उन्होंने यह माँग भी की कि प्रतिवर्ष लगभग पाँच हजार ब्रिटिश सैनिक कम कर दिये जाय और धीरे-धीरे आंतरिक सुरक्षा के साथ-साथ वाह्य सुरक्षा का भार भी भारतीय सैनिकों के सुपुर्द कर दिया जाय।[6] उन्होंने माँ की कि सभी सम्प्रदाय और जाति के योग्य नवयुवकों को भारतीय सेना में भर्ती किया जाय क्योंकि जिस प्रकार बुद्धि किसी वर्ग विशेष की इजारेदारी नहीं है उसी प्रकार सैन्य भावना (शौर्य) भी किसी विशेष वर्ग की इजारेदारी नहीं है।[7]

---

[1] लेजिस्लेटिव असेम्बली की डिबेट सन् 1924, दिल्ली गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया प्रेस, 1924, जि0 4, भाग–1, पृ0 241।
[2] वही ,पृ0 242।
[3] वही ,पृ0 242।
[4] वही, ,सन् 1925, जि05, पार्ट–2, पृ0 1232–1237।
[5] वही,, सन् 1928, जि02,, पृ0 1658।
[6] वही,, सन् 1928, जि02,, पृ0 1663।
[7] वही,, सन् 1928, जि02,, पृ0 1005–1006।

मानवाधिकार :

मानवाधिकारों के प्रति मालवीय जी सदैव सचेत रहते थे। उन्होंने केन्द्रीय विधानसभा में भी माँग की कि जनता की मौलिक नागरिक और धार्मिक स्वतंत्रताओं को पुष्ट किया जाय और दमनकारी तरीकों से उनका अपहरण बन्द किया जाय। जाब्ता फौजदारी की दफा 144 द्वारा नागरिकों की शान्तिपूर्ण गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगाने की शासनिक प्रवृत्ति की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा कि ''उन्होंने स्वयं छः बार दफा 144 पर आघृत आज्ञा की अवहेलना करते हुए भाषण किया है परन्तु एक भी बार कही भी उसके कारण शान्ति भंग नहीं हुई।[1] उन्होंने कहा कि ''गोली चला देना किसी भी राज्य के लिए शर्म की बात है। सरकार को समझना चाहिए कि जिसके पास जितनी ही अधिक ताकत हो, उसकी उतनी ही अधिक जिम्मेदारी होती है।[2]

मालवीय जी ने 'स्पेशल लॉज रिपील बिल्', जिसे श्री विट्ठल भाई पटेल ने प्रस्तुत किया था, तथा सर हरि सिंह गौड़ द्वारा प्रस्तुत 'क्रिमिनल लॉ (अमेंडमेन्ट) एक्ट सन् 1908' की कतिपय धाराओं को रद्द करने के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा कि जो अधिनियम डकैतों और अराजकतावदियों के नियंत्रण के लिए बनाया गया था, उसका इस्तेमाल निरपराध लोगों के खिलाफ किया जा रहा है। जब इसका इस्तेमाल सावधनी, मर्यादा और ईमानदारी के साथ नहीं हो रहा है, तो उसे रद्द कर देना जरूरी है।[3] इसी वर्ष उन्होंने 'बंगाल आर्डिनेन्स कानून 1924' को रद्द करने के प्रस्ताव का समर्थन किया। सन् 1925 में उन्होंने 'बंगाल क्रिमिनल संशोधन (सप्लीमेन्टरी) बिल' का विरोध किया। उन्होंने कहा कि ''अध्यादेश को

---

[1] वही,, सन् 1924, जि0,4 भाग–3, पृ0 1941–1942।
[2] वही,, सन् 1924, जि06, भाग–1, पृ0 525–535।
[3] वही,, सन् 1924, जि04, भाग–5, पृ0 3535–3539।

पाँ वर्ष तक चालू रखना निन्दनीय है।'' क्योंकि जनता के प्रतिनिधियों ने उसे नकार दिया है।[1]

जब सरकार ने साम्यवादियों की गतिविधि पर रोक लगाने के लिए 'पब्लिक सेफ्टी बिल' केन्द्रीय विधानसभा से पारित कराना चाहा तो मालवीय जी ने इसका विरोध करते हुए इसे अनावश्यक तथा इसकी धाराओं को आपत्तिजनक बताते हुए कहा कि ''इस विधयेक द्वारा साम्यवाद के प्रसार को तथा उसकी ओर नवयुवकों के झुकाव को रोका नहीं जा सकता।[2] उन्होंने कहा कि '' सभी हड़तालें प्रारम्भ से अन्त तक गलत नहीं है।''[3] हड़तालों के समय भूखे मजदूरों के लिए विदेश से भेजी गयी सहायता को गैर-कानूनी घोषित करना अनुचित है। उन्होंने आस्ट्रलिया और कनाडा के कानूनों का उद्धरण देते हुए बताया कि यह कानून उससे मेल नहीं खाता। यहाँ तो इस कानून के लागू होने के बाद अभियुक्त को बिना किसी मुकदमें के, बिना सफाई का मौका दिये प्रशासनिक अधिकारी द्वारा निष्कासन का आदेश दिये जाने की व्यवस्था है। यह सर्वथा अन्याय है।[4] यहाँ उन्होंने अंतराष्ट्रीय कानून के प्रसिद्ध विद्वान प्रो0 ओपेनहाइमर को उद्घृत करते हुए कहा कि ''अंतर्राष्ट्रीय कानून का विचार है कि हमें दूसरे राज्यों की जनता के साथ उसी सम्य आधार पर व्यवहार करना चाहिए जिस पर हम अपनी जनता के साथ व्यवहार करते है।[5] उन्होंने बताया कि इस विधेयक का इसी आधार पर विरोध ''पाइनियर'' समाचार पत्र ने भी किया है।[6] उन्होंने हड़तालों को रोकने के लिए कठोर कानूनों को अनावश्यक बताया।[7] उन्होंने कहा कि हड़ताल को रोकने के लिए वित्तीय नीति

---

[1] वही,, सन् 1925, जि05, भाग–3, पृ0 2875–2877।
[2] वही,, सन् 1928, जि03, पृ0 8561।
[3] वही,, सन् 1929, जि01, पृ0 593।
[4] वही,, सन् 1928, जि03, पृ0 857–858, वही, सन् 1929, जि01, पृ0 588।
[5] वही,, सन् 1929, जि01, पृ0 5921।
[6] वही,, सन् 1929, जि01, पृ0 594।
[7] वही,, सन् 1929, जि01, पृ0 594।

की समीक्षा आवश्यक है। उसकी जगह पर सरकार अमानुषिक तरीके से हड़ताल बन्द करवाना चाहती है, यह सर्वथा अन्याय है।[1]

साम्यवाद पर मालवीय जी के विचार :

मालवीय जी ने कहा कि देश के नवयुवकों को साम्यवाद के प्रभाव में जाने से रोकने के लिए उनमें देशभक्ति की भावना भरनी होगी। यदि इन्हें अपने देश में स्वशासन का अधिकार नहीं मिलता, तो ये संसार में कहीं भी अपने साथी मनुष्यों द्वारा मनुष्यता के व्यवहार के पात्र नहीं होंगे।[2] उन्होंने कहा कि यदि सरकार सभी दलों से समर्थित राष्ट्रीय माँग को स्वीकार नहीं करेगी, तो नवयुवकों की उग्र भावना ब्रिटेन से भारत के पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद की तरफ उन्मुख होनी, जिसे हथियारों से नहीं दबाया जा सकता।[3]

मालवीय जी ने कहा कि वे भी साम्यवाद के कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करते, जैसे-[4] साम्यवाद का हिंसा और शक्ति द्वारा वैयक्तिक सम्पत्ति का अपहरण का सिद्धान्त ठीक नहीं है। कानून की उचित प्रक्रिया को छोड़कर किसी अन्य तरीके से कानूनी ढंग से उपार्जित सम्पत्ति के उपयोग में बाधा पहुँचाने का मालवीय जी ने विरोध किया। मालवीय जी ने साम्यवाद का विरोध करते हुए कहा कि ''साम्यवाद सत्य, न्याय, धर्म और प्राकृतिक नियम के विरूद्ध है।''[5]

परन्तु मालवीय जी ने साम्यवाद के कुछ सिद्धान्तों की प्रशंसा भी की।[6] जैसे ''समाज का निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि जो उसके लिए काम करें, वह पुरस्कृत किया जाय और उसे सुखी जीवन व्यतीत करने की सुविधा मिले, सब मनुष्य समान हैं, अगर सबको एक प्रकार की शिक्षा दी जाय, तो परिणाम भी एक

---

[1] वही,, सन् 1929, जि01, पृ0 598–602।
[2] वही,, सन् 1929, जि01, पृ0 604।
[3] वही,, सन् 1929, जि01, पृ0 604।
[4] वही, ,सन् 1929, जि01, पृ0 586–588।
[5] वही, ,सन् 1928, जि03, पृ0 852।
[6] वही, ,सन् 1929, जि01, पृ0 587।

जैसा होगा, केवल उसकी आकृति और अभिव्यक्ति ही एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से भेद दिखला पायेगी, 'जब तक मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार ईमानदारी से समाज के लिए काम करता है, तब तक उसे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का पुरस्कार भी मिलना चाहिए। मालवीय जी ने बताया कि ये सिद्धान्त भारतीय संस्कृति में निहित हैं तथा इनके आधार पर समाज का निर्माण आवश्यक और अनिवार्य है।

मालवीय जी ने द्वैध शासन का विरोध किया। उन्होंने कहा कि 'हस्तान्तरित विषयों के कार्यवाहक मंत्रियों की दशा उस धया जैसी है, जिस पर बच्चे की देखभाल, भरण-पोषण का उत्तरदायित्व हो, पर जिसके पास बच्चे को दूध पिलाने के पर्याप्त साधन भी न हों। उन्होंने कहा कि द्वैध शासन विफल हो गया है और उसी शीघ्र ही दफनाकर उसके स्थान पर अधिक स्वस्थ और निर्दोष व्यवस्था की स्थापना ही सरकार की मानमर्यादा और उपयोगिता तथा जनता के कल्याण के लिए लाभप्रद होगा।[1] उन्होंने सरकार की कर नीति शासन नीति तथा गतिवधि की आलोचना करते हुए कहा कि इस प्रकार की मिश्रित और निकम्मी सरकार किसी दूसरे देश में नहीं पायी जाती, जहाँ सरकार जनता के प्रतिनिधियों के विचारों की उपेक्षा और विधानसभा के निर्णयों की अवहेलना करते हुए अपनी मनमानी करती है। उन्होंने सरकार को जनता की नागरिक और धार्मिक स्वतंत्रता के अपहरण का दोषी ठहराया तथा माँग की कि सेना और गृह विभाग परिषद के भारतीय सदस्यों को सौंपे जायँ, तथा आंतरिक रक्षा के लिए नियुक्त अंग्रेजी सेना को हटाकर सैन्य खर्च कम किया जाय, प्रशासनिक व्यय तथा नमक कर कम किया जाय और उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए कदम बढ़ाया जाय।[2] मालवीय जी ने माँग की कि

---

[1] वही,, सन् 1924, जि04, पृ0 1915–1916।

[2] वही,, सन् 1924, जि04, पृ0 1916–1920।

केन्द्रीय विधानसभा को रियासतों के मामलों पर भी वचिार करने का अधिकार प्राप्त हो।[1]

वित्त विधेयक एवं औद्योगिक नीति का विरोध:

मालवीय जी ने वित्त विधेयक को सदैव नामंजूर करने का प्रयास किया, क्योंकि उनका कहना था कि जब करों द्वारा वसूले गये धन के व्यय को सुव्यवस्थित करने का हमें अधिकार नहीं है तो करो को लगाने का उत्तरदायित्व भी हम नहीं ले सकते।[2] उन्होंने माँग की कि नयी दिल्ली के निर्माण पर धन खर्च करने के स्थान पर गाँवों की दशा सुधारने तथा भारतीय जनता को औद्योगिक शिक्षा और शिल्प विज्ञान की शिक्षा देने में अधिक धन खर्च किया जाय उन्होनें कर प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा कि ''युद्ध के बाद भारी करारोपण उस समय बनाए रखना, जबकि उसकी जरूरत नहीं है जनता के प्रति अपराध है।''[3] उन्होंने बताया कि विश्व के अन्य देशों ने युद्ध के बाद करों में कमी कर दी है।[4]

मालवीय जी ने सरकार के आयात-शुल्क नीति का भारतीय हितों के आधार पर केन्द्रीय विधान सभा में विरोध किया। उन्होंने कहा कि ''सरकार की मुद्रानीति ने बम्बई के उद्योगों की दशा काफी बिगाड़ दी है, इस समय उन्हें 20 प्रतिशत सरंक्षण की जरूरत है।[5] उन्होंने कहा कि वादन्पता (बाउन्टी) का विष आगे चलकर भारी संकट उपस्थित कर देगा तथा बढ़ान्यता के बल पर लंकाशायर दूसरे देशों के व्यापार को धक्का देकर भारत के बाजार में छा जायेगा और बन्बई के उद्योग बहुत समय तक लंगाशायर का मुकाबला नहीं कर पायेंगे।[6] यही नहीं अधिमान के जरिये लंकाशायर भारत के बाजार पर कब्जा करने के बाद जब चाहेगा कपड़ों की

---

[1] वही,, सन् 1925, जि05पृ0 2369–2372।
[2] वही,, सन् 1927, जि03, पृ0 2727।
[3] वही,, सन् 1928, जि02, पृ0 1654।
[4] वही,, सन् 1930, जि03, पृ0 1334।
[5] वही,, सन् 1930, जि03, पृ0 2615।
[6] वही,, सन् 1930, जि03, पृ0 2621–2626।

कीमत बढ़ा देगा और तब हम उसे रोक नहीं पायेगें।[1] उन्होंने कहा कि अगर भारत कंगाल और विकृत हो जायेगा और देश में मन्दी आ जायेगी, तब बम्बई समद्ध नहीं हो सकता । उन्होंने कहा कि सरकार विषं की एक बड़ी बूंद के साथ हमें दूध का प्याला देना चाहती है मेरी आपसे विनती है कि आप उसे लेने से इन्कार कर दें और इस महान देश की जनता की हैसियत से अपने जन्म सिद्ध अधिकार के रूप में विशुद्ध और निर्मल दूध का प्याला लेने का आग्रह करें।[2] मालवीय जी ने कहा कि वे स्वयं देश के हित के लिए सब कुछ बलिदान करने को तैयार है। यहाँ तक कि जिस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए उन्होंने दिन-रात मेहनत की थी उसके बलिदान के लिए भी वे तैयार थे। उन्होंने कहा कि ''एक हिन्दू विश्वविद्यालय क्या यदि सौ हिन्दू विश्वविद्यालयों का बलिदान करना भी आवश्यक होगा तो मैं आशा करता हूँ कि ईश्वर मुझे शक्ति प्रदान करेगा कि मैं बिना हिचक के उन्हें बलिदान कर दू और अपने देश के हित का बलिदान न करूँ।[3]

मालवीय जी ने कहा कि भारत सरकार का व्यवहार और उसकी धमकी उद्घोषित वित्तीय स्वतंत्रता का अपंहरण करती है, इसलिए सरकार उस घोषणा का आदर करना अपना कर्तव्य समझ निर्वाचित सदस्यों के निर्णय को स्वीकार करें और सरकारी सदस्य विधेयक पर वोट न करें। ऐसा न होने पर मालवीय जी ने कहा कि जब सरकार ने सरकारी सदस्यों के वोट से प्रस्ताव को पास कराने का निश्चय कर लिया है, तब मेरी पार्टी का सदन में रहना व्यर्थ है। इस विधेयक में अब और भाग लेना पाप होगा। यह कहकर वे और उनकी पार्टी के सदस्य सदन छोड़कर चले गये।[4] कुछ दिन बाद मालवीय जी ने विधान सभा की सदस्यता से भी इस्तीफा दे दिया। अपने नौ पृष्ठ के त्यागपत्र में उन्होंने विस्तार के साथ सरकार

[1] वही,, सन् 1930, जि02, पृ0 1747।
[2] वही,, सन् 1930, जि02, पृ0 2627।
[3] वही,, सन् 1930, जि03, पृ0 2626।
[4] वही,, सन् 1930, जि03, पृ0 2717।

की प्रशासनिक, सैनिक, आर्थिक और वित्तीय नीति की समीक्षा की। इसके बाद श्री विट्ठल भाई पटेल ने भी विधानसभा की अध्यक्षता और सदस्यता से इस्तीफा दे दिया।

मालवीय ने प्रांतीय और केन्द्रीय विधानसभा का भारतीय हितों की वृद्धि में सर्वाधिक उपयोग किया। सन् 1917 में भारत मंत्री मांटेग्यू ने अपनी 'इंडियन डायरी' में लिखा था कि ''पंडित मदन मोहन मालवीय परिषद के सबसे अधिक क्रियाशील राजनीतिज्ञ हैं।[1] यद्यपि बहुत से ब्रिटिश अधिकारी मालवीय जी को 'घास में छिपे साप' संज्ञा देते थे, परन्तु वे उनसे मतभेद रखते हुए भी उनके 'धवल चरित्र और राजनीतिक ईमानदारी' पर विश्वास करते थे। वे कहते थे कि मालवीय जी को न डराया जा सकता है और न खरीदा जा सकता है।[2] यह मालवीय जी ने राष्ट्रवाद का एक उदाहरण है। मालवीय जी राष्ट्र के हित के सामने किसी भी दबाव को मानने को तैयार न थे। उन्होंने विधान सभाओं का प्रयोग अपने राष्ट्रवादी विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए किया और जब उन्हें लगा कि राष्ट्रवाद का विकास विधानसभाओं के द्वारा नहीं हो सकता, तो उन्होंने उसका बहिस्कार कर दिया। उनके लिए राष्ट्र से बढ़कर दूसरा कुछ न था। सरकारी पदों की उन्होंने कभी इच्छा नहीं की तथा सदैव भारतीय राष्ट्र के उत्थान के लिए ब्रिटिश सरकार की गलत नीति का विरोध करते रहते थे। वस्तुतः मालवीय जी ऐसे राष्ट्रवादी थे, जिन्होनें सरकारी संस्थाओं का प्रयोग भी राष्ट्रवाद के विकास के लिए किया।

[1] प्रो0 मुकुट बिहारी लाल :महामना मदन मोहन मालवीयः जीवन और नेतृत्व, पृ0 215।
[2] वही., पृ0 214।

कांग्रेस के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भागीदारी:

महामना के राजनीतिक कार्यो का पहला खुला सार्वजनिक मंच 'कांग्रेस' था। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध तक वे कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता रहे। भारतीय स्वातंत्रा आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले इस मंच का पहला अधिवेशन श्री व्योमेश चन्द्र बनर्जी की अध्यक्षता में दिसम्बर, 1885 में बम्बई के गोकुल दास तेजपाल संस्कृत महाविद्यालय में सम्पन्न हुआ था। मालवीय जी कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन (कलकत्ता, 1886) में सम्मिलित हुए। आपने प्रवेश करते ही अपने नेतृत्व के गुणों को स्पष्ट कर दिया था। मालवीय जी ने 'प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना' विषय पर ऐसा भाषण दिया जिसकी प्रशंसा सारे प्रतिनिधियों सहित कांग्रेस के जनक ए0 ओ0 ह्यूम ने भी की थी। ह्यूम साहब ने लिखा- "जिस वक्तृता को जनता ने बड़े उत्साह के साथ सुना, वह पं० मदन मोहन मालवीय की वक्तृता थी, जिन्होंने अचानक सभापति के बराबर वाली कुर्सी पर कूदकर ऐसा जोरदार और धाराप्रवाह व्याख्यान दिया कि सभी दंग रह गये ।[1]

दिसम्बर 1887 में कांग्रेस के तीसरे मद्रास अधिवेशन की सफलता का श्रेय मालवीय जी को ही जाता है, क्योंकि अधिवेशन में सर्वाधिक प्रतिनिधि मालवीय जी के साथ 'संयुक्त प्रांत' से ही गये थे। इस लगन और उत्साह को देखकर ह्यूम साहब ने मालवीय जी को संयुक्त प्रांत का नेता मनोनीत किया तथा कांग्रेस समिति का स्थाई सदस्य बना दिया। मालवीय जी ही प्रारम्भिक 20 वर्ष तक संयुक्त प्रांत में कांग्रेस को लोकप्रिय बनाये रखे।[2] मालवीय जी कांग्रेस के चार बार अध्यक्ष चुने गये- 1909 में लाहौर, 1918 में दिल्ली, 1930 में पुनः दिल्ली तथा 1932 में कलकत्ता अधिवेशन के लिए। 1930 और 1932 का अधिवेशन सरकार द्वारा प्रतिबन्धित होने के कारण हो नहीं सका था।

---

[1] आनरेबुल पं0 मदन मोहन मालवीयः हिज लाइफ एण्ड स्पीचेज, पृ0 6–7।

[2] सी0 वाई0 चिन्तामणि : इण्डियन पालिटिक्स सिन्स म्यूअिनी, लन्दन, जार्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1940,पृ0 74।

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कांग्रेस के प्रति मालवीय जी के योगदान के बारे में बताया कि – "जब-जब कांग्रेस दिक्कत में पड़ी मालवीय जी आगे आये। पुराने और नये लोगों में मालवीय जी एक पुल का काम करते थे। कांग्रेस के लोग चाहे उनके साथ कितना भी मतभेद क्यों न रखते हों, किन्तु उनकी इज्जत किये बिना, उनकी श्रद्धा रखें बिना उनके प्रति प्रेम रखें बिना, नहीं रह सकते थे।[1]

मालवीय जी यद्यपि नरमदलीय नेताओं में गिने जाते थे, परन्तु गरमदलीय नेताओं के प्रति भी वे सद्भावना रखते थे। जीवन शंकर याज्ञिक ने 1907 के कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के अपने संस्मरण में लिखा है –

कांग्रेस के नरम और गरम दल में उग्र झगड़ा सूरत में हुआ। मार पीट के बाद सभा भंग हो गयी। पुलिस ने पंडाल पर अधिकार कर लिया और घोषणा कर दी कि आधे घंटे बाद जो पंडाल में होगा, पकड़ा जायेगा। मैं पंडाल से बाहर आया तो पॉच-छह दक्षिणी भाई टूटी कुर्सी के टुंकड़े हाथ में लिए प्रहार करने को तैयार होकर सरोष पूछने लगे– 'मालवी कहाँ है? मैनें कह दिया पता नहीं। वे खोजने आगे बढ़े। वे त्रिभुवन मालवीय स्वागताध्यक्ष की खोज में थे। मुझे लगा कि नाम का भ्रम न हो जाय और कही महामना' के साथ दुर्व्यवहार न करें। मैनें महामना को खोजा तो खाली पंडाल में वे ही एक नेता अकेले मंच पर खड़े, एक खंभे का सहारा लिए आँसू बहा रहे थे। मैनें बहुत अनुनय विनय की, वहाँ से हटने की, परन्तु उन्होंने एक न सुनी। पुलिस द्वारा किसी भी क्षण गिरफ्तारी हो सकती थी। भाग्य से रमाकान्त मालवीय भी खोजते हुए आ पहुँचे और हम दोनों ने बलपूर्वक महामना को वहॉ से हटाया। सब नेता चंपत थे। वहॉ एक नहीं था। यदि कोई था तो एक ही विलखता, शुभवेशधारी।[2]

---

[1] डा0 राजेन्द्र प्रसाद : मालवीय जी : जीवन झलकियां से उद्धृत

[2] जीवन शंकर याज्ञिक, प्रज्ञा, 1961, पृ0 28—29।

कांग्रेस के विभाजन से मालवीय जी बड़े दुःखी हुए। वे चाहते थे कि कांग्रेस का नेतृत्व चाहे किसी के हाथ में रहे, लेकिन वह एक रहे । सब मिलकर काम करें, सदैव विचारशक्ति, दूरदर्शिता कार्य कुशलता और एकता से काम लें।[1]

मालवीय जी सदैव अहिसात्मक आन्दोलन के ही समर्थक रहे तथा उन्होंने क्रांतिकारी आन्दोलन को कभी भी पसन्द नहीं किया। फिर भी क्रांतिकारियों की देशभक्ति और उनकी आत्म-बलिदान की भावनाओं का सम्मान करते थे। वैचारिक मतभेद के बाद भी वे क्रांतिकारियों और उनके परिवार वालों की कष्ट के समय सहायता करते थे। वे क्रांतिकारी आन्दोलन के विकास के लिए सरकार की रीति-नीति को ही दोषी मानते थे। सन् 1909 में संयुक्त प्रांत की सरकार ने क्रांतिकारियों की भर्त्सना के लिए सभा की, उसमें वे मालवीय जी से भाषण कराना चाहते थे, लेकिन मालवीय जी ने स्पष्ट कर दिया कि 'वे उस समय तक कांतिकारियों के विरूद्ध कुछ कहने को तैयार नहीं है, जब तक उस सभा में उन्हें सरकार की उस गतिविधि की आलोचना करने का मौका न हो, जिसके कारण क्रांतिकारी भावनाएँ प्रज्ज्वलित होती है। इस बात पर प्रांत के गवर्नर ने मालवीय जी की कड़ी आलोचना की, किन्तु मालवीय जी ने इसकी कुछ भी परवाह न की।[2]

क्रांतिकारियों ने मालवीय के प्रति सदैव सम्मान का भाव प्रकट किया। मनमाड़ बम केस के वीर क्रांतिकारी मनमोहन गुप्त ने अपने संस्मरण में बताया है-'' काकोरी कांड तथा भगत सिंह के कितने ही साथियों को इस विश्वविद्यालय (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने ही जन्म दिया। मैं भी क्रांतिकारी आन्दोलन में इसी विश्वविद्यालय के किसी छात्र की प्रेरणा स्वरूप ही कूद पड़ा था। केवल इतना ही नहीं, मुझे इस बात का भी गर्व है कि उस युग में मै भी वहीं का छात्र था। पूज्य मालवीय जी के निधन से देश के क्रांतिकारी लोगों ने एक ऐसा पिता खो

[1] अभ्युदय, पौष-कृष्ण 30, संवत् 1964।
[2] प्रो0 मुकुट बिहारी लालः मालवीय जी : जीवन और नेतृत्व पृ0 104।

दिया है, जिसकी पूर्ति और कोई भी दूसरा देश-पिता नहीं कर सकता। जब भी किसी काम के लिए क्रांतिकारियों को आर्थिक या बौद्धिक सहायता की आवश्यकता पड़ती और वे अगर मालवीय जी से इसकी माँग करते, तो मालवीय जी उसे अवश्य प्रदान करते थे। आज न तो पूज्य मालवीय जी ही हैं और न भारतीय क्रांतिकारियों के कमांडर इन-चीफ पं0 चन्द्रशेखर आजाद ही, नहीं तो दुनिया को पता चलता कि पूज्य मालवीय जी का भारतीय क्रांतिकारियों के साथ क्या सम्बन्ध था। पूज्य मालवीय जी का व्यवहार आजाद के साथ दिवंगत पुत्र के पिता जैसा ही था।[1]

सन् 1931 में जब भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव को फाँसी दी गयी, तब मालवीय जी ने कांग्रेस समिति की ओर से बड़े ही संतप्त हृदय से इन शहीदों को श्रद्धाजंलि अर्पित की थी। आजाद हिन्द फौज के मेजर जनरल शाहनवाज जी मालवीय जी से मिलने के लिए काशी आते थे।[2] सुभाष चन्द्र बोस ने एक बार नौजवानों को सम्बोधित करते हुए कहा था - ''आज जिस अग्नि के समक्ष खड़े होकर तुम इतनी प्रसन्नता से नाच रहे हो, उसे प्रज्ज्वलित करने में पं0 मालवीय जी की हड्डियों ने चन्दन की लकड़ी का काम किया है, इसे कभी मत भूलना। मालवीय जी का सम्बन्ध जी0डी0 सावर से भी था।[3]

मालवीय जी क्रांतिकारियों के बलिदान और त्याग से प्रभावित होते हुए भी अहिंसा को आन्दोलन का सर्वश्रेष्ठ अस्त्र मानते थे। वे मर्यादाबद्ध आन्दोलन के समर्थक थे। उन्होंने अपने एक लेख में सर जॉन लवक के इस कथन का हवाला दिया है कि - ''संसार में शस्त्रों द्वारा जितने परिवर्तन किये गये हैं और जहाँ कहीं शस्त्रों का प्रयोग किया गया है, वहाँ पर अधिकांशतः लेखनी ने ही तलवार को

---

[1] पद्मकान्त मालवीय : मालवीय जी : जीवन झलकियां, पृ0 32-33।,
[2] वही,, पृ0 92।
मालवीय कॉममेोरेशन वाल्यूम, बी0 एच0 यू0 पृ0 1961,पृ0 111।

धुमाया है। भोलों की अपेक्षा विचार अधिक बलवान होता है।[1] उन्होंने कहा कि-
''हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अपने देश-भाइयों में उनके अधिकारों का ज्ञान फैलाकर उनकी मिली हुई राय की शक्ति को जहाँ तक बढ़ा सकें, बढ़ाकर उसका पूरा जोर सरकार पर डालकर उन प्रतिज्ञाओं के अनुसार काम करावें । इसमें भी हमको फल-सिद्धि सहज में नहीं मिलेगी। माँगते ही हमको अधिकार नहीं मिल जायेगें। इसके लिए हमको एक कठिन संग्राम करना होगा और उस संग्राम में हमको अपने पौरूष, वीरता, धैर्य, सत्य, न्याय और कहीं-कहीं अपने सर्वस्व त्याग की योग्यता को स्थापित करना होगा। किन्तु यह संग्राम शांति का संग्राम होगा, न उसमें हमको न्याय का उल्लघंन करना पड़ेगा, न किसी ओर से अस्त्र-शस्त्र चलेगा और न रूधिर गिरेगा।''[2]

कांग्रेस को आम जनता का प्रतिनिधि बनाने की दिशा में जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक काम किया,वे मालवीय जी ही थे। दिल्ली कांग्रेस (1918) में मालवीय जी अपने साथ एक हजार किसानों को ले गये थे और उनके सभापतित्व में कांग्रेस ने यह निर्णय लिया कि किसानों को निःशुल्क प्रवेश दिया जाय।[3]

मालवीय जी देश-हित के सामने अपने आप पर आये संकट को भी भूल जाते थे तथा सरकारी अवमानना करने से भी कतराते नहीं थे। जालियाँ वाला बाग हत्याकाण्ड के बाद मालवीय जी ने यह घोषणा कर दी कि वे स्थिति की निजी तौर पर जाँच करने के लिए पंजाब तथा सीमाप्रांत का दौरा करेंगे। सरकार ने अम्बाला रेलवे स्टेशन से उन्हें वापस जाने को कहा, लेकिन वे न माने और उन्होंने चुनौती दी कि ''जब तक उन्हें गिरफ्तार करके गाड़ी से न निकाल दिया जाय वे ट्रेन से उतरेंगे नहीं'' और सरकार ऐसा करने की हिम्मत न कर सकी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी भी इसी तरह पंजाब आ रहे थे, उन्हें दिल्ली स्टेशन

---

[1] मालवीय जी के लेख, वही, पृ0 83।
[2] वही,, पृ0 85।
[3] विश्व ज्योति, पृ0 45–46।

पर ऐसा ही एक आदेश मिला और वे साबरमती आश्रम लौट गये। मालवीय जी के अमृतसर पधारने के कुछ ही दिनों बाद स्थिति काफी बदल गयी तथा लोगों में नये उत्साह का संचार हुआ।[1]

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में चार पड़ाव प्रमुख रूप से महत्वपूर्ण हैं - स्वदेशी आन्दोलन जो बंग-भंग से पैदा हुआ था, असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा भारत छोड़ो आन्दोलन।

बंग-भंग के प्रश्न पर मालवीय जी ने देश वासियों का ध्यान बंगाल की इस कठिनाई की ओर आकर्षित किया और देशवासियों से यह अनुरोध किया कि वे बंग-भंग के प्रश्न पर उदासीन न हों। यह प्रश्न जहाँ बंगाल के लिए अहितकर है वहीं..... समूचे देश के लोगों के लिए भी धातक है, क्योंकि बंगाल से राष्ट्रीयता और भारतीयता के सम्बन्ध के कारण पूरा देश सम्बन्धित है। अतः सम्पूर्ण देश को उसका विरोध करना चाहिए।[2] सन् 1905 में स्थिति की भंयकरता बढ़ गयी । सरकार ने व्यापक दमन का सहारा लिया। 'बन्देमातरम्' के नारे को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। नवयुवकों पर घोर अत्याचार किया गया। नवयुवकों ने इसका प्रत्युत्तर हिसंक तरीके से दिया। मालवीय जी ने ऐसे समय में सरकार से दमन रोकने की माँग की तथा सम्पूर्ण देश की जनता से बंगालियों के दुःख - दर्द में सम्मिलित होने का आह्वान किया। इसी समय जब गरम और नरम दल वालों के बीच मतभेद उत्पन्न हुआ तो मालवीय जी ने दोनों दलों में एका कराने का सफल प्रयास किया। लेकिन अंततः कांग्रेस 1907 में विभाजित ही हो गयी।

मालवीय जी उदारवाद के क्रमिक वृद्धि सिद्धान्त में आस्था रखते थे। इसलिए उन्होंने प्रारम्भ में शासन कार्य में भारतीयों के प्रतिनिधित्व की माँग की, फिर अधिक प्रतिनिधित्व और बाद में इससे भी आगे बढ़ते हुए उन्होंने माँग की कि

---

[1] उमेश दत्त तिवारी : भारत भूषण महामना पं0 मदन मोहन मालवीय : पृ0 43।
[2] प्रो0 मुकुट बिहारी लाल : महामना मदन मोहन मालवीय : जीवन और नेतृत्व, पृ0 71-72।

स्वशासन मानव समाज का स्वाभाविक अधिकार है। उसकी ओर प्रगति स्वाभाविक है। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार को शीघ्र ही यह घोषणा करनी चाहिए कि "भारत को स्वशासन प्रदान करना ब्रिटिश नीति का लक्ष्य है"।[1]

मालवीय जी सरकार की नीति का विरोध करते हुए भी असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रमों का समर्थन नहीं करते थे। उनका विरोध मुख्य रूप से न्यायालयों, विधानसभाओं तथा शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार पर था। वे इसे हानिकर मानते थे। उनका कहना था कि राष्ट्र की प्रगति में शिक्षा संस्थाओं का योगदान काफी महत्वपूर्ण है। इनके द्वारा नवयुवकों को देशभक्ति की शिक्षा दी जाती है। उसी शिक्षा - प्रणाली ने देश को इतने अच्छे विद्वान दिये है- जिन्होनें देश का सम्मान बढ़ाया है। मालवीय जी स्वदेशी के नाम पर विदेशी कपड़ों की होली को बुरा मानते थे। इन सब कार्यो से बुरे संस्कार पैदा होते हैं, जो देश-हित में नहीं है। इस विरोध के बावजूद भी मालवीय जी आन्दोलन द्वारा पैदा की गयी जन जागृति की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते थे। मालवीय जी ने गांधी जी और वायसराय रीडिंग के बीच समझौता कराने का भी असफल प्रयास किया। इसी बीच जब 5 फरवरी सन् 1922 को चौरी चौरा में जनता की उस भीड़ द्वारा हिंसा का प्रयोग किया गया और गांधी जी द्वारा 12 फरवरी को असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया गया, तो सरकार ने मौका पाकर गांधी जी सहित अनेक नेताओं को बंदी बना लिया। मालवीय जी एवं डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद ही इस समय जेल से बाहर रहने वाले नेताओं में प्रमुख थे। मालवीय जी ने आन्दोलन से उपजी जन जागृति को शांत न होने देने के लिए पूरे देश का भ्रमण किया तथा अपने भाषणों से जनता को स्वराज्य के लिए संघर्ष करने का आहवानं किया। लंदन के प्रसिद्ध दैनिक

---

[1] लाइफ एण्ड स्पीचेज, पृ0 569।

'टाइम्स' ने मालवीय जी की इस गतिविधि की आलोचना की लेकिन मालवीय जी अपने कार्य में लगे रहे।[1]

यद्यपि मालवीय जी एक दशक पहले ही वकालत छोड़ चुके थे, लेकिन जब चौरी-चौरा के लोगों का दमन किया जाने लगा तो उन्होंने जनता की सुरक्षा के लिए पुनः वकालत प्रारम्भ कर दी तथा प्रयाग उच्च न्यायालय में अपील कर पैरवी कर 229 व्यक्तियों में से, 143 व्यक्तियों को फाँसी की सजा से मुक्ति दिलवाया।[2]

1927 में सरकार द्वारा नियुक्त साइमन कमीशन में भारतीयों का प्रतिनिधित्व न होने पर अन्य नेताओं के साथ मालवीय जी ने भी 'साइमन कमीशन' के बहिष्कार की घोषणा की तथ उन्होंने जनता से अपील की कि "वह दृढ़ - प्रतिज्ञ होकर इस शासन प्रणाली का अंत करने के लिए तैयार हो जाये तथा प्रतिज्ञा करे कि वे अपने देश के भाइयों के साथ जाति-पाँति का भेद छोड़कर अपने ही सदृश उनके जीवन प्रतिष्ठा तथा स्वतंत्रता का आदर करेगें तथा जनजागृति या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए देश-हित का बलिदान न करेगें।[3]

साइमन कमीशन के बहिष्कार का समर्थन करते हुए मालवीय जी ने कहा कि "जनता द्वारा जनहित में जनता की सरकार ही सर्वोत्तम है"। भारत के संविधान का निर्माण भारतीयों के द्वारा ही किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि हम स्वतंत्रता चाहते है और हमारा दावा है कि हम अपना शासन स्वयं चलाने के योग्य हैं जबकि अंग्रेज जबरदस्ती हमें अपने अधिकार के अधीन बनाए रखना चाहते हैं। मालवीय जी ने उग्र होकर कहा कि "अपना अधिकार प्राप्त करने के दो ही तरीके है-युद्ध या समझौता। हम इस समय समझौते द्वारा अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे है, लेकिन यदि इसमें सफल न हुए तो शासन की वर्तमान प्रणाली से

---

[1] प्रो० मुकुट बिहारी लाल, वही, पृ० 299–301।
[2] वही, पृ० 301।
[3] हिन्दुस्तान टाइम्स, सन् 1927, 24 नवम्बर।

मुक्ति प्राप्त करने के लिए देश की जनता दूसरे उपायों को सोचने के लिए भी बाध्य होगी।''[1]

गांधी जी द्वारा 12 मार्च सन् 1930 से डांडी यात्रा शुरू कर सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। इसके बाद सरकार ने कांग्रेस को गैर कानूनी घोषित कर दिया तथा मालवीय जी सहित देश के तमाम नेता गिरफ्तार कर लिये गये। बीमारी के कारण मालवीय जी को 24 दिसम्बर सन् 1930 को रिहा कर दिया गया। बाद में कांग्रेस के अन्य नेता भी रिहा कर दिये गये।

मालवीय जी ने द्वितीय और तृतीय गोलमेज सम्मेलन सन् 1931 और सन् 1932 में भाग लेने के लिए लन्दन की यात्रा की तथा वहाँ पर पूण स्तंतत्रता, पूर्ण उत्तरदायी शासन, अखिल भारतीय संघीय व्यवस्था, वयस्क मताधिकार, प्रत्पक्ष चुनाव प्रणाली, लोक सेवाओं के भारतीयकरण, सुरक्षा सेनाओं के भारतीयकरण तथा ब्रिटेन के साथ स्वतंत्र भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने की जोरदार माँग की।[2]

लन्दन से लौटते हुए मालवीय जी रास्ते में पेरिस रूक गये तथा वहां अनेक विद्वानों से उन्होंने मुलाकात की। जब उन्हें मालूम हुआ कि पुनः सरकार और जनता के बीच टकराव की स्थिति आ गयी है तो वे शीघ्र भारत आ गये। भारत आकर उन्होंने अखिल भारतीय स्वदेशी संघ की स्थापना की, जिसके तत्वाधान में 29 मई, सन् 1932 को अखिल भारतीय स्वदेशी दिवस मनाया गया।[3]

मालवीय जी ने सरकार की दमन नीति का विरोध करते हुए कहा कि ''सरकार दमन के द्वारा आन्दोलन को बन्द नहीं कर सकती''।[4] उन्होंने कहा कि '' सरकार के उस कानून की अवज्ञा, जो अन्यायपूर्ण और दमनात्मक है और जनता की प्राथमिक स्वतंत्रतों का अपहरण करता है.... जनता का ऐसा महत्वपूर्ण संवैधानिक

---

[1] असेंबली डिबेट्स, सन् 1928 दिल्ली, गवर्नमेंन्ट ऑफ इण्डिया प्रेस, 1928, जि0 1, पृ0 488।
[2] इण्डियन राउण्ड़ टेबिल कांफरेन्स, पृ0 1223–980
[3] प्रो0 मुकुट बिहारी लाल : महामना मदन मोहन मालवीय,, पृ0 492–493।
[4] इण्डियन क्वाटरली रजिस्टर, सन् 1933, जि0 1।

अधिकार है जिसके द्वारा जनता विधानसभा तथा निरकुश शासक को अपने अधिकार को विवेक और न्याय की सीमा में प्रयोग करने को बाध्य कर सकती हैं।[1] उन्होंने कहा कि "हमारी सबसे बड़ी स्वतंत्रता विचार की स्वतंत्रता है। इसके द्वारा सरकार भी अपने कर्तव्य के अधीन हो जाती है। इसने सब काल में सत्यता को अमरत्व प्रदान किया है और संसार के उन लोगों के पवित्र रक्त से अपनी अज्ञानता धोयी है, जिन्होनें उसे प्रकाशित किया था। अत: हमारा यह कर्तव्य है कि हम लोग ऐसे कानून और आज्ञा का विरोध करें, जिनसे हमारे सहमिलन ओर सम्भाषण की स्वतंत्रता का अपहरण होता है। महातमा गांधी ने ऐसी परिस्थिति में अहिंसात्मक सविनय अवना के प्रयोग की भारतीयों को शिक्षा देकर मानव समाज की महान सेवा की है। यह प्रतिवाद वैध और अहिसांत्मक है।[2]

मालवीय जी सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय जनता का उत्साह वर्धन करते रहे तथा आन्दोलन को वापस कराने के लिए भी उन्होने अथक प्रयास किया ताकि जनता के लिए रचनात्मक कार्य किये जा सके। डा0 पट्टाभि सितार मय ने लिखा है कि "सन् 1932-33 के संकट काल में मालवीय जी अपने दुर्दमनीय आत्मबल और अपूर्व शक्ति द्वारा कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित और अनुप्राणित करते रहे। सन्देह और कठिनाई के अवसरों पर कार्यकर्ता उनके पास जाते और कभी निराश होकर नहीं लौटते थे[3]

मालवीय जी ने मैकडोनाल्ड के साम्प्रदायिंक निर्णय (सन् 1932) का विरोध किया। इसके लिए उन्होंने बीमारी की हालत में भी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश और पंजाब का दौरा किया। साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि "स्वराज्य जनता द्वारा शासन है, वह सम्प्रदाय द्वारा शासन नहीं है। स्वतंत्र राज्य में चुनाव धर्म के आधार पर नहीं लड़े जाते पृथक निर्वाचन द्वारा हिन्दू राज और

---

[1] वही।
[2] वही।
[3] पट्टाभि सितारमैया : हिस्ट्री आफ दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1947, पृ0 589।

मुस्लिम राज होगा, स्वराज्य नहीं होगा। ब्रिटिश सरकार पृथक निर्वाचन पद्धति द्वारा हमें विभाजित कर सदा के लिए हमें अपने अधीन रखना चाहती है। सरकार के इस कार्य का विरोध करना चाहिए तथा पृथक निर्वाचन पर आधारित संविधान को स्वीकार नहीं करना चाहिये''।[1] कांग्रेस द्वारा मालवीय जी की बात स्वीकार न किये जाने पर उन्होंने कांग्रेस से अलग होकर नयी पार्टी बनाने की घोषणा कर डाली। फिर भी इन सबके बावजूद मालवीय जी ने 28 दिसम्बर सन् 1935 को सबसे वृद्ध कांग्रेसी नेता की हैसियत से तेजपाल' संस्कृत विद्यालय बम्बई में कांग्रेस स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर स्मृति शिला का उद्घाटन किया ।

29 दिसम्बर सन् 1935 को हिन्दू महामना के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि ''प्रत्येक भारतीय को संकल्प कर लेना चाहिए कि प्राणों की बाजी लगाकर हम स्वराज्य लेगें और तब तक प्राण-प्रण इसके लिए प्रयत्नशील रहेगें जब तक हमारे दम में दम है।

'असहयोग आन्दोलन और सविनय अवज्ञा आन्दोलन' के बाद भारत छोड़ो आन्दोलन' का ज्वार आया। इस आन्दोलन ने पूरे भारत को आन्दोलित कर दिया। गांधी जी के 'करो या मरो' नारे की गूँज समस्त भारतीय नवयुवकों में व्याप्त थी। ऐसे समय भला मालवीय जी कैसे अपने छात्रों को रोकते। उन्होंने छात्रों से कहा कि ''भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई में शामिल हो जाओं, मेरे बच्चों ! देश को स्वाधीन कराओ। मेरी बूढ़ी हड्डियों में अब ताकत नहीं, लेकिन मेरी सौगन्ध है, पीठ मत दिखाना।[2] काशी हिन्दू विश्वविद्यालयं के छात्रों ने बढ़-चढ़कर इस आन्दोलन में हिस्सा लिया। जब आन्दोलन कमजोर पड़ने लगा तो मालवीय जी ने बीमारी की हालत में ही जय प्रकाश नारायण के द्वारा आन्दोलन को जागृत किये रहने का संकल्प व्यक्त किया।[3]

---

[1] प्रो0 मुकुट बिहारी लाल : महामना मदन मोहन मालवीय, पृ0 524-548।
[2] मालवीय जी : जीवन और नेतृत्व, पृ0 168।
[3] प्रो0 मुकुट बिहारी लाल : महामना मदन मोहन मालवीय, पृ0 567-568।

एडवोकेट सुरेन्द्र नाथ वर्मा ने अपने संस्मरण में बताया है कि जब भारत छोड़ो आन्दोलन समाप्त हो गया और मालवीय जी प्रयाग पधारे थे, उस समय मैं सर तेजबहादुरर सप्रू और डॉ0 सच्चिदानन्द सिन्हा के साथ मालवीय जी से मिला। तथा जब हम लोगों ने अहिंसावादी गांधी के हिंसात्मक आन्दोलन की आलोचना की तो मालवीय जी ने कहा कि "यदि यह आन्दोलन सफल हो जाता तो दुनिया कहती और इतिहास में भी लिखा जाता कि भारत ने क्रांति द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। आन्दोलन असफल हो गया तो इसी का नाम' शांतिमय विद्रोह' या जो चाहे दे सकते हो।[1]

मालवीय जी स्वराज्य के लिए हमेशा संघर्ष करते रहे तथा उन्होंने आशा व्यक्त की थी कि वे भारत को स्वतंत्र करा लेगे। उनकी अतंरात्मा की आवाज कभी निष्फल नहीं गयी थी। सन् 1937 में कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन में उन्होंने कहा था कि "हम अंग्रेजी राज्य सहन नहीं कर सकते।....... आप स्मरण रखें कि अंग्रेज जब तक आप से डरेगें नहीं, तब तक यहाँ से नहीं भागेगें। अपनी कायरता को दूर भगा दो, बहादुर बनो और प्रतिज्ञा करो कि आजाद होकर ही हम दम लेगें।...... मैं पच्चास वर्ष से कांग्रेस के साथ हूँ संभव है, मैं बहुत दिन तक न जिऊँ और अपने जी में यह कलंक लेकर मरूँ कि भारत अभी पराधीन है। फिर भी मैं आशा करता हूँ कि मैं भारत को स्वतंत्र देख सकूँगा ।"[2] उनकी अंतरात्मा की आवाज सफल हुई और उनके जीते जी 21 सितम्बर सन् 1946 को पं0 जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में अखिल भारतीय अंतरिम सरकार की स्थापना हुई। इसे सुनकर मालवीय जी ने सुखानुभूति के साथ कहा कि "अपने देश में अपना राज"।[3]

---

[1] मालवीय जी : जीवन झलकियां,, पृ0 7।

[2] पट्टाभि सितारमैया : हिस्ट्री आफ दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस, बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1947, पृ0 589।

[3] उमेश दत्त तिवारी : भारत भूषण महामना पं0 मदन मोहन मालवीय : पृ0 51।

इस प्रकार मालवीय जी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता अपने राष्ट्रवादी विचारों के विकास के लिए ग्रहण की तथा सदैव राष्ट्र की चिन्ता में लगे रहने के कारण उन्होंने उसी कांग्रेस से बाहर नये दलों का निर्माण भी किया। उनका राष्ट्रवाद संकुचित न होकर पूरे भारत राष्ट्र को अपने में समाहित करता था। राष्ट्रीय आन्दोलन में उन्होंने भारत राष्ट्र की जनता को सदैव जागृत किये रखा, जिससे राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति हो सके। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के उन विचारों का विरोध किया, जिससे जनता में बैर-भावना बढ़ती हो तथा जनता में कुसन्सकार पैदा होते हों। वे सदैव भारत के विकास की चिन्ता करते थे। संक्षेप में उनका राष्ट्रवाद राष्ट्रीय चरित्र के विकास का संदेश वाहक था। यहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता उनके राष्ट्रवाद के पूरक की भूमिका निभाती थी, क्योंकि बिना स्वाधीनता के राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना का विकास नहीं हो सकता। इस तरह मालवीय जी ने राष्ट्रवाद को सदैव सर्वोपरि स्थान दिया।

राजनीतिक विचार-

यद्यपि मालवीय जी प्लेटो,अरस्तू अथवा कैटिल्य आदि की भाँति राजनीतिक चिन्तक तो नहीं थे परन्तु समय-समय पर उन्होंने राजनीति के विषय में अपने विचारों को व्यक्त किया है। इन्हीं विचारों को क्रमबद्ध करने से राजनीतिक व्यवस्था, मानवीय स्वतंत्रता, समानता, अधिकार, न्याय, राज्य का स्वरूप, राज्य के कार्यक्षेत्र आदि के विषय में उनके चिन्तन को स्पष्ट किया जा सकता है।

मालवीय जी निरंकुशता और परतंत्रता के विरोधी थे। वे वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन करते थे। उनका विचार था कि निरंकुश तंत्र तथा विदेशी शासन ऐसे घोर अभिशाप है, जो जनता के पुरूषत्व को नष्ट कर देते हैं और जो उसकी नैतिक प्रकृति को बुरी तरह विकृत कर देता हैं।... पराधीनता से विजयी और विजित दोनों समुदायों में से मनुष्यत्व दूर

भागता है - स्वतंत्रता का न होना उन्नति के अवसरों को खोना है, उन्नति के अवसरों का खोना अधःपतन है और अधःपतन मृत्यु के तुल्य है।[1]

मालवीय जी मानव का यह पुनीत कर्तव्य मानते थे कि वह दमन, अन्याय और परतंत्रता का विरोध करे। वे स्वयं जीवन भर इस कार्य के प्रति समर्पित रहे। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य न्याय, स्वतंत्रता और जनकल्याण की प्रतिष्ठा घोषित कर रखा था। इसके लिए वे जनसंगठन, जनजागृति, जनकल्याण की भावना और जन-आन्दोलन को अत्यंत आवश्यक मानते थे। वे आजीवन अन्याय और अव्यवस्था से संघर्ष करते रहे, परन्तु अत्यंत विपरीत परिस्थिति में भी उन्होंने दूसरों के प्रति अपने मन में दुर्भावनाओं को नहीं आने दिया तथा मानवता और सज्जनता का सदैव पालन करते रहे। उन्होंने किसी के लिए अहितकर कार्य करने के बार में सोचा तक नहीं। वे न्याय के प्रति दृढ़ निष्ठा तथा समस्त कार्यों में सदा उसका अनुसरण एक सार्वजनिक कार्यकर्ता का आवश्यक कर्तव्य समझते थे।

मालवीय जी वयस्क मताधिकार तथा संयुक्त निर्वाचन पद्धति के आधार पर जनता द्वारा निर्वाचित सरकार को ही सर्वोच्च समझते थे। वे मताधिकार के लिए जाति, सम्प्रदाय या सम्पत्ति को अनावश्यक मानते थे। उनका विचार था कि ''आय और सम्पत्ति का स्वामित्व अनिवार्य रूप से योग्यता और चरित्र का परिचायक नहीं है न ही सम्पत्ति का अभाव सम्मान की कमी का सूचक माना जा सकता है।''[2] एक सम्पत्तिहीन व्यक्ति भी सदाचारी, लोकसेवक और जनविश्वास का सुपात्र हो सकता है। एक नागरिक के अधिकार से उसे वंचित नहीं किया जा सकता। उसे भी सबकी तरह राष्ट्र के आदर्शो एवं लक्ष्यों को निश्चित करने तथा सरकार की गतिविधयों का निरीक्षण करने का समान अधिकार है। मालवीय जी यह मानते थे कि पैतृक पद पर आधारित भारतीय समाज में वयस्क मताधिकार सामाजिक विषमता

---

[1] अभ्युदय 19 मई सन् 1912।
[2] कांग्रेस का अध्यक्षीय भाषण सन् 1909।

को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा।[1] महामना विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों औरा आर्थिक हितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व को राष्ट्रीय एकता तथा स्वतंत्र राजनीतिक जीवन के लिए हानिकर समझते थे। वे चाहते थे कि जनता संकीर्ण जातीय, साम्प्रदायिक या अन्य अलगाव की भावना के बजाय शुद्ध राष्ट्रीय भावना से संयुक्त निर्वाचन पद्धति द्वारा सभी जातियों, सम्प्रदायों तथा हितों से सम्बन्धित सक्षम, सच्चरित्र लोक सेवकों का निर्वाचन करें। वे चाहते थे कि विधायक देश-हित की रक्षा तथा जनता की निष्पक्ष सेवा ही अपना कर्तव्य समझें तथा इन्हीं कर्तव्यों की पूर्ति के लिए अपने अधिकारों का प्रयोग करें। वे सदैव लोकतांत्रिक मर्यादाओं और भद्रताओं का हर परिस्थिति में पालन करें। समस्त नागरिक, विधायक, अधिकारी और कर्मचारी देश की स्वतंत्रता, गरिमा और सम्पत्ति की रक्षा को ही अपना प्रधान कर्तव्य माने तथा ऐसे कार्य न करें जिससे देश हित को क्षति पहुँचे।

मानवीय स्वतंत्रता के लिए संवैधानिक व्यवस्था द्वारा मौलिक अधिकारों का संरक्षण अनिवार्य होता है और इसके द्वारा ही स्वतंत्र राजनीतिक जीवन का अस्तित्व तथा राष्ट्र की प्रगति सम्भव है। मालवीय जी की मान्यता थी कि ''मनुष्य के पवित्र अधिकार स्वयं परमात्मा ने अपने हाथों से सूर्य की किरणों के रूप में मनुष्य स्वभाव पर अंकित कर दिये है जो किसी मानव की शाक्ति से मिटाये नहीं जा सकते।''[2] मालवीय जी राज्य में सुव्यवस्था और शांति की स्थापना के लिए नागरिकों के मौलिक अधिकारों के उपभोग की स्वतंत्रता को आवश्यक मानते थे। परन्तु वे स्वतंत्रता के स्थान पर उश्रृंखलता के समर्थक नहीं थे। वे यह मानते थे कि युद्ध के समय तथा व्यापक राजद्रोहात्मक स्थिति में सैनिक कानून लागू कर नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। पर उनकी राय में ऐसी स्थिति में भी फौजी अदालतों और फौजी कानूनों की मर्यादाओं और

---

[1] राउण्ड टेबिल काफ्रेस, दूसरा सत्र, सन् 1931।

[2] प्रोसीडिंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल सन् 1919 पृ0 58।

सीमाओं का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में भी सरकार द्वारा उतने ही बल के प्रयोग को उचित माना जा सकता है, जितना शांति की स्थापना के लिए आवश्यक हो। कानून-व्यवस्था बहाल करने के नाम पर अनावश्यक हत्याओं और प्रतिबन्धों द्वारा आतंक की स्थापना उचित नहीं है। सैनिक कानून तभी तक लागू रखा सकता है, जब तक ऐसा नितान्त अनिवार्य हो, उसके बाद उसे जारी रखना अन्याय और अत्याचार है। हत्याओं और आग लगाने के अपराधों की ही जाँच फौज अदालतों में हो सकती है। राजद्रोह और व्यापक फसादों की स्थिति में सरकार का उत्तरदायित्व अवश्य बढ़ जाता है और उसके साथ ही उसके अधिकारों में भी वृद्धि हो जाती है, पर न्याय का पालन करना उसका कर्त्तव्य सदैव बना रहता है।[1] मालवीय जी का मानना था कि मार्शल लॉ के जमाने में किये गये सरकारी अत्याचारों की निष्पक्ष अधिकारिक जाँच आवश्यक रूप से होनी चाहिए। उस समय भी निर्दयतापूर्ण व्यवहार अन्याय है और प्रत्येक सरकारी कर्मचारी इस व्यवहार के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है। पीड़ित व्यक्ति को उनके खिलाफ अभियोग लगानो का अधिकार होना चाहिए। मालवीय जी कहते थे कि ''नागरिकों की तरह सैनिकों का भी यह अधिकार है कि वे भी आत्मरक्षा के लिए शस्त्रों का प्रयोग करें तथा जानमाल की रक्षा के आवश्यक उपाय करें, परन्तु यदि सैनिक निहत्थे और विरोध न करने वाले मनुष्यों की हत्या करेगा तो वह हत्या का दोषी होगा और उसके खिलाफ मुकदमा होना चाहिए। दोष के उत्तरदायित्व से दोषी अफसरों को बचाने के लिए क्षमा अधिनियम का प्रयोग हो सकता है परन्तु इसके लिए विधायिका की संतुष्टि आवश्यक है कि मार्शल लॉ की आवश्यकता नितांत अनिवार्य थी। क्षमा सीमाओं का भी निर्धारण होना चाहिये क्योंकि सभी प्रकार के अपराधों के लिए क्षमा का प्रयोग नहीं किया जा सकता। (क्षमा का) प्रयोग उन्हीं व्यवहारों के लिए होना चाहिए जो व्यक्तिगत द्वेष से प्रेरित न हों, हर प्रकार की

---

[1] वही।

सावधानी बरतने के बावजूद भी हो गये हों, या ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्यों के निर्वहन में शांति और व्यवस्था की स्थापना में हो गये हों।[1]

मालवीय जी की मान्यता थी कि लोकतंत्र तभी सफलीभूत हो सकता है जब व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की रक्षा तथा उसके व्यक्तित्व के विकास की आवश्यक दशाएं उपलब्ध हों। मालवीय जी राज्य में शांति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए सभी जाति और सम्प्रदाय के नागरिकों को मौलिक अधिकारों को प्रदान करना आवश्यक मानते थे। धार्मिक स्वतंत्रता भी एक मौलिक अधिकार है। राज्य को अंतःकरण की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह सभी धर्मो के उपासना स्थलों, उपास्य देवों, धर्म गुरूओं तथा धर्मग्रन्थों का आदर करे। मालवीय जी धर्म निरपेक्ष राज्य के समर्थक थे। राज्य द्वारा अतः करण का नियंत्रण अमानुषिक है। धार्मिक स्वतंत्रता नागरिक स्वतंत्रता का एक अंग है इसलिए मालवीय जी चाहते थे कि इसकी सुरक्षा का आश्वासन संवैधानिक उपबन्धों द्वारा किया जाय, ताकि बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक सभी अपने धार्मिक कार्यो को करने में किसी बाधा का सामना न करने पावें। वे चाहते थे कि लोकतांत्रिक भारत - राज्य में सभी नागरिकों को अंतःकरण की, विश्वास की, धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन की, और अपने धर्म के प्रचार और प्रसार की पूर्ण स्वतंत्रता हो। धार्मिक आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न होने पाये, किसी के अधिकार प्रतिबन्धित न किये जाँय। राज्य का न तो कोई धर्म हो और न राज्य की ओर से किसी धर्म का प्रचार किया जाय अर्थात् राज्य किसी धर्म को प्रोत्साहित न करे तथा किसी धर्म को हतोत्साहित भी न करे।[2] स्वतंत्रता के बाद भारत में उपरोक्त सभी बातों को स्वीकार का लिया गया है।

---

[1] वही।

[2] प्रोसीडिंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल सन् 1924, जि0 4, पृ0 802–1000 तथा पृ0 1941–43।

मालवीय जी मानवीय स्वतंत्रता, समाज के परिशोधन तथा राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए रचना और संघर्ष दोनों ही माध्यमों का उपयोग करना चाहते थे। किन्तु वे संघर्ष को साध्य नहीं बल्कि रचना का ही एक अंग मानते थे। मालवीय जी के समस्त संघर्ष स्वयं रचनात्मक भावना से अनुप्राणित तथा वैयक्तिक विद्वेष या अहंकार से निमुक्त होते थे। उन्होंने सार्वजनिक जीवन में लोकतांत्रिक शील और मर्य्रदाओं का पालन आवश्यक माना और स्वयं इसको अपने जीवन में उतारा भी था। वे चाहते थे कि अन्याय का विरोध भी जहाँ तक सम्भव हो सके संवैधानिक तरीके से किया जाय तथा कानून की सीमा में रहते हुए किया जाय, इसीलिए उन्होंने असहयोग आन्दोलन का विरोध किया था। लेकिन वे सविनय अवज्ञा, अहिसात्मक शांतिपूर्ण प्रतिरोध तथा सत्याग्रह को भी संवैधानिक तरीका ही मानते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग वे उचित मानते थे। जहाँ स्वतंत्रता का दमन हो रहा हो, वहां उसकी (स्वतंत्रता का) रक्षा के लिए तो वे सुसंगठित हिसात्मक विद्रोह को भी न्यायसंगत मानते थे और ऐसी परिस्थिति में उसका उपयोग आवश्यक एवं उचित मानते थे। इसीलिए उन्होंने क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए सरकार को दोषी ठहराया था। आत्मरक्षा के निमित्त वे मानते थे कि हिंसात्मक प्रतिरोध भी किया जा सकता है। फिर भी वे सामान्य रूप से हिंसा, आतंक, तोड़ - फोड़ उद्‌दंडता आदि कार्यो को ठीक नहीं समझते थे तथा इसका प्रतिकार करने की सलाह देते थे। मालवीय जी हर प्रकार से मानवाधिकारों की सुरक्षा अनिवार्य मानते थे।[1]

सरकार के स्वरूप के बारे में विचार करते समय मालवीय जी के सामने दो विकल्प थे- अमेरिका की अध्यक्षीय प्रणाली तथा ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली। जहाँ अध्यक्षीय प्रणाली में स्थिरता को महत्व दिया जाता है वहीं संसदीय प्रणाली उत्तरदायी शासन व्यवस्था के लिए स्थिरता का बलिदान कर देती है। मालवीय जी

[1] वही पृ0 3535–3539।

संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित अध्यक्षीय व्यवस्था की स्थिरता के आदर्श की तुलना में ब्रिटेन में प्रचलित संसदीय व्यवस्था के उत्तरदायित्व को अधिक पसन्द करते थे। संसदीय उत्तरदायित्व के कारण जनता की स्वतंत्रता और उसके अधिकार सुरक्षित रहते हैं, जबकि अध्यक्षीय व्यवस्था में निरंकुशता का भय बना रहता है।[1]

इसी प्रकार मालवीय जी एकात्मक व्यवस्था के स्थान पर भारत के लिए संघीय व्यवस्था को अधिक व्यावहारिक मानते थे। वे चाहते थे कि संघीय व्यवस्था के आधार पर राज्य के अधिकारों का विकेन्द्रीकरण किया जाय, जहां प्रांतों को स्थानीय विषयों पर अधिकार हों, और केन्द्रीय सरकार सामान्य विषयों पर कानून बनाने का अधिकार रखे। वे चाहते थे कि दोनों स्तरों (प्रांतीय तथा केन्द्रीय) पर संसदीय व्यवस्था अपनायी जाये, जहाँ मंत्रिमण्डल जनता द्वारा निर्वाचित विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी हो। इस व्यवस्था में सरकार के समस्त कार्य जन-समीक्षा के अधीन रहते है।[2]

मालवीय जी संवैधानिक सरकार की स्थापना चाहते थे, जहाॅ सरकार के काम-काज कानून के द्वारा नियंत्रित रहते हैं। वे चाहते थे कि शासन कार्य के संचालन के लिए लिखित संविधान हो, जिसका निर्माण वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान-सभा करे वे यह मानते थे कि जहां पर अधिकारों के प्रति जनता सदैव जागरूक रहती है, वहां अलिखित 'संविधान भी सफल हो सकता है, परन्तु भारत जैसे देश में जहां अधिकांश जनता अशिक्षित है, संविधान लिखित ही होना चाहिए। लिखित संविधान में सरकार के कार्य कानून की समीक्षा के अधीन होते हैं। मालवीय जी स्वतंत्र न्यायपालिका के पक्षधर थे। वे कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का पृथक्करण चाहते थे। उनकी धारणा थी कि प्रशासनिक अधिकारियों के न्यायिक अधिकार स्वतंत्र न्यायालयों को हस्तांतरित कर दिये जायें। वे यह भी

[1] सीताराम चतुर्वेदी महामना पं0 मदनमोहन मालवीय,, पृ0 142–150।
[2] वही,।

चाहते थे कि न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रशासनिक अधिकारियों में से न की जाय, बल्कि न्यायिक क्षेत्र से ही न्यायाधीश नियुक्त किये जायें। न्यायिक कार्यो में सरकारी हस्तक्षेप न होने पाये, इसके लिए वे चाहते थे कि न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्रदान की जाय।[1]

मानव की स्वतन्त्रता की माँग करने के बाद भी मालवीय जी व्यक्तिवादी विचारक नहीं थे। वे व्यक्तिवाद को लोकतंत्र का अनिवार्य अंग स्वीकार नहीं करते थे। वे तो सामाजिक लोकतंत्र और जनकल्याणकारी राज्य के समर्थक थे। जो अनिवार्यत: व्यक्तिवाद विरोधी विचारधारा है। वे यह मानते थे कि सामाजिकता मानव स्वभाव का महत्वपूर्ण और अनिवार्य लक्षण हैं। वे यह मानते थे कि मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए मानवीय स्वतंत्रताओं की रक्षा के साथ-साथ मानव समाज की पुष्टि और विकास भी आवश्यक है। उनका विचार था कि स्वतंत्रता और सामाजिक उत्तरदायित्व का उचित सामंजस्य ही नैतिक और सामाजिक जीवन का मूलाधार है। जिस प्रकार स्वतंत्रता से रहित उत्तरदायित्व दासता को जन्म देता है उसी प्रकार उत्तरदायित्व से विहीन स्वतंत्रता उश्रृंखलता या निरंकुशता की जननी होती है। उन्होंने बताया कि ''भारत के प्राचीन धर्म की शिक्षा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने को एक बड़ी समष्टि की इकाई समझकर उसके हित के लिए जीवित रहे और उसी के लिए कार्य करें, लोककल्याण और लोकसंग्रह को परम पुरूषार्थ समझे।[2]

मालवीय जी राज्य का यह कर्तव्य मानते थे कि वह जन-कल्याण की वृद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। उनका विचार था कि ''जनता की स्थिति में सुधार ही अच्छी सरकार की कसौटी है और कोई सरकार 'सभ्य सरकार' कहलाने का दावा तभी कर सकती है जबकि वह जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के

[1] प्रोसीडिंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल सन् 1913, जि0 51, पृ0 388–394।
[2] सन् 1904 में विश्वविद्यालय की योजना के प्रारूप पर विचार ।

लिए प्रयत्नशील रहे।[1] वे चाहते थे कि जनता के कल्याण के लिए ही वित्त नीति, कर नीति आदि बनायी जाय तथा राजकोष एवं विधितंत्र का प्रयोग भी लोककल्याण की अभिवृद्धि के लिए ही किया जाय। वे चाहते थे कि जनता की स्वतंत्रता के निमित्त कानूनों का निर्माण हो। सामाजिक न्याय की पुष्टि सरकार का पुनीत कर्तव्य हो तथा सरकार श्रमिकों के अभ्युदय के लिए आवश्यक कार्यवाही करे । मालवीय जी चाहते थे कि दुर्दिन की स्थिति में सरकार जनता की सहायता करे तथा अपने शक्ति और संसाधनों का प्रयोग जनता की स्थिति में सुधार के लिए करे, ताकि जनता की क्षमता में वृद्धि हो सके। सरकार अपने कार्यो द्वारा लोगों के मस्तिष्क को ज्ञान से प्रदीप्त करे उनमें विवेक का विकास करे, उनके घरों के परिवेश को सुधारे तथा उनमें जीविका के नये स्रोतों को अपनाने की क्षमता पैदा करे जिससे लोग सभ्यता का विकास कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकें।[2]

मालवीय जी की विचार दृष्टि राष्ट्रीय सीमा में आबद्ध नहीं थी, बल्कि वे अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर भी अपना विचार व्यक्त करते रहते थे। वे राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्रीय कार्यक्रम पर विश्वास करते थे। वे चाहते थे कि इन कार्यक्रमों के आधार पर संसार में विश्वन्याय और शांति की स्थापना की जाय। वे अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की सर्वमान्यता में विश्वास रखते थे और चाहते थे कि कतिपय अंतर्राष्ट्रीय शर्तो के अधीन समुद्रों की स्वतंत्रता बनी रहे। उनका विचार था कि राष्ट्रीय रक्षा और सुरक्षा की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय सेना और युद्ध सामग्रियों में कटौती की जाय। वे चाहते थे कि सभी शान्तिप्रिय राष्ट्रों को व्यापार में समानता का व्यवहार करना चाहिये। समस्त औपनिवेशिक प्रश्नों का समाधान जनता की सम्प्रभुता और कल्याण के आधार पर किया जाना चाहिए। विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्र की भूमि को स्वतंत्र करें। छोटे या बड़े सभी राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतंत्रता

---

[1] प्रांतीय कौसिल में भाषण सन् 1907, इलाहाबाद, दी सुपरिनटेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट प्रेस 1907।
[2] वही, सन् 1908।

का सम्मान किया जाय। सभी राष्ट्रों की भू-क्षेत्रीय अखण्डता सुनिश्चित की जाय। मालवीय जी का विचार था कि इन समस्त कार्यो की देख-रेख के लिए सभी राष्ट्रों के संघ का संगठन किया जाय।[1]

मालवीय जी अधिकारों की माँग करने के लिए जनता को उद्वेलित करते थे। वे कहते थे कि "किसी मनुष्य अथवा किसी जाति की तब तक उन्नति नहीं हो सकती, जब तक वह अपनी वर्तमान दशा से असंतुष्ट होकर उसे सुधारने का प्रयत्न न करे[2] प्रत्येक देश या जाति का अभ्युदय मूलरूप से उसकी प्रजा के आत्मपौरूष पर निर्भर है।[3] वे चाहते थे कि लोग अपने अधिकारों के लिए मर्यादा के साथ आन्दोलन करें।[4] और अकारण ऐसा कार्य न करें जिससे जनता और सरकार के बीच वैर भाव पैदा हो।[5]

मालवीय जी के विचारों में सच्ची देशभक्ति ही राजभक्ति है।[6] समस्त राजभक्तों का यह कर्तव्य है कि राजभक्ति दिलवाने में देशभक्ति का पहले ध्यान रखें और राजा को उसी मार्ग पर लायें जिससे उसके देश और प्रजा का भला हो।[7] शासक और राजा के कर्तव्य बोध पर मालवीय जी ने लिखा है-' 'प्रजा के सुख में राजा का सुख, प्रजा के दु:ख में राजा का दु:ख, प्रजा की उन्नति में राजा की उन्नति और प्रजा की अवनति में राजा की अवनति है। राजा का यह प्रधान कर्तव्य है कि वह देश के कल्याण का सदैव ध्यान रखे। जिस प्रकार एक कृषक अपने खेत में खर-पतवार काटकर अपने खेत के पौधों की रक्षा करता है, उसी

---

[1] कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन सन् 1928 का भाषण।
[2] मालवीय जी के लेख वही पृ0 51।
[3] वही, पृ0 6।
[4] वही, पृ0 15।
[5] वही, पृ0 7।
[6] वही,पृ0 111।
[7] वही,।

प्रकार राजा का भी कर्तव्य है कि वह राज्य के दु:खदायक निमित्तों को दूर करके प्रजा की रक्षा करे।[1]

संक्षेप में मालवीय जी का राजनैतिक दर्शन सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही धरातलों पर अहम् भाव से परे एवं निर्भीक था। उनकी रीति-नीति कतिपय प्रश्नों पर अधिक लोचदार थी। इसका कारण उनकी भीरूता न होकर उनकी सूझ-बूझ थी। उन्होंने 1930-32 के राष्ट्रीय संघर्ष के जमाने में जिस प्रकार से देश की सेवा की तथा 1931 में लन्दन की गोलमेज कांफरेन्स में जिस प्रकार उन्होंने गाँधी जी का समर्थन किया, वह उनकी देशभक्ति, त्याग, राजनैतिक सूझ-बूझ और राष्ट्र के आदर्शों के प्रति उनकी दृढ़निष्ठा का उज्ज्वल प्रमाण है। मालवीय जी सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में निर्भीक थे पर वे निराभिमानी थे। इसीलिए वे उस संघर्ष के युग में भी सहयोग की सम्भावनाओं पर विचार करते रहते थे तथा प्रेम और उत्साह से देश तथा समाज की सेवा करते थे।

इस प्रकार राष्ट्रवाद की अवधारणा को पृथक्-पृथक् विद्वानों ने विभिन्न रूपों परिभाषित किया है। महामना मालवीय का राष्ट्रवाद भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में अधिक प्रासंगिक होकर भी राष्ट्रवाद की यथार्थ अवधारणा को व्यक्त करता है। उन्होंने देशहित को सर्वोपरि स्थान दिया। इसके लिए उन्होंने न्यायालयों में नागरी लिपि का प्रयोग, भारतीय क्रान्तिकारियों के सहयोग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में प्रेरणा और सहयोग के साथ ही विश्व के महान विश्वविद्यालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एक विशेष कार्ययोजना, शिक्षा प्रणाली के विकास हेतु स्थापना और इसकी स्थापना से सम्पूर्ण देश में सभी वर्गों और धर्मानुयायियों के सहयोग द्वारा राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के साथ ही उन्होंने प्रेस एक्ट का विरोध, कृषि लगान में कमी की माँग, प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा का विरोध आदि कार्यों द्वारा ब्रिटिश शोषणबाद को खुली चुनौती दी, जिसके परिणामस्वरूप

---

[1] वही, पृ0 111।

ब्रिटिश सरकार की मनमानी नहीं चलने पायी। वे अपने विचारों पर दृढ़ रहते हुए भी विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाने के पक्षधर थे। इस तरह उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की उस अवधारणा का पक्षपोषण किया जो अनेकता में एकता और विश्व बधुत्व के आधार पर अपने राष्ट्र का विकास चाहती है।

राजनीतिक विचार-

यद्यपि मालवीय जी प्लेटो अज्जू अथवा कैटिल्य आदि की भाँति राजनीतिक चिन्तक तो नही थे परन्तु समय-समय पर उन्होनें राजनीति के विषय में अपने विचारों को व्यक्त किया है। इन्हीं विचारों की क्रमबद्ध करने से ाराजनीतिक व्यवस्था, माननीय स्वतंत्रता, समानता, अधिकारी, न्याय राज्य का स्वरूप, राज्य के कार्यक्षेत्र आदि के विषय में उनके चिन्तन को स्पष्ट किया जा सकता है।

मालवीय जी निरंकुशता और परतंत्रता के विरोधी थे। वे वयस्क मतधिकार पर आधारित लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन करते थे। उनका विचार था कि निरंकुश तंत्र तथा विदेशी शासन ऐसे घोर अभिशाप है जो जनता के पुरूषत्व को नष्ट कर देते हैं और जो उसकी नैतिक प्रकृति को बुरी तरह विकृत कर देता है।... पराधीनता से विजयी और विजित दोनों समुदायों में से मनुष्यत्व दूर भागता है - स्वतंत्रता का न होना उन्नति के अवसरों को खोना हैं, उन्नति के अवसरों का खोना अद्यःपतन है और अध पतन मृत्यु के तुलय है।[1]

मालवीय जी मानव का यह पुनीत कर्तव्य मानते थे कि वह दमन, अन्याय और परतंत्रता का विरोध करें वे स्वयं जीवन भर इस कार्य के प्रति समर्पित रहे। उन्होनें अपने जीवन का लक्ष्य न्याय, स्वतंत्रता और जनकल्याण की प्रतिष्ठा घोषित का रखा था। इसके लिए वे जनसंगठन, जनजागृति, जनकल्याण की भावना और जन-आन्दोलन को अत्यंत आवश्यक मानते थे। वे आजीवन अन्याय अन्याय और अव्याख्या से संघर्ष करते रहे, परन्तु अव्यंत विपरीत परिस्थिति में भी उन्होनें दूसरों

---

[1] अम्युदय 19 मई सन् 1912।

के प्रति अपने मन में दुर्भावनाओं को नहीं आने दिया तथा मानवता और सज्जनता का सदैव पालन करते रहे। उन्होंने किसी के लिए अहिकर कार्य करने के बार में सोचा तक नहीं। वे न्याय के प्रति दृढ़ निष्ठा तथा समस्त कार्यो में सदा उसका अनुसरण एक सार्वजनिक कार्यकर्ता का आवश्यक कर्तव्य समझते थे।

मालवीय जी वयस्क मताधिकार तथा संयुक्त निर्वाचन पद्धति के आधार पर जनता द्वारा निर्वाचित सरकार को ही सर्वोच्च समझते थे। वे मताधिकार के लिए जाति, सम्प्रदाय या सम्पत्ति को अनावश्यक मानते थे। उनका विचार था कि "आय और सम्पत्ति का स्वामित्व अनिवार्य रूप से योग्यता और चरित्र का परिचायक नही है नही सम्पत्ति का अभाव सम्मान की कमी का सूचक माना जा सकता है।"[1] एक सत्यस्वहीन व्यम्ति भी सदाचारी, लोकसेवक और जनविश्वास का सुचारू हो सकता है। एक नागरिक के अधिकार उसे उसे वंचित नहीं किया जा सकता। उसे भी सबक तरह राष्ट्र के आदर्शो एवं लक्ष्यों को निश्चित करने तथा सरकार की गतिविधयों का निरीक्षण करने का समान अधिकार है। मालवीय जी यह मानते थे कि पैतृत पद पर आधारित भातरीय समाज में वयस्क मताधिकार सामाजिक विषमता को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा।[2] महामना विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों औरा आर्थि हितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व को राष्ट्रीय एकता तथा स्वतंत्र राजनीतिक जीवन के लिए हानिकर समझते थे। वे चाहते थे कि जनता संकीर्ण जातीय, साम्प्रदायिक या अन्य अलगाव की भावना के बजाय शुद्ध राष्ट्रीय भावना से संयुक्त निर्वाचन पद्धति द्वारा सभी जातियों, सम्प्रदायों तथा हितों से सम्बन्धित सक्षम, सचचरित्र लोक सेवकों का निर्वाचन करें। वे चाहते थे कि विधायक देश-हित की रक्षा तथा जनता की निष्पक्ष सेवा ही अपना कर्तव्य समझें तथ इन्ही कर्तव्यों की पूर्ति के लिए अपने अधिकारों का प्रयोग करें। वे सदैव लोकतांत्रिक मर्यादाओं और भद्रताओं का हर परिस्थिति में पालन करें। समस्त नागरिक, विधायक, अधिकारी

---

[1] कांग्रेस का अध्यक्षीय भाषण सन् 1909

[2] राउण्ड टेबिल कांफ्रेस, दूसरा सत्र, सन् 1931

और कर्मचारी रदेश को स्वतंत्रता, गरिमा और सम्पत्ति की रक्षा को ही अपना प्रधान कर्तव्य माने तथा ऐसे कार्य न को जिससे देश हित को क्षति पहुँचे।

मानवीय स्वतंत्रता के लिए संवैधानिक व्यवस्था द्वारा मौलिक अधिकारों का संरक्षण अनिवार्य होता है और इसके द्वारा ही स्वतंत्र राजनीतिक जीवन का अस्तित्व तथा राष्ट्र की प्रगति सम्भव है। मालवीय जी की मान्यता थी कि ''मनुष्य के पवित्र अधिकार स्वयं परमात्मा ने अपने हाथों से सूर्य की किरणों के रूप में मनुष्य स्वभाव पर अंकित कर दिये है जो किसी मानव की शाक्ति से मिटाये नही जा सकते।''[1] मालवीय जी राज्य में सुव्यवस्थ और शांति की स्थापना के लिए नागरिकों के मौलिक अधिकारों के उपभोग की स्वतंत्रता को आवश्यक मानते थे। परन्तु वे स्वतंत्रता को आवश्यक मानते थे। परन्तु वे स्वतंत्रता के स्थन पर उच्चख्यलता के समर्थक नही थे। वे यह मानते थे कि युद्ध के समय तथा व्यापक राजद्रोहात्मक स्थिति में सैनिक कानून लागू कर नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। पर उनकी राय में ऐसी स्थिति में भी फौजी अदालतों और फौजी कानूनों की मर्यादाओं और सीमाओं का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में भी सरकार द्वारा उतने ही बता के प्रयोग को उचित माना जा सकता है, जिततना शांति की स्थापना के लिए आवश्यक हो। कानून-व्यवस्था बहाल करने के नाम पर अनावश्यक हत्याओं और प्रतिबन्धों द्वारा आतंक की स्थापना उचित नहीं है। सैनिक कानून तभी तक लागू रखा सकता है, जब तक ऐसा नितान्त अनिवार्य हो, उसके बाद उसे जारी रखना अन्याय और अत्याचार है। हत्याओं और आग लगाने के अपराधों की ही जाँच फौज अदालतों में हो सकती है। राजद्रोह और व्यापक फसादों की स्थिति में सरकार का उत्तरदायित्व अवश्य बढ़ जाता है और उसके साथ ही उनके अधिकारों में भी वृद्धि हो जाती है, पर न्याय का पालन करना उनका कर्त्तव्य सैदव बना रहता है।[2] मालवीय जी का मानना था कि मार्शल लॉ के जमाने में किये गये सरकारी अत्याचारों की निष्पक्ष अधिकारिक

[1] प्रोसीडिंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल सन् 1919 पृ0 56
[2] वही

जाँच आवश्यक रूप से होनी चाहिए। उस समय भी निर्दयतापूर्ण व्यवहार अन्याय है और प्रत्येक सरकारी कर्मचारी इस व्यवहार के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है। पीड़ित व्यक्ति को उनके खिलापफ आम योग लगाने ने का अधिकार होना चाहिए। मालवीय जी कहते थे कि "नागरिकों की तरह सैनिकों का भी यह अधिकार है किं वे भी आत्मरक्षा के लिए शस्त्रों का प्रयोग करें तथा जानमाल की रक्षा के आवश्यक उपाय करें, परन्तु यदि सैनिक निहत्थे और विरोध न करने वाले मनुष्यों की हत्या करेगा तो वह हत्या का दोषी होगा और उसके खिलाफ मुकदमा होना चाहिए। दोष के उत्तरदायित्व से दोषी अफसरों को बचाने के लिए क्षमा अधिनियम का प्रयोग हो सकता है परन्तु उइसके लए विधायिका की संतुष्टि आवश्यक है कि मार्शल लॉ की आवश्यकता नितांत अनिवार्य थी। क्षमा सीमाओं का भी निर्धारण होना चाहिय, क्योंकि सभी प्रकार के अपराधों के लिए क्षमा का प्रयोग नही किया जा सकता। (क्षमा का) प्रयोग उन्हीं व्यवहारों के लिए होना चाहि जो व्यक्तिगत द्वेष से प्रेरित न हों, हर प्रकार की सावधानी बरतने के बावजूद भी हो गये हों, या ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्यों के निर्वहन में शांति और व्यवस्था की स्थापना में हो गये हों।[1]

मालवीय जी की मान्यता थी कि लोकतंत्र तभी सफलीभूत हो सकता है जब व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की रक्षा तथा उसके व्यक्तित्व के विकास आवश्यक दशाएं उपलब्ध हों।मालवीय जी राज्य में शांति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए सभी जाति और सम्प्रदाय के नागरिकों को मौलिक अधिकारों को प्रदान करना आवश्यक ामानते थे। धार्मिक स्वतंत्रता भी एक मौलिक अधिकार है। राज्य को अंत:करण की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध नही लगाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह सभी धर्मो के उपासना स्थलों, उपास्य देवों, धर्म गुरूओं तथा धर्मग्रन्थों का आदर की। मालवीय जी धर्म निरपेक्ष राज्य के समर्थक थे। राज्य द्वारा अत: करण का नियंत्रण अमानुविक है। धार्मिक स्वतंत्रता नागरिक स्वतंत्रता का एक

---

[1] वही

अंग है इसलिए मालवीय जी चाहते थे कि इसक़सी सुरक्षा का आश्वासन संवैधानिक उपबन्धों द्वारा दिया जाय, ताकि बहुसंख्यक या अल्पसंख्यक सभी अपने धार्मिक कार्यो को करने में किसी बाधा का आमना न करने पावें। वे चाहते थे कि लोकतांकित भारत - राज्य में सभा नागरिकों को अंतःकरण की, विश्वास की, धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन क्रियाओं के सम्पादन की, और अपने धर्म के प्रचार और प्रसार की पूर्ण स्वतंत्रता हो। धार्मिक आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न होने पाये, किसी के अधिकार प्रतिबन्धत न किये जाय। राज्य का न तो कोई धर्म हो और न राज्य की ओर से किसी धर्म को प्रोत्साहित न करें तथा किसी धर्म को हतोत्साहित भी न करें।[1] स्वतंत्रता के बाद भारतीय में उपरोक्त सभी बातों को स्वीकार का लिया गया है।

मालवीय जी मानीवय स्वतंत्रता, समाज के परिशोधन तथा राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए रचना और संषर्घ दोनों ही माध्यमों का उपयोग करना चाहते थे। किन्तु वे संघर्ष को साध्य नहीं बल्कि रना का ही एक अंग मानते थे। मालवय जी के समस्त संघर्ष स्वयं चरनात्मक भावना से अनुप्राणित तथा वैयक्तिक विशेष या अहंकार से निमुक्त होते थे। उन्होनें सार्वजनिक जीवन में लोकतांत्रिक शील और मयादाओं का पालन आवश्यक माना और स्वयं इसको अपने जीवन में उतारा भी था। वे चाहते थे कि अन्याय का विरोध भी जॅग तक सम्भव हो सके संवैधानिक तरीके से किया जाय तथा कानून की सीमा में रहते हुए किया जाय, इसीलिए उन्होनें असहयोग आन्दोलन का विरोध किया था। लेकिन वे सविनय अवना, अहिसात्मक शांतिपूर्ण प्रतिरोध तथा सत्याग्रह को भी संवैधानिक तरीका ही मानते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग वे उचित मानते थे। जहाँ स्वतंत्रता का दमन हो रहा हो, वहां उसकी (स्वतंत्रता का) रक्षा के लिए तो वे सुसंगठित हिसात्मक विद्रोह को भी न्यायसंगत मानते थे और ऐसी परिस्थिति में उकसा उपयोग आवश्यक एवं उचित मानते थे। इसीलिए उन्होनें क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए

---

[1] प्रोसीडिंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल सन् 1924, जि0 4, पृ0 802–1000 तथा पृ0 1941–431

सरकार को दोषी ठहराया था। आत्मरक्षा के निमित्त वे मानते थे कि हिंसात्मक प्रतिरोध भी किया जा सकता है। फिर भी वे सामान्य रूप से हिंसा, आतंक, तोड़ - फोड़ उद्दंडता आदि कार्यो को ठीक नही समझते थे तथा इसका प्रतिकार करने की सलाह देते थे। मालवीय जी हर प्रकार से मानवाधिकारों की सुरक्षा अनिवार्य मानते थे।[1]

सरकार के स्वरूप के बारे में विचार करते समय मालवीय जी के सामने दो विकल्प थे- अमेरिका की अध्यक्षीय प्रणाली तथा बिटेन की संसदीय प्रणाली / जंग अध्यक्षीय प्रणाली में स्थिरता को महत्व दिया जाता है वही संसदीय प्रणाली उत्तरदायी शासन व्यवस्था के लिए स्थिरता का बलिदान कर देती है। मालवीय जी संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित अध्यक्षीय व्यवस्था की स्थिरता के आदर्श की तुलना में ब्रिटेन में प्रचलित संसदीय व्यवस्था के उत्तरदायित्व के कारण जनता की स्वतंत्रता और उसके अधिकार सुरक्षित रहते हैं, जबकि अयक्षीय व्यवस्था में रिरंकुशता का भय बना रहता है।[2]

इसी प्रकार मालवीय जी एकात्मक व्यवस्था के स्थान पर भरित के लिए संघीय व्यवस्था को अधिक व्यावहारिक मानते थे। वे चाहते थे कि संघीय व्यवस्था के आधार पर राज्य के अधिकारों का विकेन्द्रीकरण किया जाय, जहां प्रांतों को स्थानीय विषयों पर अधिकार हों, और केन्द्रीय सरकार सामान्य विषयों पर कानून बनाने का अधिकार रखे। वे चाहते थे कि दोनों स्वरों (प्रांतीय तथा केन्द्रीय) पर संसदीय व्यवस्था अपनायी जाये, जहाँ मंत्रिमण्डल जनता द्वारा निर्वाचित विधानसभाओं के प्रति उत्तरदायी हो इस व्यवस्था में सरकार के समस्त कार्य जन-समीक्षा के अधीन रहते है।[3]

मालवीय जी संवैधानिक सरकार की स्थापना चाहते थे, जहॉ सरकार के काम-काज कानून के द्वारा नियंत्रित रहते है। वे चाहते थे कि शासन कार्य के

---

[1] वही पृ0 3535–3539
[2] सीताराम चतुर्वेदी महामना पं0 मदनमोहन मालवीय, वहीं, पृ0 142–150
[3] वही

संचालन के लिए लिखित संविधान हो, जिसका निर्माण व्यस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान-सभा करें वे यह मानते थे कि जहां पर अधिकारों के प्रति जनता सदैव जागरूक रहती है, वहां अलिखित संविधान भी सफल हो सकता है, परन्तु भारत जैसे देश में जहां अधिकांश जनता अशिक्षित है, संविधान लिखित ही होना चाहिए। लिखित संविधान में सरकार के कार्य कानून की समीक्षा के अधीन होते हैं। मालवीय जी स्वतंत्र न्यायपालिका के पक्षधर थे। वे कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के पक्षधर थें वे कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का पृथक्करण चाहते थे। उनकी धारणा थी कि प्रशासनिक अधिकारियों के न्यायिक अधिकार स्वतंत्र न्यायालयों को हस्तांतरित का दिये जाये। वे यह भी चाहते थे कि न्यायाधीशों की नियुक्ति प्रशासनिक अधिकारियों में से न की जाय। बल्कि न्यायिक क्षेत्र से ही न्यायाधीश नियुक्त किये जायें। न्यायिक कार्यो में सरकारी हस्तक्षेप न होन पाये, इसके लिए वे चाहते थे कि न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्रदान की जाय।[1]

मानव की स्वतन्त्रता की मांग करन के बाद भी मालवीय जी व्यक्तिवादी विचारक नहीं थे। वे व्यक्तिवाद को लोकतंत्र का अनिवार्य अंश स्वीकार नहीं करते थे। वे तो सामाजिक लोकतंत्र और जनकल्याणकारी राज्य के समर्थक थे। जो अनिवार्यत: व्यक्तिवादी विरोधी विचारधारा है। वे यह मानते थे कि सामाजिक मानव स्वभाव का महत्वपूर्ण और अनिवार्य लक्षण है। वे यह मानते थे कि मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए मानवीय स्वतंत्रताओं की रक्षा के साथ-साथ मानव समाज की पुष्टि और विकास भी आवश्यक है। उनका विचार था कि स्वतंत्रता और सामाजिक उत्तरदायित्व का उचित सामजस्य ही नैतिक और सामाजिक जीवन का मूलाधार है। जिस प्रकार स्वतंत्रता से रहित उत्तरदायित्व दासता को जन्म देता है उसी प्रकार उत्तरदायित्व से विहीन स्वतंत्रता उच्छखलता या निरंकुशता की जननी होती है। उन्होनें बताया कि "भारत के प्राचीन धर्म की शिक्षा है कि प्रत्येक मनुश्य अपने को एक बड़ी समष्टि की इकाई समझकर उसके हित के लिए जीवित

---

[1] प्रोसीडिंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल सन् 1913, जि0 51, पृ0 388–394

रहे और उसी के लिए कार्य करें, लोककल्याण और लोकसंग्रह को परम पुरूषार्थ समझे।[1]

मालवीय जी राज्य का यह कर्तव्य मानते थे कि वह जन-कल्याण की वृद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। उनका विचार था कि " जनता की स्थिति में सुधार ही अच्छी सरकार की कसौटी है और कोई सरकार 'सम्य सरकार' कहलाने का दावा तभी कर सकती है जबकि वह जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्नशील रहे।[2] वे चाहते थे कि जनता के कल्याण के लिए ही वित्त नीति, कर नीति आदि बनायी जाय तथा राजकोष एवं विधितंत्र का प्रयोग भी लोककल्याण की अभिवृद्धि के लिए ही किया जाय। वे चाहते थे कि जनता की स्वतंत्रता के निमित्त का निर्माण हो। सामाजिक न्याय की पुष्टि सरकार का पुनीत कर्तव्य हो तथा सरकार श्रमिकों के अभ्युदय के लिए आवश्य कार्यवाही करें । मालवीय जी चाहते थे कि दुर्दिन की स्थिति में सरकार जनता की सहायता करें तथा अपने शक्ति और संसाधनों का प्रयोग जनता की स्थिति में सुधार के लिए करें ताकि जनता की क्षमता में वृद्धि हो सके। सरकार अपने कार्यो द्वारा लोगों के मस्तिष्क को ज्ञान से प्रदीप्त करें, उनमें विवेक का विकास करें, उनके घरों के परिवेश को सुधारे तथा उनमें जीविका के नये स्रोतों को अपनाने की क्षमता पैदा करें, जिससे लोग सम्यता का विकास कर सुखी जीवन व्यतीत कर सके।[3]

मालवीय जी की विचार दृष्टि राष्ट्रीय सीमा में आबद्ध नही थी, बल्कि वे अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर भी अपना विचार व्यक्त करते रहते थे। वे राष्ट्रपति विल्सन के चौदर सूत्रीय कार्यक्रम पर विश्वास करते थे। वे चाहते थे कि इन कार्यक्रमों के आधार पर संसार में विश्वन्याय और शांति की स्थापना की जाय। वे अंतर्रांट्रीय कानूनों की सर्वमान्यता में विश्वास रखते थे और चाहते थे कि कतिपय अंतर्राष्ट्रीय शर्तो के अधीन समुद्रों की स्वतंता बनी रहे। उनका विचार था कि राष्ट्रीय रक्षा

[1] सन् 1904 में विश्वविद्यालय की योजना के प्रारूप पर विचार ।
[2] प्रांतीय कौंसलिंग में भाषण सन् 1907, इलाहाबाद, दी सुपरिनटेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट प्रेस 1907।
[3] वही सन् 1908

और सुरक्षा की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय सेना और युद्ध सामगियों में कटौती की जाय। वे चाहते थे कि सभी शान्तिप्रिय राष्ट्रों को व्यापार में समानता का व्यवहार करना चाहिये। समस्त औपनिवेशिक प्रश्नों का समाधान जनता की सम्प्रभुता और कल्याण के आधर पर किया जाना चाहिए। विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्र की भूमि को स्वतंत्र करें। छोटे या बड़े सभी राष्ट्रों की राजनीतिक स्वतंत्रता का सम्मान किया जाय। सभी राष्ट्रों की भू-क्षेत्रीय आवश्यकता सुनिश्चित की जाय। मालवीय जी का विचार था कि इन समस्त कार्यो की देख-रेख के लिए सभी राष्ट्रों के संघ का संगठन किया जाय।[1]

मालवीय जी अधिकारों की मांग करने के लिए जनता को उद्रलित करते थे। वे कहते थे कि "किसी मनुष्य अथवा किसी जाति की तब तक उन्नति नही हो सकती, जब तक वह अपनी वर्तमान दशा से असंतुष्ट होकर उसे सुधाने का प्रयत्न क रकें।[2] प्रत्येक देश या जाति का अभ्युदय मूलरूप से उसकी प्रजा के आत्मपैरूष पर निर्भर है।[3] वे चाहते थे कि लो अपने अधिकारों के लिए मर्यादा के साथ आन्दोलन करें।[4] और अकारण ऐसा कार्य न करें जिससे जनता और सरकार के बीच वैभव पैदा हो।[5]

मालवीय जी के विचारों में सच्ची देशभक्ति ही राजभक्ति है।[6] समस्त राजभक्तों का यह कर्तव्य ही राजभक्ति दिलवाने में देशभक्ति का पहले ध्यान रखें और राजा को उसी मार्ग पर लायें जिससे उसके देश और प्रजा का भला हो।[7] शासक और राजा के कर्तव्य बोध पर मालवीय जी ने लिखा है-' 'प्रजा के सुख में राजा का सुख, प्रजा के दु:ख में राजा का दु:ख, प्रजा की उन्नति में राजा की उन्नति और प्रजा की अवनति में राजा की अवनति है। राजा का यह प्रधान कर्तव्य

[1] कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन सन् 1928 का भाषण।
[2] मालवीय जी के लेख वहीं पृ0 51
[3] वहीं पृ0 6
[4] वहीं पृ0 15
[5] वहीं पृ0 7
[6] वहीं पृ0 111
[7] वहीं ।

है कि वह देश के कल्याण का सदैव ध्यान रखे। जिस प्रकार एक कृषक अपने खेत में खर-पतवार काटकर अपने खेत के पौधों की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा का भी कर्तव्य है कि वह राज्य के दु:खदायक निमित्तों को दूर करके प्रजा की रक्षा करें।[1]

संक्षेप में मालवीय जी का राजनैतिक दर्शन सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही धरातलों पर अहम् भाव से परे एवं निर्भीक था। उनकी रीति-नीति कतिपय प्रश्नों पर अधिक लोचदार थी। इसका कारण उनकी भीरूता न होकर उनकी सूझ-बूझ थी। उन्होनें 1930-32 के राष्ट्र संघर्षो के जमाने में जिस प्रकार से देश की सेवा की तथा 1931 में लन्दन की गोलमेज कांफरेन्स में जिस प्रकार उन्होंने गाँधी जी का समर्थन किया, वह उनकी देशभक्ति, त्याग, राजनैतिक सूझ-बूझ और राष्ट्र के आदर्शो के प्रति उनकी दृढनिष्ठा का उज्वल प्रमाण है। मालवीय जी सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में निर्भीक थे पर वे निराभिमानी थे। इसीलिए वे उस संघर्ष के युग में भी सहयोग की सम्भावनाओं पर विचार करते रहते थे तथा प्रेम और उत्साह से देश तथा समाज की सेवा करते थे।

* * * * *
* * *
*

[1] वहीं पृ0 111

आदि कार्यों द्वारा ब्रिटिश शोषणबाद को खुली चुनौती दी, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार की मनमानी नहीं चलने पायी। वे अपने विचारों पर दृढ़ रहते हुए भी विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाने के पक्षधर थे। इस तरह उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की उस अवधारणा का पक्षपोषण किया जो अनेकता में एकता और विश्व बधुत्व के आधार पर अपने राष्ट्र का विकास चाहती है।

* * * * *
* * *
*

अध्याय - ४

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के उन्नायक: महात्मा गाँधी एवं महामना मालवीय जी।

भारतीय राजनीतिक चिन्तक के उन्नायक : महात्मा गाँधी एवं महामना मालवीय जी

महात्मा गाँधी और मालवीय जी दोनों ही समकालीन थे। इनमें गहरी आत्मीयता थी, जैसे खून का रिश्ता हो। थोड़ा - बहुत सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक बातों में मतभेद के बावजूद वे भ्रातृत्व भाव के अनमोल उदाहरण थे। मालवीय जी के आदर्श पुरूष भगवान श्री कृष्ण थे तो महात्मा गाँधी के भगवान श्री राम। दोनों अहिंसा के प्रेमी थे, किन्तु भारतीय जीवन दर्शन से पूर्णतया प्रभावित होने के कारण मालवीय जी जहाँ अहिंसा के साथ-साथ हिंसा के समर्थक बन जाते थे, वहीं महात्मा गाँधी पाश्चात्य दर्शन, मुख्यतः टालस्टाय से प्रभावित होने के कारण अपने अहिंसावाद के अन्तर्गत गाली को भी हिंसा समझते थे। वे अपने सिद्धान्त को लची नही बनाना चाहते थे, यद्यपि 1942 की अगस्त क्रांति में उन्होंने मजबूर हो कर 'करो या मरो' का नारा दिया। महात्मा गाँधी की अहिंसा भारत के लिए कोई नवीन बात नहीं है। जैन धर्म से बढ़कर दुनियाँ में दूसरा अहिंसावादी धर्म कोई नही है, जो जीवन मात्र के प्रति करूणाशील है। वैदिक काल में ही भारतीय संस्कृति पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी और अपनी इसी संस्कृति के बल पर भारत ने विश्वगुरू की उपाधिक प्राप्त की। इस संस्कृति की विशेषताओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि सिर्फ अहिंसा का पालन करना, खतरे को आमंत्रित करना है। हमारा धर्म अहिंसा पर बल देता है, परन्तु, आत्म-रक्षार्थ अपने धर्म, संस्कृति एवं राष्ट्र के रक्षार्थ अगर शत्रुओं की हिंसा करना आवश्यक हो जाय, तो उससे पीछे हटना ही अधर्म है, और वहाँ हिंसा करना हमारा धर्म बनता है।

महात्मा गाँधी मालवीय जी से उम्र में आठ वर्ष छोटे थे और उन्हें 'बड़ा भाई' कह कर पुकारते थे। मालवीय जी भी उन्हें छोटे भाई जैसा स्नेह देते थे। इस रिश्ते के पीछे एक ऐतिहासिक कारण था। हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के

बाद महात्मा गाँधी जब पहली बार विश्वविद्यालय आ रहे थे तब मालवीय जी अपने कुछ शिक्षार्थियों के साथ रेलवे स्टेशन पर महात्मा गाँधी के स्वागत में पहुँचे। गाड़ी आने के बाद महात्मा गाँधी तीसरे दर्जे के डिब्बे से उतरे और स्वागत सम्मान की ओर तनिक भी ध्यान दिये बिना, वे सीधे मालवीय जी के पास पहुँचे और उनके चरणों में गिर गये। सब लोग आश्चर्य चकित थे, स्वयं मालवीय जी भी घबड़ा गये। उन्होंने महात्मा गाँधी को गले से लगा लिया और बोले, "आप यह क्या कर रहे हैं।" गाँधी जी ने कहा, "वही कर रहा हूँ, जो मेरा धर्म है, अपने बड़े भाई, देश के एक महान तपस्वी, सेवक और पूज्य ब्राह्मण को प्रणाम कर रहा हूँ।" मालवीय जी ने तुरन्त कहा, "इनमें से केवल प्रथम विशेषण स्वीकार है मुझे।" 'यही सही' कह कर महात्मा गाँधी मुस्कराने लगे। तब से मालवीय जी महात्मा गाँधी के बड़े भाई बन गये।[1]

सितम्बर 1920 कांग्रेस का जब विशेष अंधिवेशन कलकत्ता में चल रहा था, उस समय महात्मा गाँधी ने कहा था, "पं0 मदन मोहन जी का नाम तो जनता पर जादू कर देता है, जब से मै हिन्दूस्तान आया, तब से मेरा उनसे गहरा परिचय है। उनके साथ मेरा बहुत समागम है, और उन्हें भली-भाँति जानता हूँ। कट्टर एवं पुराने विचार के होते हुए भी उनके विचार समाज के पक्ष में बड़े उदार हैं, हममें सगे भाई से बढ़ कर प्यार है।"[2]

महात्मा गाँधी का मालवीय जी से प्रथम साक्षात्कार सन् 1890 में, लन्दन से निकलने वाले डिग्वी महोदय के पत्र, 'इंडिया' में छपे एक चित्र के द्वारा हुआ था। सितम्बर 1931 के अपने एक पत्र में इसकी सूचना देते हुये गाँधी जी ने लिखा है "- मैं तो मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ। पुजारी कैसे स्तुति के वचन लिख सके? जो कुछ लिखेगा, उसे अपूर्ण प्रतीत होगा।.... आज मालवीय जी

---

1 शिव शंकर मिश्र, विश्व ज्योति पृष्ठ - 48।

2 महात्मा गाँधी, आत्मकथा, अहमदाबाद, नवजीवन, 1927।

के साथ देश भक्ति में कौन मुकाबला कर सकता है.....।[1] अपनी आत्मकथा में एक जगह लिखते हैं- "मालवीय जी के साथ रोज संवाद हुआ करता था, और वह मुझे सभी पक्षों की बातें उसी तरह प्रेम पूर्वक समझाते, जैसे कि एक बड़ा भाई छोटे को समझता है।[2]

सादगी के मामले में मालवीय जी और महात्मा गाँधी दोनों अतुलनीय थे, महात्मा गाँधी की सादगी कुछ अधिक थी। एक धोती से पूरा शरीर ढके, बेहिचक किसी भी सभा सम्मेलन में या यात्रा पर निकल जाते । लन्दन गोल मेज सम्मेलन में भी वे अपने इसी चर्चित वेश में आ गये थे। वहाँ ढंड अधिक थी, मालवीय जी को यह चिन्ता बनी रहती थी कि महात्मा गाँधी को कुछ हो न जाय, उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना भी की कि अगर कुछ हो तो मुझे हो, गाँधी जी को न हो। अपनी स्वेच्छा से स्वीकार की हुई इस गरीब वेश-भूषा से देशवासियों को सादा जीवन उच्च विचार का संदेश देने वाले महात्मा गाँधी की विनम्रता यह थी कि, वे उल्टे मालवीय जी की सादगी पर मुग्ध थे। अपनी 'आत्मकथा' में लिखते है, "उनकी सादगी की झलक मुझे काशी में विश्वविद्यालय शिलारोपण के समय हुई थी। परन्तु इस समय तो उन्होंने मुझे अपने ही कमरे में स्थान दिया था। इसलिये मैं उनकी सारी दिनचार्या देख सका और मुझे आनन्द के साथ आश्चर्य हुआ था। उनका कमरा मानो गरीब की धर्मशाला थी। उसमें कहीं भी रास्ता नहीं छुटा था, जहाँ वहाँ लोग डेरा डाले हुये थे। न उसमें एकान्त की गुजाइश थी और न फैलाव की। जो चाहता, वहाँ आ जाता और उनका मनमाना समय ले जाता। इस दरबे के एक कोने में मेरा दरबार अर्थात् खटिया लगी हुई थी।" अपने इक्कीस दिन के उपवास में जब भारत भूषण पं0 मदन मोहन मालवीय के श्रीमुख से मूल संस्कृत के कितने ही अंश मैंने सूने तब मुझे ऐसा लगा कि बचपन में यदि उनके

---

1 मालवीय कामेमोरेशन बाल्यूम, 1961 ।

2 महात्मा गाँधी, आत्मकथा, वही ।

सदृश्य भगवत्भक्त में मुँह से भगवत् कथा सूनी होती, तो बचपन में ही मेरी गाढ़ प्रीति उस पर जम जाती। मै अच्छी तरह से इस बात का अनुभव करता हूँ कि बचपन में पड़े शुभ अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते हैं और इसलिये यह बात अब मुझे बहुत खल रही है लड़कपन में कितने ही अच्छे ग्रन्थों का श्रवण पाठन न हो पाया।[1]

गाँधी जी ने मालवीय जी की देशभक्ति की बड़ी प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है कि देश-सेवा ही मालवीय जी का भोजन है। वे इसे कभी नहीं छोड़ सकते। जिस तरह 'भगवद्गीता' का नित्य पाठ छोड़ना उनके लिए अंसभव है, उसी तरह देश-सेवा भी उनके जीवन में साँस की तरह ओत-प्रोत है। इसीजिए जब तक उनके शरीर में साँस है, तब तक देश-सेवा होती रहेगी और कौन जानता है कि वे इसे अपने साथ स्वर्ग में भी ले जायँ।।[2] लेकिन मालवीय जी तो देश की जनता के कल्याण के लिए इतने तत्पर थे कि उन्हें स्वर्ग की भी कामना नहीं थी उनका तो कहना था कि ''मुझे न तो राज्य की कामना है, न स्वर्ग की और न मोक्ष की। मेरी बस एक ही कामना है, पुन: जन्म लेकर दु:ख से त्रस्त जनता के दु:ख दूर करूँ, अँधेरी आँखों को रोशनी दूँ।''[3] इन दोनों महापुरूषों की तुलना नहीं की जा सकती, फिर भी कुछ तत्कालीन विद्वानों एवं महानुभावों ने इन दोनों महापुरूषों के व्यक्तित्व एवं विशाल दृष्टि के बारे में कुछ विचार व्यक्त किये हैं, उनका उल्लेख करना प्रासंगिक होगा-

डॉ0 शांतिस्वरूप भटनागर ने लिखा है- ''द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (1932) के समय मैं लंदन में था। महात्मा गाँधी और मालवीय जी दोनों उस सम्मेलन में उपस्थित थे। जब सम्मेलन लगभग सम्पन्न हो गया, तब मेरे एक मित्र डॉ0

---

1 महात्मा गाँधी : आत्मकथा नही।

2 विश्वज्योति, वही-1962।

3 मालवीय कामोमोरेशन वाल्यूम, 1931। वाराणसी बी0एच0यू., 1966 ।

एस0के0 दत्त ने एक सी0आई0डी0 अधिकारी से, जो इन अतिथियों की सुरक्षा तथा सुख सुविधाओं की देख-रेख के लिए नियुक्त था, पूछा कि इन दो महान् भारतीय नेताओं के विषय में वह क्या सोचता है ? उसने उत्तर दिया - महान लोगों की तुलना करना थोड़ा कठिन है। गाँधी निःसंदेह गाँधी जी हैं, किन्तु पं0 मालवीय जी की आँखों में स्वयं ईश्वर जैसी कोई चीज दिखाई पड़ती है।''[1]

कुछ इसी प्रकार का विचार गया प्रसाद शास्त्री ने व्यक्त किया है- ''लंदन की गोलमेज कॉन्फ्रेंस में यदि महात्मा गाँधी दरिद्र और दलित भारत के एक दरिद्रनारायण के प्रतीक के रूप में उपस्थित हुए थे, तो महामना मालवीय जी आध्यात्मिक भारत के धर्म, सदाचार, संस्कृति सभ्यता तथा मानवता की प्रतिमूर्ति या प्रस्तोता के रूप में। वे एक आदर्श राजनीतिज्ञ थे और धर्महीन राजनीति को पापों का गर्त मानते थे। उनका धर्म संकुचित और मजहब परस्त नहीं था, वह व्यापक था मानवता एवं विश्वबंधुत्व का आधार था।''[2]

विदेशी पत्रकार एलेन विल्किंसन ने दोनों महापुरूषों के बारे में अपना दृष्टिकोण इस प्रकार व्यक्त किया है- ''पं0 मालवीय के प्रति मेरी अत्यंत सौहार्द्रपूर्ण स्मृतियां हैं, ये सौहार्द उनके उत्कृष्ट मन एवं पवित्र हृदय के पुष्प हैं। पं0 मदन मोहन मालवीय के समक्ष उपस्थित होने पर मुझे अत्यंत्र पवित्रता का अनुभव हुआ, जैसे उनके हृदय से कोई दिव्य ज्योति विकीर्ण हो रही है। उनका मझोला कद, सौम्य मुखाकृति और मुलायम शुभ्र ऊनी वस्त्र जैसे कि अपवित्रता की एक हल्की छाया का आभास मात्र से प्रकंपित हो उठे, यह सब महात्मा गाँधी की मुस्कुराती मानवीयता से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि वे (गाँधी जी) किसी के साथ वैसे ही बात करते थे, जैसे एक राजनीतिज्ञ दूसरे राजनीतिज्ञ के साथ बात करता है। गाँधी जी का राजनीति विषयक ज्ञान सूक्ष्म तथा रूचि व्यापक है। पं0 मालवीय जी के सम्पर्क

---

1 डा0 एस0एस0 भटनागर हिस्ट्री ऑफ दी बी0एच0यू0 पृ0 6721।

2 विश्व ज्योति वही- पृ0 23।

में मैंने हमेशा अनुभव किया कि वे इन सब सांसरिक (राजनीतिक) बातों से इस तरह उदासीन हैं, जैसे यह सब स्वयं संचालित होता रहता है।[1] मिर्जा इस्माइल ने मालवीय जी के बारे में लिखा है- ''मालवीय जी के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा गुण जिसने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया, वह है, उनकी मानीवयता निःस्वार्थ सेवा और उच्च नैतिक मूल्यवत्ता। पं0 मालवीय जी शुरू से अंत तक केवल भारतीय थे।।''[2]

पं0 सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है- ''मालवीय जी महाराज का धैर्य अद्‌भुत था। उनका कोई कितना भी समय नष्ट क्यों न करे, वे किसी को 'नहीं' नहीं कहते थे। गाँधी जी का अभ्यास था कि वे जिसको जितना समय देते थे, उससे अधिक यदि कोई बैठा रह जाता तो वे स्वयं अपने मुँह पर कपड़ा डालकर बैठ जाते। झख मारकर आगन्तुक को चला जाना पड़ता। पर मालवीय जी तो अत्यंत धैर्यपूर्वक स्थिर होकर वक्ता को बोलते रहने देते थे, न टोकते थे न जाने को कहते थे।[3]

महामना से जो भी मिलने आता था, वे उससे अवश्य मिलते थे, चाहे वे कितने भी विमस क्यों न हों।[4] महात्मा गाँधी से मिलने का जिनको सौभाग्य मिला है, वे जानते है कि उनसे मिलने में कितनी कठिनाई होती थी। हिन्दी के आग्नेय कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने तो लिख ही दिया है- बैठे-बैठे मुर्दा भजन गाने के लिए फुर्सत है, किन्तु इस हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति को एक हिन्दी के कवि से मिलने की फुर्सत नहीं।[5]

---

1 एलेन विल्किंसन (फाम-ए 'बुकलेट' होमेज टू मालवीय जी वी0ए0सुन्दरम) वाराणसी,बी0एच0यू0,1948।

2 महामना मालवीय बर्थ सेनेटरी कॉमेमोरेशन वाल्यूम वाराणसी, बी0एच0यू0, 1961 पृ0 50 ।

3 प्रज्ञा, हीरक जयन्ती अंक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, 1976-77 पृ0 136 ।

4 जीवन झलकियां, वही, पृ0 57-58

5 दृष्टव्य- 'प्रबन्ध प्रतिमा' में 'चराखा' शीर्षक निबन्ध वही।

श्रीमती सरोजनी नायडू ने लिखा है-"पं0 मालवीय जी की महानता निर्विवाद थी।उनकी मधुरता तथा भद्रता अवर्णनीय थी। अपनी शिष्ता के लिए पूरे विश्व में विख्यात एक और व्यक्ति थे, जिन्हें महात्मा गाँधी नाम से पुकारा जाता था, किन्तु पं0 मालवीय जी हृदय से एक हिन्दू, एक राष्ट्रवादी और एक महान् मानवतावादी थे।"[1] इगर स्नो (न्यूयार्क से निकलने वाले अँग्रेज़ी पत्र 'सन' के संवाददाता) ने 28 जून, 1931 को बम्बई की एक प्रेस कांफ्रेस में कहा था- "मालवीय जी असाधारण विद्वान है। यद्यपि उन्होंने पश्चिम के अधिकांश गम्भीर दार्शनिकों का बारीकी से अध्ययन किया है, किन्तु जो उदात्तता और राहत भारतीय दार्शनिकों के यहाँ मिलती है वह अन्यत्र नहीं।[2]

सी0वाई चिन्तामणि ने लिखा है-"अगर मिस्टर मोहनदास करमचन्द्र गाँधी, महात्मा गाँधी कहे जा सकते है, तब पं0 मदन मोहन मालवीय निश्चिम रूप से धर्मात्मा पं0 मदन मोहन मालवीय कहे जा सकते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ब्रिटिश अधिकारियों के बीच गाँधी जी को 'मिस्टर गाँधी' तथा मालवीय जी को 'पंडित मालवीय' नाम से संबोधित किया जाता था। अगर इस सम्बोधन का यह अर्थ लगाया जाय कि एक को अंग्रेजी निगाह से देखा जाता था और दूसरे को भारतीय दृष्टि से तो गलत न होगा। "एक दिन बिड़ला हाउस, बम्बई में पूज्य मालवीय जी ने एक पत्र प्रसिद्ध बैरिस्ट श्री एम0आर0जयकर के नाम लिखा। लिफाफे पर मुझे उनका पता लिखने का आदेश मिला। मैंने लिखा-'मिस्टर एम0 आर0 जयकर' । पंडित जी की पैनी दृष्टि से ये शब्द छिपे नहीं रहे। उसी समय साधु शब्दों में बोल पड़े- 'मिस्टर' शब्द अंग्रेजी में मोची जैसे वर्ग वालों के लिए प्रयुक्त होता है। भद्र पुरूषों के लिए नाम के आगे श्रीयुक्त - बोधक 'स्क्वायर'

---

1 सोबनायर बर्थडे से सेन्टेनरी, 25 दिसम्बर, 1961 कलकत्ता, ओल्ड स्टूडेन्ट्स एसोसिएशन् 1961 ।

2 मालवीय कॉमेमोरेशन वाल्यूम, वाराणसी बी0एच0यू0 1932, पृ0 150 ।

शब्द का प्रयोग होना चाहिए।''[1] एक बार पंजाब के शायर मुहम्मद इकबाल ने महामना पर कटाक्ष किया-

''कर चुके खिदमत बहुत कुछ कौम की,
देखिये होते हैं कब 'सर' मालवी''।
किसी अज्ञात शायर ने इसका उत्तर दिया-
''आके मैंदा में वह कब पीछे हटे,
किस तरह बन जायेंगे 'सर' मालवी।
सरदार अमर सिंह ने और भी जोरदार शब्दों में उत्तर दिया-
''मालवी के हिजो से वो 'शायर-ए-पंजाब' अब,
खानबहादुर जो न हो सकते थे,' 'सर' हो जायेंगे।
इनकी शेरों में मजमत मालवी की देखकर,
खुद अराकाने हुकूमत सर-ब-सर हो जायेंगे।
मालवी को आज तक कोई नहीं सर कर सका,
उनसे लड़ने में यकीनन आप 'सर' हो जायेंगे।''

इस 'सर' के पीछे छिपे हुए निहितार्थ को स्पष्ट करते हुए ज्योतिभूषण गुप्त ने लिख है- एक दिन भोजनोपरान्त महामना विश्राम कर रहे थे कि मै पहुँच गया। उन दिनों वे 'सेवा उपवन' (काशी) में बाबू शिव प्रसाद गुप्त के पास रहते थे। मै प्रणाम कर बैठा, तो वे मेरा हाथ पकड़कर बोले- 'नाईट हुड' के लिए क्या कहते हो? मै समझ गया कि 'सर' की उपाधि के लिए सरकार ने रूख देखा है। कुछ क्षण ठहरकर मैने कहा- ''महाराज! मुझे तो महामना पंडित ही अच्छा लगता है। वे मुस्कराते हुए बोले देखो फिर पछताओगे तो नही? मैने दृढ़ता से कहा- 'नहीं'। अपने मन की बात मेरे मुख से कहलवा ली। मैने कहा कि सम्मान सहित 'डॉ0' की उपाधि कोई विश्व विद्यालय दे तो लेनी होगी। उत्तर मिला- 'डॉ0' की पदवी

---

1 चन्द्रबली त्रिपाठी, मालवीय जी: जीवन झलकियाँ वही पृ0 114 ।

कभी न लूँगा। मैंने पिता जी को बचन दिया था संस्कृत में एम0ए0 करने का, उसे पूरा न कर सका, अब कोई उपाधि न लूँगा। हुआ ऐसा ही, सर आशुतोष मुखर्जी ने जब 'डॉ0' की उपाधि लेने के लिए निमंत्रण दिया, तो महामना ने उत्तर तक न दिया और मुखर्जी महाशय को बहुत अप्रसन्न कर दिया।[1]

आचार्य जे0बी0 कृपालानी ने लिखा है कि- सन् 1918 में जब मालवीय जी ने अपने राजनीतिक कार्य के लिए एक सचिव की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए गाँधी जी को पत्र लिखा उस समय मैं गाँधी जी के साथ बम्बई में था। उस वर्ष मालवीय जी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के सभापति चुने गये थे। गाँधी जी ने मेरा नाम सुझाया और मैं इलाहाबाद के लिए ट्रेन में सवार हो गया। राजनीति में रूचि रखने वाले मेरे जैसे युवा के लिए यह एक महत्वपूर्ण अवसर था। उनमें उत्कृष्ट देशभक्ति की भावना लबालब भी थी। वे भारतीय संस्कृति के साक्षात अवतार तथा भद्रता की अप्रतिम प्रतिमूर्ति थे। गांधी जी के साथ उनका खून के रिश्ते ही तरह भाई-भाई का सम्बन्ध था। मुसलमान उन्हें अक्सर परेशान करते थे, किन्तु मैं व्यक्तिगत तौर पर जानता हूँ कि वे हृदय से दृढ़तापूर्वक हिन्दू-मुस्लिम एकता की वकालत करते थे।[2]

महामना के व्यक्तित्व और वक्तृत्व की काफी प्रशंसा की गयी है। एन0के0 मुकर्जी ने बताया है- ''मेरी दृष्टि में अपनं समय के समस्त राजनीतिज्ञों में वह सबसे अधिक ज्ञानशील थे। उनका समस्त जीवन अपने आपको सार्वजनिक जीवन के उपयुक्त बनाने के एकमात्र उद्देश्य से प्रभावित था। सभी मंच पर उनकी उपस्थित अत्यंत भावपूर्ण होती थी। चाहे व्यवस्थापिका भवन हो चाहे सार्वजनिक सभा, उनके भाषण सरकारी अन्यायो, धृष्टताओं और संगठित ढोंगों पर जोरदार हमला करने वाले होते थे। बोलते समय वे भावपूर्ण अंग-विक्षेप बहुत कम करते थे, कभी-कभी केवल हाथ ऊँचा उठाते थे। लार्ड रीडिंग ने एक बार कहा भी था - मालवीय जी

---

1 प्रज्ञा, वही 1961, पृष्ठ 30 से 31 ।

2 जे0 बी0 कृपलानी, मालवीय कॉमेमोरेशन वाल्यूम, 1961, पृ0 42-44 ।

की रजत आवाज उनके प्रभाव का मूल स्रोत थी, वे अपने व्याख्यानों को शायद ही कभी तैयार करते रहे हों और इस मान्यता के प्रकट उल्लघंक थे कि - सार्वजनिक वक्ता को अपना भाषण पहले ही सावधानी से तैयार कर लेना चाहिए और सुन्दर अंशों को कंठस्थ कर लेना चाहिए। जब वह बोलते थे तो श्लोक अपने आप चमक उठते थे। रौलट बिल पर भीषण प्रहर करते समय उनका कहना था- बिल अन्यायपूर्ण, स्वतंत्रता के सिद्धान्त के विपरीत और व्यक्ति के अधिकारों को कुचलने वाला है, तो आज तक भी जब कि हम स्वतंत्र हो चुके हैं नहीं भुलाया जा सकता। वर्षो तक ये शब्द जब कभी कोई राजनीतिज्ञ किसी अप्रगतिशील कानून की निन्दा करना चाहते। जुबान पर रखते थे।''[1]

जालियाँ वाला बाग हत्याकाण्ड के बाद जब पंजाब की जनता पर अतिशय जुल्म ढाये जाने लगे और महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेताओं के पंजाब प्रवेश पर रोक लगा दी गयी थी। ऐसे समय में मालवीय जी ने पंजाब की जनता का साथ देने का संकल्प लिया तथा उन्होंने इलाहाबाद में, जहाँ वे उन दिनों रहते थे, घोषणा कर दी कि निजी तौर पर जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड की जाँच करने के लिए पंजाब तथा सीमा प्रान्त का दौरा करेंगे। उन्होंने अपने इस विचार की सूचना वायसराय, पंजाब सरकार तथा सीमाप्रान्त के चीफ कमिश्नर को भेज दी। ट्रेन से यात्रा करते समय उन्हें अमृतसर से पहले ही अम्बाला रेलवे स्टेशन पर शाम के समय जगाकर पंजाब सरकार की ओर से यह आदेश दिया गया कि वे पंजाब में प्रवेश न करें। परन्तु उन्होंने स्पष्ट कर दिया ''जब तक मुझे गिरफ्तार करके गाड़ी से न निकाल दिया जाये, मैं न तो गाड़ी से उतरूँगा और न वापस जाऊँगा'' और सरकार उन्हें गिरफ्तार करने का साहस न कर सकी। यह उल्लेखनीय है कि गाँधी जी भी इसी तरह अहमदाबाद से पंजाब आ रहे थे, उन्हें दिल्ली स्टेशन पर ऐसा ही एक आदेश मिला और वे साबरमती आश्रम लौट गये।[2]

---

1 ईश्वरी प्रसाद वर्मा, मालवीय जी के सपनों का भारत दिल्ली, सस्ता साहित्य केन्द्र, 1967 ।

2 उमेश दत्त तिवारी: भारत भूषण महामना पंडित मदन मोहन मालवीय, पृ0 43।

मालवीय जी के अमृतसर प्रवास के बाद कुछ ही दिनों परिस्थित काफी हद तक बदल गयी मार्शल-लॉ वापस ले लिया गया। लोगों में उत्साह तथा नये जीवन का संचार एवं राष्ट्रीय चेतना का उदय इस समय जितना देखने को मिला वैसा पहले कभी भी नहीं देखा गया था।

सन् 1919 में मार्शल-लॉ की समाप्ति के बाद जबकि साम्राज्यीय विधान सभा के अधिकांश सदस्य, ब्रिटिश पार्लियामेंट की सम्मिलित चयन समिति के समक्ष भारतीय दृष्टिकोण रखने के लिए इंग्लैंड गये हुए थे, मालवीय जी ने अकेले दम पर सत्ताधारी ब्रिटिश सरकार का मुकाबला किया। मालवीय जी तीन दिन तक जनरल डायर के पंजाब में किये जुल्म पर लगातार भाषण देते रहे। इस भाषण के सम्बन्ध में कुछ तथ्य नोट करने के अलावा बाकी सारा भाषण उन्होंने बिना किसी पूर्व तैयारी के दिया। महत्वपूर्ण बात यह थी कि इतने लम्बे भाषण में भी उन्हेंने किसी बात या उक्ति की पुनरावृत्ति नहीं की। मालवीय जी ने जनरल डायर के अत्याचारों पर इतना प्रभवकारी भाषण दिया कि सरकारी सदस्य भी कई बार रो पड़े। और खचाखच भरी हुई दर्शक दीर्घा में कुछ महिलायें, जिनमें कई सरकारी सदस्यों तथा अधिकारियों की पत्नियां थीं, बेहोश हो गयी। जब मालवीय जी के आरोपों का उत्तर देने की सरकार की बारी आयी, तो सरकारी प्रवक्ता ठोस एवं युक्ति-युक्त उत्तर के स्थान पर अशिष्ट शब्दों पर उतर आये। सरकारी प्रवक्ताओं में सर माइकेल ओडायर भी थे, जिनसे मालवीय जी की कई झड़पे हुई। सरकारी पक्ष की उक्तियों तथा तथ्यों पर इंग्लैण्ड तथा भारत के अंग्रेजी समाचार-पत्र काफी निराश हुए। उस समय केन्द्र सरकार के गृह सदस्य सर विंसेन्ट स्मिथ की पत्नी ने यह कहा कि "मेरे पति पण्डित का मुकाबला नहीं कर सकते (ब्रिटिश अधिकारी वर्ग में मालवीय जी को 'पण्डित' नाम से पुकारा जाता था) कई समाचार पत्रों ने मालवीय जी की तुलना ग्लेडस्टन तथा डिजरायली से की। उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि एक व्यक्ति जो न तो अँग्रेज है और न ही जिसकी

मातृभाषा अंग्रेजी है, किस तसह अँग्रेजी में ऐसी धारा प्रवाह वक्ता दे सकता है तथा बिना तैयारी के किसी विषय पर इतनी गहराई, इतनी बारीकी और इतने विस्तार के साथ लगातार इतने समय तक भाषण दे सकता है?[1]

इन्डेमनिटी बिल का जोरदार शब्दों में विरोध करते हुए मालवीय जी ने परिषद का ध्यान सरकारी अधिकारी द्वारा घटित अन्यायपूर्ण घटनाओं और कुचक्रों की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने बताया कि सिपाहियों ने किस तरह न्याय, कानून और इन्सानियत की अवहेलना करते हुए बिना किसी चेतावनी के जालियां वाला बाग में एकत्रित निहत्थी जनता पर गोली चलायी और सैकड़ों लोगों, जिनमें नवयुवक, बच्चे, बूढ़े, महिलाएं सभी शामिल थे, को भून डाला, तथा आहतों की चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नही किया। उन्होंने बताया कि गुजरांवाला में जनता पर बम गिराये गये। लाहौर में विद्यार्थियों पर घोर अत्याचार किये गये। उन्हें मीलों चलकर दिन में चार बार फौजी अधिकारी के पास हाजिरी देने के लिए बाध्य किया गया। उन्होंने बताया कि भारतीय नागरिकों को अपनी सवारी से उतारकर यूरोपियनों को सलामी देने के लिए बाध्य किया गया तथा बहुत से राजभक्त हिन्दुस्तानियों को बिना किसी अपराध के पकड़कर जेल में बन्द कर दिया गया। अनेक सम्मानित व्यक्तियों को हथकड़ियाँ पहनाकर बाजारों में घुमाया गया। उन्होंने कहा कि चूँकि सरकार ने उनके प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया, उनमें पूछे गये सभी तथ्य सही समझे जा सकते हैं। उन्होंने कहा कि पंजाब में अधिकारियों ने फौजी कानून के प्रतिबन्धों का भी ठीक तौर पर पालन नहीं किया। 'फौजी कानून' के अनुसार चलाये गये मुकदमों में मुददई और मुद्दालेह, दोनों में से एक का बयान लिये बिना ही और फैसला लिखे बगैर ही भारी दण्ड दे दिये गये हैं।[2]

---

1 मुन्नीलाल मेहरा, उद्घृत बेंकटेश नारायण कृत मालवीय जी की जीवनी पृ0 - 197-206 से।

2 प्रोसीडिंग इण्डियन लोजिस्लेटिव कौंसिल सन् 1919, कलकत्ता, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया सेन्ट्रल पब्लिकेशन् ब्रांच1919 जिल्द 58 पृ0 314-315 ।

मालवीय जी ने कहा कि इस विधयेक को प्रस्तुत करने से पहले यह सिद्ध करना चाहिए कि राज्य के विरूद्ध युद्ध या बगावत थी, विरोध की ऐसी घोर स्थिति थी कि उसे 'युद्ध' कहा जा सके और उसे दबाने के लिए फौजी कानून लागू करना, फौजी अदालतें स्थापित करना, तथा साधारण कानूनों के प्रतिबन्धों की उपेक्षा अनिवार्य थी।[1] इन बातों की जाँच कराने से पहले इन्डेमनिटी बिल पास कराना सर्वथा अनुचित है। यदि सरकार इस बात की जाँच कराने के लिए कि फौजी कानून लागू करने लायक घटानाएँ हुई अथवा नही एक समिति गठित करना आवश्यक समझती हैं, तो उससे पहले इस विधेयक को पास करने का औचित्य क्या है? मालवीय जी ने मार्शल लॉ को लागू करने और इतने दिनों तक जारी रखने के औचित्य को चुनौती दी। उन्होंने स्थिति का विस्तार से विश्लेषण करते हुए कहा कि अमृतसर, लाहौर और गुजरावाला सहित पूरे पंजाब में 14 अप्रैल को ऐसी स्थिति नही थीं जिसे भंयकर राजविद्रोह या बगावत की स्थिति समझा जा सके। 13 अप्रैल को जालियांवाला बाग में नरसंहार घोर अन्याय था पर उसे भी जनता ने जिस तरह बर्दास्त किया उसके बाद मार्शल लॉ घोषित करना, और इतने दिनों तक जारी रखना अवश्य ही क्रूर व्यवहार था।[2]

मालवीय जी ने कहा कि बम्बई सरकार ने गाँधी जी को अहमदाबार जाने की इजाजत दे दी और उन्होंने वहाँ जाकर शान्ति स्थापित कर दी यदि पंजाब की सरकार भी बम्बई की सरकार का अनुसरण करने को तैयार होती तो सम्भवत: पंजाब में भी मार्शल लॉ लागू किये बिना शान्ति स्थापित हो सकती थी।।[3]

मालवीय जी ने कहा कि फौजी अदालनों और फौजी कानून की मर्यादाओं का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। उन्होंने लार्ड हैल्सबरी को उद्घृत करते हुए

1 वही, जिल्द 58, पृ0 317 ।
2 वही, पृ0 303-306 ।
3 वही, पृ0 320 ।

बताया कि सरकार शांति के समय फौजी कानून के अनुसार फौजी अदालतें नही स्थापित कर सकती किन्तु जब युद्ध, राज विद्रोह या युद्ध कहे जाने योग्य फसाद हो तो राजा या उसके कर्मचारी सिर्फ उतनी ही शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं जितनी शान्ति स्थापित करने के लिए आवश्यक हो।[1] उन्होंने राइट बनाम फिट्ज मुकदमें का विश्लेषण करते हुए न्यायाधीश चेम्बरलेन के वक्तव्य का हवाला दिया, जिसमें न्यायाधीश महोदय ने मनुष्यता के सर्वसाधरण नियमों का उल्लंघन न करने का मजिस्ट्रेट को आदेश दिया था।[2] उन्होंने न्यायाधीश स्पेंकी के फौजी अदालतों को मर्यादा और सीमा में रहने सम्बन्धी आदेश का हवाला दिया।[3] मालवीय जी ने सर जेम्स फिट्ज जेम्स स्टीफन के वक्तव्य का उल्लेख करते हुए बताया कि सरकारी अधिकारियों को सारे अधिकार मिले होने के बाद भी उन्हें निदयतापूर्वक और अत्यधिक उपायों को काम में लेने का अधिकार नहीं है[4] तथा यदि वे ऐसा करते है तो उसके लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हैं।[5]

मालवीय जी ने लार्ड हेल्सबरी और सर स्टीफन को उद्घृत करते हुए बताया कि ''उपद्रवों के शान्त होते ही फौजी सत्ता समाप्त हो जाती है और साधारण न्यायालयों का शासन शुरू हो जाता है।[6] स्टीफन महोदय ने तो फौजी अदालतों को अदालत मानने से ही इन्कार कर दिया था।[7]

उन्होंने 'विधि का शासन' के प्रणेता डायसी का उल्लेख किया जहाँ डायसी ने भी यह कहा है कि ''सब कानूनों में जो एक विधानसभा पास कर सकती है इन्डेमनिटी कानून से अपन्याय होने का सबसे अधिक भय रहता है। यह अपने वाह्य

---

1 वही, पृ0 296-318।
2 वही, पृ0 322 ।
3 वही, पृ0 330 ।
4 वही, पृ0 329 ।
5 वही, पृ0 330 ।
6 वही, पृ0 296, 329 ।
7 वही, पृ0 329, 330 ।

रूप में ही गैर कानूनी है। यह केवल कड़ाई करने को ही उत्तेजित नहीं करता बल्कि कानून और मनुष्यता का उल्लंघन को को भी उत्तेजित करता है।[1]

मालवीय जी ने इसी प्रकार अनेक उदाहरण दिया तथा यह कहते हुए कि शक्तिशाली सरकार को भी लोकमत के आगे झुकना पड़ता है[2] सरकार से अनुरोध किया कि जब तक कमेटी अपनी रिपोर्ट पेश न करे तब तक के लिए वह इस बिल को पास कराने का विचार स्थगित कर दे।[3]

सरकार की ओर से मालवीय जी के वक्तवयों का सर मेलकमहेली, टॉमसन आदि ने जबाब दिया। तत्कालीन गृह सदस्य सरबिलियम विन्सेन्ट ने महात्मागांधी को उद्घृत करते हुए मालवीय जी से विशेष रूप से अपील की कि वे संशोधित बिल का समर्थन करें। विनसेन्ट साहब ने बताया कि मिस्टर गाँधी ने ''युक्तियुक्त विश्वास'' और ''सद्भाव'' का उल्लेख किये बिना कहा है कि ''हमें इस आशय की एक धारा इस (बिल) में रहने देनी चाहिए. कि ऐसे अधिकारियों पर, जिन्होंने गोली चलाने की आज्ञा दी, हत्या या फौजदारी मामला या क्षतिपूर्ति का दीवानी दावा न चल सकेगा,'' यद्यपि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि दोषी अधिकारियों को सरकार की ओर से दण्ड जरूर दिया जाय। विंसेट साहब ने बताया कि महात्मा गाँधी ने अपने पत्र 'यंग इण्डिया, में 20 सितम्बर सन् 1919 को यह लिखा है कि ''मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ कि ऐसा बिल उचित रूप से कमीशन की रिपोर्ट के बाद ही पास हो सकता है- यह बिल जैसा प्रकाशित हुआ है, हानिरहित हैं और ऐसा है, जिसे हमें कमीशन की रिपोर्ट के बाद पास करना पड़ेगा।।[4]

---

1 वही, पृ0 340 ।
2 वही, पृ0 341 ।
3 वही, पृ0 341 ।
4 वही, पृ0 537 ।

मालवीय जी ने विंसेन्ट की अपील के उत्तर में कहा कि "मैं मिस्टर गाँधी की राय का बहुत सम्मान करता हूँ, पर एक और ऐसी बड़ी शक्ति है, जिसके आगे झुकना मेरा कर्तव्य है। यह शक्ति मेरी अन्तरात्मा है, और यह मुझसे कहती है कि यह बिल वर्तमान रूप में पास नहीं होना चाहिए।[1] मालवीय जी ने प्रश्न किया कि क्या गाँधी जी की इस राय को पढ़ने के बाद गृह सदस्य भारत सरकार को यह सलाह देंगे कि बम्बई प्रान्त में रहने की जो पाबन्दी गाँधी जी पर लगायी गयी है, वह रद्द कर दी जाय, और क्या वें पंजाब और दिल्ली की सरकारों को भी इसी का अनुसरण करने की सलाह देंगे।[2]

मालवीय जी द्वारा इन्डेमनिटी बिल के विरोध का समर्थन महाराजा साहब महमूदाबाद राजा रामपाल सिंह, मि0 सच्चिदानन्द सिन्हा, रायबहादुर बी0एन0 शर्मा आदि ने किया, परन्तु इन लोगों के विरोध के बाद भी सरकार ने उक्त बिल को पास करा लिया।

आम जनता के प्रति मालवीय जी के इस तरह के स्नेह का उल्लेख करते हुए डॉ0 गोपीचन्द भार्गव (भूतपूर्व वित्तमंत्री, चण्डीगढ़, पंजाब) ने बताया कि "पंजाब के महान संकट के समय मालवीय जी ने जो सेवा की थी, उससे यह राज्य कभी उऋण नहीं हो सकता। कांग्रेस के सभापति पद से, 1909 में, लाहौर में दिया गया उनका ओजस्वी भाषण देश के साथ इस प्रान्त के लिए एक प्रकाश स्तम्भ प्रमाणित हुआ। जालियॉं वाला बाग के घृणित हत्याकाण्ड के समय उन्होंने जिस ओज, क्षमता और अदभुत साहस का परिचय दिया, उससे पंजाब को एक स्फूर्तिदायक रसायन प्राप्त हुआ।[3]

---

1 वही, पृ0 537 ।

2 वही, पृ0 537 ।

3 विश्वजयोति, वही ।

महामना मालवीय जी का महात्मा गाँधी से कई बातों पर मतभेद रहता था, फिर भी दोनों एक दूसरे का सम्मान करते थे। असहयोग आन्दोलन सम्बन्धी गाँधी जी के प्रस्ताव से मालवीय जी सहमत न थे। उनका मुख्य विरोध न्यायालयों, विधानसभाओं तथा शिक्षा-संस्थाओं के बहिष्कार पर था। वे न्यायालयों के बहिष्कार को अव्यावहारिक तथा विधानसभाओं और शिक्षा-संस्थाओं के बहिष्कार को हानिकर मानते थे। उनका विचार था कि विधानसभाओं में भी स्वराज्य के लिए संघर्ष किया जा सकता है तथा सरकार की गतिविधियों का विरोध कर राष्ट्र हित में उनका (विधानसभाओं का) प्रयोग किया जा सकता है। वे लाला लाजपत राय की तरह शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार को अनर्थकारी मानते थे। उनका मानना था कि शिक्षा प्रणाली के दोषों की समीक्षा करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उसने अनेक प्रसिद्ध विद्वानों को जन्म दिया है, जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में प्रसिद्धि प्राप्त कर देश के मान एवं मानसिक विकास की वृद्धि की है। मालवीय जी स्वदेशी के पक्षकर थे। वे खद्दर पहनने का समर्थन करते थे, किन्तु उन्हें विदेशी कपड़ों की होली बुरी लगती थी।[1]

इन सब मतभेदों के बाद भी गाँधी जी से मालवीय जी के सम्बन्ध अच्छे बने रहे। इस बात की चिन्ता न करके कि उनकी बात पर ध्यान दिया जायेगा अथवा नहीं, मालवीय जी कांग्रेस के अधिवेशनों में तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठकों में जाते, वहाँ अपने विचार रखते और गाँधी जी से अकेले में बात करते तथा उन्हें अपनी बात समझाने का प्रयत्न करते रहे। देशहित को ध्यान में रखते हुए उन्होंने गाँधी-रीडिंग समझौता कराने की भी कोशिश की। गाँधी जी को इस बात के लिए उन्होंने प्रेरित किया कि वे लार्ड रीडिंग के बुलाने पर देश की समस्या पर उनसे बात करें। कुछ हिचकिचाहट के बाद गाँधी जी इस पर तैयार भी हो गये, परन्तु बातचीत का कोई नतीजा न निकल सका।[2]

---

1 प्रो0 मुकुट बिहारी लाल: महामना मदनमोहन मालवीय, जीवन और नेतृत्व, पृ0 291-292 ।

2 वही, पृ0 292-293 ।

मालवीय जी और गाँधी जी में ऐसी आंतरिक समझ-बूझ थी कि वे एक-दूसरे की बातों को बहुत महत्व देते थे। असहयोग के दौर में ही जब मालाबार में मोपलाओं नें हिन्दुओं पर घोर अत्याचार किया, तब मालवीय जी ने हिन्दुओं की सहायता के लिए उन्हें रूपये, अन्न, वस्त्र आदि दिये थे। सरकार ने इस विद्रोह को दबाने के लिए जब मोपलाओं का दमन किया, तब गाँधी जी के अनुरोध पर मालवीय जी ने त्रस्त मोपलाओं के परिवारों को भी आर्थिक सहायता पहुँचायी।[1]

सन् 1923-24 की साम्प्रदायिक समस्या पर भी दोनों महापुरूषों में मतभेद था। जहाँ गाँधी जी चाहते थे कि आततायियों का सामना साहस के साथ पर अहिंसात्मक ढंग से किया जाय, मालवीय जी आत्मरक्षा के निमित्त बल का प्रयोग न्यायोचित और अनिवार्य मानते थे। गाँधी जी की तरह वे भी देशोद्धार के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता अनिवार्य मानते थे।[2]

सन् 1925 में कलकत्ता कारपोरेशन की ओर से डिप्टी मेयर श्री एच0एस0 सोहरावर्दी ने मालवीय जी को मानपत्र पेश किया, जिसमें जनता के ''अधिकारों और स्वतंत्रताओं के अनथक समर्थक'' तथा उनके ''हितों की रक्षा'' के निमित्त चिन्ता और राष्ट्र की ''अभिवृद्धि और शिक्षा'' के निमित्त निरन्तर प्रयत्नों के लिए मालवीय जी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की गयी। मालवीय जी के इस उपदेश की कि सभी भारतीय ''पारस्परिक अविश्वास और सन्देह के बगैर भाई चारे और मैत्री के साथ आपस में मिलकर जीवन बितायें'' कृतज्ञता के साथ सराहना की गयी। इसी मानपत्र में यह भी कहा गया कि हम आपके इस निवेदन को भी नहीं भूल सकते कि ''हम सब अपनी इच्छा से देशहित के लिए दु:ख भोगें, क्योंकि सर्वसामान्य पीड़ा सामूहिक प्रयत्न से ही हम उस महान चिरस्थाई शक्ति को पाने की आशा कर

---

1 वही, पृ0 305 ।

2 सीताराम चतुर्वेदी: महामना पं0 मदन मोहन मालवीय, खण्ड-2, पृ0 87-89।

सकते है, जो भारत में बसने वाले विभिन्न सम्प्रदायों को-हिन्दू, मुसलमान, यहूदियों को एक महान और शानदार राष्ट्र में बाँध पायेगी। इस मानपत्र में यह कहते हुए कि "बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के संस्थापक और प्रेरक" के रूप में आपने यह सिद्ध कर दिया है कि दृढ़ संकल्पी, निःस्वार्थ कार्यकर्त्ता क्या कुछ कर सकता है, साथ ही यह आशा व्यक्त की गयी कि "विश्वविद्यालय आपके निर्देशन में, उस व्यापक उदारता, सार्वभौमिक सहानुभूति और वंधुत्व को पुष्ट करेगा, जो वेदान्त की मूलभूत शिक्षाएं हैं और जिसमें इस देश का ही नहीं, बल्कि सारे संसार का निस्तार निहित है।" मालवीय जी के साथ ही लाला लालपत राय को भी मानपत्र दिया गया और उनके सम्मान में भी ऐसी ही बातें कही गयीं।

मालवीय जी और लाला जी ने कलकत्ता कारपोरेशन के मेयर देशबन्धु चितरंजन दास की बिमारी पर चिन्ता प्रकट हुए उनके स्वास्थ्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना की। मालवीय जी ने कहा "जैसा स्वराज्य हम चाहते हैं, वैसा तो अभी प्राप्त नहीं हुआ है, फिर भी साम्राज्य के दूसरे बड़े नगर का शासन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा हो रहा है, यह हर्ष और गौरव की बात है। कारपोरेशन में जिस प्रकार पारस्परिक सहयोग का भाव वर्तमान है, वह भारत के भावी स्वराज्य का द्योतक है।[1]

सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-34) के समय जब गाँधी जी सरदार पटेल आदि नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे, मालवीय जी ने इस आन्दोलन को जीवित किये रखा। उन्होंने काशी में अपनी अध्यक्षता में अखिल भारतीय स्वदेशी संघ स्थापित किया, जिसके तत्वावधान में 29 मई सन् 1932 को अखिल भारतीय स्वदेशी दिवस मनाया गया। उस दिन जुलूस निकाला गया और उसके बाद हुई सभा में मालवीय जी ने भाषण देते हुए कहा कि "गोखले 'स्वदेशी' को 'देश के प्रति गाढ़ प्रेम' कहते थे और गाँधी उसे 'कामधेनु' कहते हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम

1 'आज': 19 अप्रैल, सन् 1925 ।

संकल्प करें कि स्वदेशी चीजें ही काम में लायेंगे और जो चीज हमारे देश में नहीं बनती, उनका प्रयोग यथासम्भव टाल देंगे। स्वदेशी ही खरीदो, स्वदेशी ही बेचो- इसका खूब प्रचार होना चाहिए।[1] मालवीय जी ने अंग्रेज विधि-विशेषज्ञों के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया कि किन्हीं परिस्थितियों में सरकार के कानूनों और आज्ञाओं की सविनय अवज्ञा संवैधानिक है।[2] उन्होंने कहा कि हमारी सबसे बड़ी स्वतंत्रता विचार की स्वतंत्रता है। इसके द्वारा सरकार भी अपने कर्त्तव्य के अधीन हो जाती है। इसने सब काल में सत्यता को अमरत्व प्रदान किया है और संसार के उन लोगों के पवित्र रक्त से अपनी अज्ञानता धोयी है, जिन्होंने उसे प्रकाशित किया था। अतः हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम लोग ऐसे कानून और आज्ञा का विरोध करें जिससे हमारे सहमिलन और सम्भाषण की स्वतंत्रता का अपहरण होता है। महात्मा गाँधी ने ऐसी परिस्थिति में अहिंसात्मक सविनय अवज्ञा के प्रयोग की भारतीयों को शिक्षा देकर मानव समाज की महान सेवा की है। यह प्रतिवाद वैध और अहिंसात्मक है।[3]

इसी समय जब गाँधी जी ने सन् 1933 में 21 दिन का उपवास करने का निर्णय कर मालवीय जी के पास आशीर्वाद के लिए पत्र लिख तो मालवीय जी ने उस पत्र का उत्तर देते हुए उन्हें (गाँधी जी को) इस उपवास की सफलता के लिए आशीर्वाद दिया तथा इसके लिए भगवान से प्रार्थना की।[4]

भारत छोड़ो आन्दोलन के समय जब गाँधी जी के 'करो या मरो' के नारे के साथ आन्दोलन आरम्भ हुआ था और बाद में यह हिंसात्मक हो गया था, जिसका दोष गाँधी जी को दिया जब रहा था, तब मालवीय जी इसमें गाँधी जी का कोई दोष नहीं मानते थे। एडवोकेट सुरेन्द्र नाथ वर्मा, सर तेज बहादुर सप्रू और

---

1 आज : 1 जून, सन् 1932 ।

2 इंडियन क्वाटरली, रजिस्टर सन् 1933,जि0 1।

3 वही ।

4 महामना मालवीय: बर्थ सेन्टिनरी कॉमिमोरशन वाल्यूम, वाराणसी, बी.एच.यू., 1961 पृ0 182।

डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा के मालवीय जी से मिलकर उनसे यह पूछने पर कि "महाराज पर, इस आन्दोलन (भारत छोड़ो आन्दोलन) में जो हिंसा का प्रदर्शन हुआ, क्या वह गाँधी जी के अहिंसात्मक विचारों के अनुरूप था और क्या वे इसके लिए जिम्मेदार नहीं है? मालवीय जी का कहना था कि "हाँ! गाँधी अवश्य ही सारी बातों के लिए जिम्मेदार हैं। जो कुछ हुआ, उसकी न केवल नैतिक जिम्मेदारी उन पर है, बल्कि सम्पूर्ण है, किन्तु यदि यही आन्दोलन सफल हो जाता तो दुनिया कहती और इतिहास में भी लिखा जाता है, कि भारत ने क्रांति द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। आन्दोलन असफल हो गया तो इसी का नाम 'शांतिमय विद्रोह' या जो चाहो दे सकते हो"[1]

मालवीय जी राष्ट्र गुरू थे। महात्मा जी' राष्ट्रपिता। वशिष्ठ और राम की तुलना जैसे नहीं हो सकती, वैसे ही मालवीय जी और महात्मा जी में तुलना उपयुक्त नही है। हमें इनके जीवन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। महाकवि अकबर ने महामना और गाँधी जी की तुलना करते हुए लिखा है-

"गाँधी मालवी में है क्या फर्क।
आप इस बहस में हैं नाहक गर्क।
फर्क यह है जो अक्लो इश्क में है,
एक काशी में है, एक दमिश्क में है।।"

बृद्धि और प्रेम में जो फर्क है, वही मालवीय जी और गाँधी जी में है, एक काशी का पण्डित है, दूसरा बगदाद और दमिश्क के प्रेम का दिवाना, मंजनू या फरहाद। सन् 1920 ई0 में खिलाफत के प्रश्न को लेकर गाँधी जी अपने असहयोग और सत्याग्रह आन्दोलन के कार्यक्रम के साथ सक्रिय राजनीति के मैदान में आये थे। हिन्दू मुस्लिम एकता के समर्थक होते हुए भी मालवीय जी खिलाफत के

1 मालवीय जी: जीवन झलकियां, पृ0 6 ।

प्रश्न पर महात्मा जी की अपेक्षा कायदे आजम जिन्ना की इस राय से सहमत थे कि खिलाफत का प्रश्न तुर्की का आंतरिक मामला है।[1]

मुसलमान मालवीय जी को कट्टर हिन्दू मानते थे और इसी कारण उनके नेता महामना की इज्जत करते थे। जिन्ना सदैव क्वालिटी (गुण) के पक्ष में थे, बजाय क्वांटिटी (संख्या) के। गाँधी जी के साथ संख्या थी, मालवीय जी के साथ गुण। संख्या और गुणों के इस मेल के आधार पर ही हम मालवीय जी और गाँधी जी के सपनों का रामराज्य स्थापित कर सकेंगे।

बंगाल के सुप्रसिद्ध देशभक्त वैज्ञानिक सर प्रफुल्ल चन्द्र राय का विचार था कि गाँधी के बाद कोई दूसरा ऐसा मनुष्य मिलना कठिन है, जिसने इतना अधिक त्याग किया हो और बहुमुखी कार्यो का ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया हो, जैसा मालवीय जी ने''।[2] मुन्शी ईश्वर शरण का कहना है कि ''यह उनका अटल विश्वास है कि जब तक भारत गाँधी जी और मालवीय जी जैसे व्यक्तियों के जन्म देता रहेगा, तब तक भारत जीवित बना रहेगा।''[3]

इस प्रकार महात्मा गाँधी और महामना मालवीय दोनों में भिन्नता बहुत कम थी और वैचारिक मामलों में टकराहट के बाद भी वे दोनों एक दूसरे का बहुत सम्मान करते थे।जिस प्रकार अतिशय प्रेम के कारण भगवान राम ने महावीर हनुमान को अपने भाई की तरह प्रिय माना था, उसी प्रकार मालवीय जी ने महात्मा गाँधी को अपना भाई माना था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ महात्मा गाँधी अपने विचारों पर दृढ़ रहकर विरोधियों को अपने पक्ष में करते थे, वहीं महामना मालवीय सदैव नये विचारों को अपनाने का स्वागत करते थे और विरोधी विचार के प्रति भी सहिष्णुता की नीति अपनाकर, उनको अपने पक्ष में करने के लिए अपने विचारों में

---

1 प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, महामना स्मृति अंक ,वर्ष 1993-96, पृ0 418 ।

2 मालवीय कॉमेमोरेशन वाल्यूम, बी0एच0यू. 1932, पृ0 1012।

3 वही पृ0 1051 ।

परिवर्तन कर लेते थे। किसी अब्राह्मण का छुआ भोजन तो क्या पानी तक न पीने वाले मालवीय जी एक बार लखनऊ में 'रिफा-ए-आम' की अध्यक्षता कर रहे थे। मंच पर अगल बगल दो मुसलमान बैठे थे। मालवीय जी को प्यास लगी और बैठे-बैठे गिलास में पानी मँगाकर पिया। इस पर मुंशी ईश्वरशरण ने बाद में पूछा कि 'मुसलमानों के निकट होते हुए भी जल-ग्रहण। करने की अपनी प्रतिज्ञा न निबाहेंगे।' मालवीय जी ने कहा- ''मुसलमानों को एकता के पाश में बाँधने के लिए यदि उन्हें नरक भी हो तो उसे वे भोग लेगें, बशर्ते कि दोनों जातियों में मेल और एकता हो जाय।[1] यहाँ पर उल्लेखनीय है कि असहयोग आन्दोलन की विफलता के बाद 1921 में जब महात्मा गाँधी ने मुहम्मद अली के घर में 21 दिन का उपवास किया था, तब अपने नियम के पक्के होने के बावजूद भी मालवीय जी ने ही उन्हें वहीं (मुहम्मद अली के घर में) श्रीमद्भागवत् का साप्ताहिक पारायण सुनाया था। यह एक आश्चर्य था कि एक मुसलमान के घर पर सात दिनों तक श्रीमद्भागवत् का पाठ हो और वह भी मालवीय जी द्वारा! पर यह हुआ।[2] गाँधी जी के समान उनका जीवन और चरित्र अत्यंत व्यापक, विशाल और महान था। राजनीति और सार्वजनिक सेवा का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था, जिसको उन्होंने अपने व्यक्तितत्व और कृतित्व से प्रभावित न किया हो। लेकिन जहाँ महात्मा गाँधी 'एकला चलो' में विश्वास रखते थे, मालवीय जी सबको साथ लेकर चलने में। पीछे रह जाने वालों को वह आगे बढ़ने के लिए पुकारते थे और बहुत आगे बढ़ जाने वालों को रोकते भी थे। जिससे फौज सुसंगठित, और सुव्यवस्थित रहे।

* * * * *
* * *
*

---

1 महामना मालवीय की जीवनी, वही पृ0 230 ।

2 श्री गिरजाशंकर अवस्थी, जीवन झलकियां, पृ0 101-2

अध्याय - ५

बदलते परिप्रेक्ष्य में महामना के विचारों की प्रासंगिकता।

बदलते परिप्रेक्ष्य में महामना के विचारों की प्रासंगिकता

कैबिनेट मिशन के प्रावधानों के अधीन सन् 1946 में भारत की संविधान सभा का गठन हुआ जिसने भारत के संविधान का निर्माण किया। इस संविधान को 26 जनवरी सन् 1950 को लागू किया गया। भारतीय संविधान में देश के भावी नागरिकों के सामने कुछ आदर्शों एवं लक्ष्यों को रखा गया है और यह संयोग ही नहीं वरन् महामना मालवीय जी की दूरदर्शिता थी कि उन्होंने अपने सामाजिक-राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ से ही इसी प्रकार के आदर्शों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति को अपना उद्देश्य बना लिया था। भारतीय संविधान में सम्प्रभुता, लोकतंत्र, गणराज्य, समाजवाद, पंथनिरपेक्षता, नागरिकों की गरिमा एवं उनमें बंधुत्व की भावना के साथ सबको राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय, प्रतिष्ठा एवं अवसर की समानता तथा विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म एवं उपासना की स्वतंत्रता प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया है। भारतीयसंविधान में वर्णित उपरोक्त मूल्य एवं सिद्धान्त मालवीय जी के सामाजिक-राजनीतिक विचारों से उत्प्रेरित प्रतीत होते हैं। मालवीय जी ने जिन आदर्शों की स्थापना का स्वप्न देखा था, वह वर्तमान में समाज की सम्पूर्णता, व्यापकता एवं आपसी सह-सम्बद्धता के परिवेशको बनाने हेतु प्रेरणादायी है। इस दृष्टि से हम यदि कुछ तथ्यों पर प्रकाश डालें तो मालवीय जी की वर्तमान समय में प्रासंगिकता एवं अ क्षुण्णता का स्पष्ट दिग्दर्शन हो सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद सभी राष्ट्रों की सम्प्रभुता के प्रति सम्मान की भावना को सर्वोच्च स्थान मिला। पंचशील कें सिद्धान्तों द्वारा इसे और अधिक पुष्ट किया गया; लेकिन वर्तमान एक-ध्रुवीय विश्व व्यवस्था में छोटे देशों की सम्प्रभुता संयुक्त राज्य अमेरिका की इच्छा पर आधारित हो गयी है। इराक, अफगानिस्तान, हैती, यूगोस्लाविया आदि के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है। जहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ की अवहेलना करते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने इन देशों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप

किया। इन देशों में कैसी और किस प्रकार सरकार स्थापित की जाय? इसका निश्चय वहाँ की जनता पर न छोड़कर स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति कर रहे हैं। विश्व इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई भी महाशक्ति जब अपनी शक्तियों पर अत्यधिक घमण्ड करने लगती है तो उसका पतन अवश्यंभावी है। विश्व में वही सभ्यता दीर्घजीवी हो सकी है, जिसने सहजीवन और सामंजस्य की भावना को अपनी संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। स्वयं अमेरिका का विकास भी लोकतंत्र और विश्ववंधुत्व की भावना के संरक्षण के साथ हुआ है। इसी कम में मालवीय जी ने अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्रीय कार्यक्रम पर विश्वास व्यक्त किया था जिसके आधार पर संसार में न्याय और शांति प्रतिष्ठित की जा सकती है। उन्होंने कतिपय अंतर्राष्ट्रीय शर्तो के साथ समुद्रों की स्वतंत्रता, समस्त शान्तिप्रिय राष्ट्रों के बीच समानता के आधार पर व्यापार की स्वतंत्रता, जनता की प्रभुसत्ता और उनके कल्याण के आधार पर सभी औपनिवेशिक समस्याओं का समाधान, पराजित राज्यों की भूमि से विजयी राष्ट्रों का निष्कासन, सभी छोटे-बड़े राज्यों की राजनीतिक स्वतंत्रता और उनकी भौमिक अखण्डता, उसकी गारंटी के लिए सभी राष्ट्रों के संघ के संगठन की कल्पना की थी, जिससे सभी राष्ट्रों की प्रभुसत्तासुरक्षित एवं अक्षुण्ण रह सके।[1]

मालवीय जी राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना आवश्यक समझते थे परन्तु किसी दूसरे राष्ट्र की स्वतंत्रता का अपहरण अमानुषिक समझते थे। वे न किसी के साथ अन्याय करना चाहते थे और न ही अपने साथ अन्याय सहने को तैयार थे। वे मनुष्यों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव स्वीकार नहीं करते थे। उनका मानना था कि "ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है", यद्यपि लोग पुरूष और स्त्री में भेद करते हैं, लेकिन जहाँ तक ईश्वर की ज्योति का सम्बन्ध है, उसमें बिल्कुल भेद नहीं।"[2]

[1] कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन सन् 1928 में व्यक्त विचार।

[2] वही।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 से 18, अनुच्छेद 25-28 तथा अनुच्छेद 325आदि के द्वारा नागरिकों के बीच भेदभाव का अंत किया गया है। इसी का परिणाम है कि आज स्नानघरों, भोजनालयों, होटलों, सार्वजनिक स्थानों, आदि के उपयोग पर किसी प्रकार की पाबन्दी नहीं रह गयी है, सभी लोग सार्वजनिक सम्पत्ति का समानता के आधार पर बिना भेदभाव के उपयोग कर रहे हैं। सरकारी सेवाओं में किसी धार्मिक या जातीय निर्योग्यना को भर्ती का आधार नहीं बनाया गया है। इसके विपरीत सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गो के लिए कुछ छूट प्रदान की गयी है, जिससे वे समाज की मुख्य धारा में शामिल होकर देश के विकास में अपना योगदान दे सकें। वर्तमान में पिछड़े वर्गो (अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्ग) की शिक्षा के लिए स्कूलों की भर्ती प्रकिया में उनको आरक्षण दिया गया है, पढ़ाई जारी रखने के लिए छात्रवृत्ति दी जाती है, उनके लिए अलग से कोचिंग संस्थान खोले गये हैं, पिछड़े वर्ग के छात्रों को रहने के लिए छात्रावासों का प्रबन्ध किया गया है, फिर भी वे समाज की मुख्य धारा में उस प्रकार शामिल नहीं हो पाये है जिस प्रकार की कल्पना सामाजिक समानता एवं सामंजस्य के लिए की गयी थी। यहाँ मालवीय जी के विचारों के आधार पर सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रयास कर सामाजिक विरोध को दूर किया जा सकता है। मालवीय जी चाहते थे कि सेना, पुलिस एवं अन्य सेवाओं में भर्ती बिना किसी जाति या सम्प्रदाय का भेद-भाव किये समानता के आधार पर की जाय। शिक्षा संस्थायें सभी जाति एवं धर्म के लोगों के लिए विकास का आधार तैयार करें। भारत के सभी लोगों को शिक्षा प्रदान की जाय।

व्यक्तिगत महात्वाकांक्षा के आधार पर अलगाव और भेद भाव का मालवीय जी विरोध करते थे। सैनिकों में राष्ट्रीय भावना के विकास की बाबत उन्होंने कहा था - जिस तरह बुद्धि किसी विशेष वर्ग की इजारेदारी नहीं है, उसी प्रकार शौर्य भी किसी विशेष वर्ग की इजारेदारी नहीं है।[1] महामना ने कीकि जिसप्रकार शिवाजी ने सभी जातियों के नवयुवकों को अपनी सेना में भरती किया और गुरू गोविन्द सिंह ने

1. लेजिस्लेटिव असेम्बली डिबेट सन् 1929, जि0 4, पृ0 1005

जाति-पांति की उपेक्षा करते हुए सुदृढ़ सिक्ख पंथ स्थापित किया, उसी तरह सब सम्प्रदायों और जातियों के योग्य नवयुवकों को भरती करके भारतीय सेना का निर्माण किया जाय। उन्होंने नवयुवकों को साम्प्रदायिक आधार पर अलग-अलग संस्थाओं में शिक्षा दिये जाने का विरोध करते हुए कहा कि सेना में देशभक्ति का संचार करने के लिए, जिस पर देश का भविष्य निर्भर है, आवश्यक है कि सब सैनिक रंगरूट, चाहे वे किसी जाति, सम्प्रदाय के हों, ''समान रूप से एक ही संस्था में'' साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करें तथा जीवन निर्वाह करें, खेलें-कूदें और काम करें।[1]

भारतीय समाज में समानता की भावना के विकास के लिए महामना सदैव सचेष्ट रहते थे। उन्होंने दलित वर्गो की शिक्षा के लिए सरकारी प्रयास की माँग की तथा इस विषय पर जयकर के प्रस्ताव एवं लाला लाजपत राय के संशोधन का उन्होंने समर्थन किया, जिसमें जयकर ने प्रस्ताव लाया था कि ''असेम्बली गवर्नर जनरल-इन कौसिंल को संस्तुति करती है कि वह अछूतों तथा दूसरे दलित वर्गो की शिक्षा के निमित्त तथा उनको सब सरकारी नौकरियों, विशेष रूप से पुलिस सेवा को खोलने के निमित्त विशेष सुविधायें देने के लिए आदेश निकाले।'' लाला लाजपत राय ने प्रस्ताव किया कि इसमें जोड़ा जाय कि ''असेम्बली गवर्नर-जनरल- इन कौंसिल से यह भी संस्तुति करती है कि वह दलित वर्गो की शिक्षा के लिए केन्द्रीय कोष से एक करोड़ रूपया मंजूर करे और यह आज्ञा निकालें कि सब कुएँ, जो निजी नहीं है, वे सब सड़कें, जो सार्वजनिक हैं, और वे सब संस्थायें, जिनका सरकारी कोषों से अंशतः या पूर्णतः आर्थिक प्रबन्ध किया जाता है, दलित वर्गो के लिए खुली रहेंगी तथा अछूतों की और उनकी जो अछूत नहीं है, पर सरकारी विवरण में दलित वर्गो में शामिल किये गये हैं, एक सूची तैयार की जायेगी।[2]

इस प्रस्ताव और संशोधन पर बोलते हुए मालवीय जी ने शिक्षा पर विशेष बल दिया और याद दिलाया कि उन्होंने तो सन् 1916 में ही भारतीय विधान परिषद में

---

1. वही पृ0 1005-1006
2. वही सन् 1928, जि0 1, पृ0 710-712

कहा था कि दलित वर्गों के उत्थान का प्रश्न शिक्षा पर निर्भर है, उन वर्गों में शिक्षा के प्रसार के लिए जो कुछ सरकार कर सकती है उसे वह करे। सरकार और समाज के विद्यालय दलित वर्गों के लिए उतने ही खुलें हों जितने दूसरे बच्चों के लिए। सदि सरकार प्रतिवर्ष कुछ करोड़ रूपये उनकी शिक्षा पर खर्च करने को तैयार हो, तो उनकी समस्या सुलझ जाय। खेद है कि सरकार उनके प्रति सहानुभूति तो बहुत प्रकट करती है, पर उनके उत्थान के लिए करती बहुत कम है। महामना ने सरकार की शिक्षा नीति की आलोचना करते हुए यह आशा व्यक्त की कि सरकार प्रस्ताव और संशोधन दोनों स्वीकार कर लेंगी।[1] यहाँ यहं उल्लेखनीय है, कि संशोधन प्रस्ताव को खारिज करते हुए मूल प्रस्ताव में से 'पुलिस' शब्द निकालकर सरकार ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

बीसवीं शदी के दो महायुद्ध लोकतंत्र की स्थापना के लिए लड़े गये, जिसमें (लोकतंत्र में) मानवीय स्वतंत्रता एवं मानवाधिकार को सर्वप्रमुख स्थान दिया जाता है। विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से व्यक्ति के ब्यक्तित्व के विकास में सर्वाधिक सहायता मिलती है। इसीलिए इसपर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध को वर्तमान समाज स्वीकार नही करता। स्वतंत्रता से व्यक्ति में स्वावलम्बन, आत्माभिव्यक्ति, जिम्मेंदारी तथा उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। वर्तमान में सूचना प्रौद्योगिकी के विकास के साथ मानवीय स्वतंत्रता के महत्व को स्वीकार कर लिया गया है। यह मालवीय जी की दूरदर्शिता ही थी कि उन्होंने तत्कालीन समाज में ही स्वतंत्रता एवं मानव अधिकारों के महत्व का अनुमान लगा लिया था।

मालवीय जी मानवीय- स्वतंत्रता को जे0 एस0 मिल की भांति मानव-जीवन का परम लक्ष्य मानते थे। इसी आधार पर उन्होंने सरकार से बार-बार अपने भाषणों में आग्रह किया कि समस्त दमनकारी कानून वापस लिए जाएं। राजनीतिक अपराधों की जाँच भी साधारण कानूनों द्वारा की जाय। तथाकथित राजनीतिक अपराधी छोड़ दियें

1. वहीं पृ0 712-716 ।

जायें और उन्हें अपने को निर्दोष सिद्ध करने का मौका दिया जाय। उन्होंने माँग की कि जनता की मौलिक, नागरिक और धार्मिक स्वतंत्रताओं को पुष्ट किया जाय और दमनकारी तरीकों से उनका अपहरण कर आतंक और अत्याचार की स्थिति पैदा न की जाय।[1]

मानव स्वतंत्रताओं के संरक्षण तथा लोक न्याय की पुष्टि के निमित्त मालवीय जी ने विट्ठल भाई पटेल द्वारा प्रस्तुत 'स्पेशल लाज रिपील बिल' तथा सर हरिसिंह गौड़ द्वारा प्रस्तुत 'क्रिमिनल लॉ (अमेंडमेन्ट) ऐक्ट, सन् 1908 की बहुत सी धाराओं को रद्द करने का समर्थन किया।[2] उन्होंने काफी विस्तार के साथ इस कानून के दुरूपयोग की चर्चा करते हुए कहा कि जब वह अधिनियम जो ''डकैतों, अराजकतावादियों और क्रांतिकारियों'' के नियंत्रण के लिए बनाया गया था, ''उन लोगों को दंडित करने और उनकी अंतरात्मा को कुचलने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है, जिन्होंने अपराध नहीं किया'' तब यह स्पष्ट है कि उसका ''सावधानी, मर्यादा और ईमानदारी से प्रयोग नहीं हो रहा है,'' और उसे रद्द कर देना जरूरी है।[3]

मालवीय जी ने बंगाल आर्डिनेन्स-1924 के विरूद्ध प्रस्तुत प्रस्ताव का समर्थन किया। सन् 1925 में उन्होंने 'वंगाल क्रिमिनल संशोधन बिल' का विरोध किया और जब विधान सभा द्वारा उसके रद्द किये जाने पर गवर्नर जनरल ने उसे पास करने की संस्तुति की, तब मालवीय जी ने इसका कड़ा प्रतिवाद करते हुए सरकार का विरोध किया। उनका मानना था कि इस प्रकार की संस्तुति अवश्य ही अवैधानिक है, यद्यपि भारत की व्यवस्था इसकी इजाजत देती है। उस विधेयक को इस तरीके से पास कराने का प्रयत्न, जिसे जनता के प्रतिनिधियों ने विधानसभा में रद्द कर दिया हो, ''भारत के जनमत का घोर अपमान'' है, और भारत की संवैधानिक व्यवस्था को नग्न रूप में खोलकर रख देता है।'' उन्होंने विधेयक की कड़ी समीक्षा करते हुए कहा कि वह

---

1. वही सन् 1924 जि0 4, पार्ट-2, पृ0 980-1000
2. वही सन् 1925 जि0 5, पार्ट-1, पृ0 924-933
3. वही सन् 1924 जि0 4, पार्ट-5, पृ0 3535-3539

अनावश्यक है। जिन 96 व्यक्तियों को बंगाल अध्यादेश के तहत गिरफ्तार करके नजरबन्द किया गया है, उनमें से किसी एक के विरूद्ध भी मुकदमा चलाकर "किसी न्यायालय में उनका अपराध" सिद्ध नहीं किया गया है।" इस प्रकार के अध्यादेश को पाँच वर्ष तक चालू रखना निन्दनीय है।[1] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्तमान भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में भी राष्ट्रपति और राज्यपालों को कुछ इसी प्रकार के अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया है, जिसका प्रजातंत्रीय व्यवस्था में सर्वथा विरोध होना चाहिए। मालवीय जी ने अध्यादेशों की अलोकतंत्रीयव्यवस्था का उस समय ही विरोध कर बाद के जनमानस की इच्छा को व्यक्त कर दिया था। अगर मालवीय जी इस समय होते तो शायद पोटा जैसे कानूनों का उसी प्रकार विरोध करते तथा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 123 तथा अनुच्छेद 213 को संविधान से निकालने की माँग करते। संविधान सभा में भी उत्तरदायित्व और स्थायित्व पर बहस के दौरान संविधान निर्माताओं ने उत्तरदायित्व को प्रधानता देते हुए शासन के लिए संसदीय प्रणाली को वरीयता दी, जिसमें सरकार सदैव जनता के प्रति उत्तरदायी रहती है। भारत में संसदीय प्रणाली को अपना लिया गया, लेकिन प्रशासनिक ढाँचा ब्रिटिशकालीन ही बना रहने दिया गया। इससे प्रशासकीय निरंकुशता पर वैसा प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सका जैसा मालवीय जी चाहते थे। मालवीय जी मानव स्वतंत्रता को सबसे पहले चाहते थे। वर्तमान समय में जबकि वैश्वीकरण की लहर चारों ओर दौड़ रही है, उत्तरदायित्व और पारदर्शिता की भावना सरकारी संस्थानों में भी फैल रही है, जिसकी कामना मालवीय जी ने की थी। अगर सरकार जनता की उचित माँगों को नहीं मानती तो ऐसी सरकार के साथ असहयोग करना चाहिए। सन् 1925 में अपनी पार्टी के रूख का समर्थन करते हुए मालवीय जी ने कहा था कि इस सरकार के साथ सहयोग

नहीं किया जा सकता, क्योंकि जनता की वाजिब माँगों को पूरा करने के लिए सरकार को जो कुछ करना चाहिए वह उसने नही किया। सरकार को अपना रूख

---

[1] वही सन् 1925 जि0 5, पार्ट-3, पृ0 1875-2877

बदलना चाहिए।[1] उन्होंने कहा कि सरकार की वित्तीय और राजनीतिक नीतियों के प्रति नापसन्दगी जाहिर करने के लिए वित्त विधेयक को रद्द कर देना सर्वथा वैध है।[2]

कांग्रेस के असहयोग का समर्थन करते हुये मालवीय जी ने कहा था कि जब सरकार ने सभी राष्ट्रवादियों की संयुक्त राजनीतिक माँग को ठुकरा दिया, तब वह किस मुँह से कांग्रेस पार्टी को असहयोग के लिए दोषी ठहराते हुए सहयोग की माँग करती हैं। सरकार और जनता के प्रतिनिधियों में अच्छे सम्बन्ध निःसन्देह आवश्यक है, पर यह तभी सम्भव है जब सरकार शासन को जनमत के अनुसार जनहित में बदलने को तैयार हो। सरकार की गतिविधि, उसकी रीतिनीति की बहुत ही प्रभावोत्पादक ढ़ंग से कड़ी आलोचना करते हुए उन्होंने तत्कालीन शासन व्यवस्था को बदलने पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि "उत्तरदायिम्व का अभाव अच्छे प्रशासन में भारी बाधा है सरकार को जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।"[3]

वर्तमान समय में भारत ही क्या पूरे विश्व में असहिष्णुता बढ़ती जा रही है। एक जाति का दूसरी जाति से, एक प्रजाति का दूसरी प्रजाति से, एक धर्म का दूसरे धर्म से विरोध बढ़ता ही जा रहा है। देशों के बीच असहिष्णुता को सभ्यताओं के संघर्ष के नाम से प्रचारित किया जा रहा है अपने देश में गोधरा हो या अयोध्या हर स्थान पर किसी न किसी बहाने दंगे होते रहते हैं। कभी विभिन्न जातियों के बीच तो कभी विभिन्न धर्मो के बीच। मण्डल और कमण्डल का प्रभाव हर जगह देखा जा सकता है। अब तो राजनीति भी सामाजिक विद्वेष को आधार बनाकर सफलता की सीढ़ी चढ़ने को बेताब दिखती है। वर्तमान समय के राजनेता सामाजिक न्याय और सामाजिक समरसता की बात तो करते हैं लेकिन व्यवहार में इसका पालन नहीं करते। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अपने धर्म के पक्के समर्थक होने के बावजूद भी मालवीय जी धार्मिक विद्वेष एवं जातीय विभेद तथा छुआछूत का विरोध करते थे। उन्होंने स्वयं

---

1. वही सन् 1926 जि0 7, पार्ट-3, पृ0 2147 ।
2. वही सन् 1926 जि0 7, पार्ट-3, पृ0 2409 ।
3. वही सन् 1926 जि0 7, पार्ट-3, पृ0 2405-2414 ।

कहा था कि "मै अपने धर्म का दृढ़ विश्वासी और पाबन्द हूँ पर किसी के धर्म का अपमान करने का ख्याल तक मेरे दिल में कभी नहीं आया।[1] महामना धर्म प्रचार के कार्य को बहुत शांति और धैर्य से किये जाने के समर्थक थे, सभी धार्मिक प्रतीकों एवं संस्थानों का आदर करते थे, वे कहते थे कि "जब मै किसी गिरजा या मस्जिद के पास से गुजरता हूँ तब मेरा सिर सम्मान से झुक जाता है। इस तरह के विचारों का सम्मान कर और उसे अपने दैनिक जीवन में अपनाकर ही साम्प्रदायिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। बिना एक दूसरे के धर्म का सम्मान किये बंधुता का नारा देने से साम्प्रदायिक सद्भाव विकसित नहीं किया जा सकता है। अत: महामना के आदर्शो को समाज में फैलाकर सभी धार्मिक प्रतीकों एवं संस्थाओं का सम्मान सभी के मन में जागृत कर यह भावना फैलानी होगी कि ईश्वर एक है, भले ही उसकी आराधना करने के तरीके अलग-अलग हो। इसी से सामाजिक समरसता को बढ़ावा मिलेगा।

मालवीय जी ने शास्त्रों से प्रमाण प्रस्तुत कर कहा था कि "मनुष्य मात्र को विमल भक्ति के साथ ध्यान करके कि वह प्राणिमात्र में घट-घट व्यापी इस एक परमात्मा की उपासना करनी चाहिए और यह व्याप्त है, प्राणिमात्र से प्रीति करनी चाहिए।[2] मालवीय जी चाहते थे कि सार्वजनिक स्थानों से वर्णभेद का प्रश्न हट दिया जाय, छुआछूत की भावना को समाज में स्थान नहीं मिलना चाहिए।[3] मालवीय जी चाहते थे कि दूसरे नागरिकों की तरह हरिजनों को भी सार्वजनकि स्थानों मन्दिरों आदि के प्रयोग का समान अधिकार हो। वे चाहते थे कि सभी लोग उनसे प्रेम करें और उन्हें अपना भाई संमझकर छुआ-छूत को दूर करें।[4] उनसे हिल-मिल कर काम करें, और उनके उत्थान का उपाय सोचें।[5] उनके उत्थान के लिए मालवीय जी ने बताया कि

---

[1] प्रो0 मुकुट बिहारी लाल मालवीय जीवन और नेतृत्व वहीं पृ0 634

[2] सीताराम चतुर्वेदी: महामना पं0 मदन मोहन मालवीय, खण्ड-3 पृ0-10

[3] हिन्दू महासभा अधिवेशन, पूना, सन् 1935

[4] हिन्दू महासभा अधिवेशन, गया, सन् 1922

[5] हिन्दू महासभा अधिवेशन, गया, सन् 1935

मनुष्य पुण्य कर्म से वर्ण के उत्कर्ष को तथा पापकर्म से अपकर्ष को प्राप्त करता है। शील सम्पन्न शूद्र भी गुणवान ब्राह्मण के समान हो जाता है क्रियाहीन ब्राह्मण भी शूद्र से गिरा हो जाता है, उन्होंने कहा "सदाचार के सेवन से, सत्कर्म करने से शूद्र भी द्विजत्व को पहुँच सकता है और दुराचार अर्थात् बुरे कर्म करने से ब्राह्मण भी नीचे गिरकर शूद्रता को पहुँच सकता है।[1] सदाचार की महिमा व्यक्त करते हुए उन्होंने बताया कि सज्जनों के सत्संग में इच्छा पराये के गुणों से प्रीति, गुरू के साथ नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी स्त्री में प्रीति, लोकनिन्दा से भय, विष्णु की भक्ति, आत्मदमन की शक्ति, दुष्टों के संसर्ग से मुक्ति ये निर्मल गुण जिनमें बसते है, उन पुरूषों को नमस्कार है। ऐसी भावना एवं ऐसे विचारों को अपनाकर ही समाज को उम्कर्ष की ओर ले जाया जा सकता है एवं समानता के आधार पर सामाजिक पुननिर्माण कर राष्ट्र निर्माण एवं राष्ट्रीय एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त् किया जा सकता है। यह मालवीय जी की दूरदर्शिता थी कि उन्होंने बाद में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का पहले ही न केवल आभास कर लिया था, बल्कि उनका समाधान भी उन्होंने प्रस्तुत कर दिया था।

भारत में इस समय साक्षरता दर 65 प्रतिशत के लगभग है। अर्थात् 100 लोगों में से 35 व्यक्ति अभी भी निरक्षर हैं। महिलाओं में प्रत्येक 100 में लगभग 45 महिलायें निरक्षर हैं। अगर वर्गीय आधार पर देखा जाय तो पिछड़े वर्गो में साक्षरता दर 50 प्रतिशत से भी कम है। यह भारत के पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण है क्योंकि विज्ञान, तकनीकी और सूचना प्रौद्योगिकी का लाभ लेने के लिए यह आवश्यक है कि समाज उनके प्रति चेतनशील हो और चेतनशीलता' तभी आ सकती है, जबकि जानकारी हो और जानकारी बिना शिक्षा के उपलब्ध नहीं हो सकती। इसीलिए भारतीय यंविधान के अनुच्छेद 45 में यह घोषणा की गयी कि अगले दस वर्षो में 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को अनिवार्य, निःशुल्क एवं सार्वभौमिक शिक्षा प्रदान की जायेगी। यह दस वर्ष की अवधि 50 वर्ष बीत जाने के बाद पूरी होने की प्रक्रिया में है। अब जाकर सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य एवं निःशुल्क बनाया है। सर्वशिक्षा अभियान

---

[1] अन्त्यजोद्धार विधि

के द्वारा सरकार यह प्रयास कर रही है कि अगले दस वर्षों में सम्पूर्ण साक्षरता के लक्ष्य को प्राप्त कर लिया जाय।

यह कहा जाता है कि महान लोग दूरदर्शी होते हैं। वे सदियों बाद होने वाली बातों को पहले ही सोच लेते हैं। यह बात महामना मालवीय के बारे में पूरी तरह सत्य सिद्ध होती है। मालवीय जी ने बीसवीं सदी के शुरूआती दशकों में ही अनिवार्य, निःशुल्क एवं सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता को स्पष्ट कर दिया था। जब सन् 1911 में गोपाल कृष्ण गोखले ने अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा विधेयक प्रस्तुत किया तो मालवीय जी ने उसकाजबरदस्त समर्थन किया। उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा को 'अनिवार्य' 'निःशुल्क' और सार्वभौमिक' बनाने की माँग की।[1] वे बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर एलफिंसटन की इस बात से सहमत थे कि गरीबों की सुख-शांति बहुत हद तक शिक्षा पर निर्भर है। इसके जरिये ही वे विवेक और आत्मसम्मान का स्वभाव प्राप्त कर सकते हैं, जिससे समस्त गुण विकसित होते हैं।[2] महामना ने माँग की कि राजकोष से प्रेति वर्ष एक करोड़ रूपया हरिजन विद्यार्थियों की शिक्षा पर खर्च किया जाय। गरीबों के साथ-साथ स्त्रियों की शिक्षा पर भी उन्होंने बल देकर कहा कि समाज के आधे भाग को ज्ञान की ज्योति से तथा उत्कृष्ट जीवन से, जो ज्ञान द्वारा सम्भव है, वंचित रखना बहुत दुःखदायी बात होगी।[3]

महामना की शिक्षा व्यवस्था प्लेटो की शिक्षा योजना से कहीं अधिक ब्यापक और विस्तृत थी। मालवीय जी शिक्षा के पाठ्यक्रम में धर्म, नागरिकता और नैतिकता को शामिल करते हैं, जिससे आचरण की शुद्धि, पुष्टि और परिपक्वता का विकास हो सके। वे देशभक्ति की शिक्षा देना चाहते थे। वे चाहते थे कि विद्यालयों में संगीत काव्य, नाट्यकला, चित्रकला, वास्तुकला तथा मूर्तिकला आदि ललितकलाओं की शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध हो और उनमें से कम से कम किसी एक कला में विद्यार्थी

---

[1] वही सन् 1918, जि0 56, पृ0 910-911 ।

[2] प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में भाषण, सन् 1904।

[3] गवर्न जनरल की कौंसिल, जि0 49, पृ0 469।

अवश्य दिलचस्पी ले। इन कलाओं के साथ ही मालवीय जी प्रत्येक विद्यालय में व्यायाम के साधनों का समुचित प्रबन्ध आवश्यक मानते थे। उनके विचार में कतिपय प्राचीन और अर्वाचीन क्रीड़ा और व्यायाम के उपकरण, स्वास्थ्य की रक्षा और शरीर की पुष्टि के साथ-साथ मनोरंजन तथा पारस्परिक सद्भाव और सहयोग की क्षमता की वृद्धि के उत्तम साधन भी बन सकते हैं। मालवीय जी भारतीय विद्यार्थियों के लिए प्राचीन भारतीय दर्शन, साहित्य, संस्कृति और अन्य विद्याओं के साथ-साथ अर्वाचीन नीतिशास्त्र, समाजविज्ञान, मनोविज्ञान, विधिविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति का अध्ययन आवश्यक समझते थे। वे इन सभी विषयों के प्राचीन भारतीय और अर्वाचीन पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का तुलनात्मक और सवन्वयात्मक अध्ययन आवश्यक समझते थे। वे विश्वविज्ञान का समन्वय तथा विश्व के विद्वानों के सहयोगात्मक प्रयासों को मानव उन्नति के लिए आवश्यक समझते थे। इस तरह मालवीय जी की शिक्षा में संकीर्णता का समावेश तनिक भी नहीं था। वे ज्ञान का विस्तार मानव मात्र की भंला के लिए आवश्यक समझते थे।

महामना मालवीय में दूरदर्शिता थी। वे भविष्य के ज्ञाता थे, ऋषि थे, 'मन्त्र द्रष्टायो ऋषय:' उन्हें जनता की नाड़ी का सच्चा ज्ञान था। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि जब तक जनता अपने धर्म और संस्कृति का महत्व नहीं समझ लेती, तब तक हम स्वराज्य के अधिकारी नही होंगे। वे शिक्षा की सुदृढ़ नींव के बल पर- "एतद्देश प्रसूतस्य शकाशादग्र जन्मनः । स्वं स्वं चरितं शिक्षेरन् पृथिव्यां, सर्वमानवा:।" - के अनुसार भारत को पुनः जगद्गुरू के रूप में देखना चाहते थे। इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिन्दू विश्व विद्यालय की स्थापना की।"[1]

भारतीय अर्थव्यवस्था को कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था कहा जाता है। यहाँ की 70 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या गावों में रहती है। 62 प्रतिशत से अधिक श्रमिकों को कृषि क्षेत्र में रोजगार मिला हुआ है। सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 30 प्रतिशत

---

[1] बेंकटेश नारायण तिवारी: महामना पं० मदनमोहन मालवीय की जीवनी में श्री शिवधनी सिंह का विचार, पृ0 208

कृषि एवं सहायक क्षेत्रो से आता है। भारतीय शेयर सूचकांक भी कृषि उत्पादन के साथ ही घटता-बढ़ता रहता है। जिस वर्ष मानसून अच्छा रहता है, उस वर्ष शेयरों का भाव भी अच्छा बना रहता है। इसीलिए यहाँ कृषि में अधिक निवेश की आवश्यकता है, जिसे समझकर सरकार ने कृषि क्षेत्र के विकास के लिए अनेक योजनाओं को प्रारम्भ किया है। किसान केड्टि कार्ड, कृषि बीमा, कृषि सहकारी समिति, आदि योजनाओं से कृषकों को धन की व्यवस्था करने में सरकार ने सहयोग दिया है। सार्वजनिक वितरण व्यवस्था के माध्यम से आपातकालीन समयों में किसानों को खाद्यान्न कम दाम पर उपलब्ध कराया जाता है। विभिन्न उर्वरकों पर सरकार सब्सिडी प्रदान करती है। यद्यपि विश्व बैंक की व्यवस्था सब्सिडी को धीरे-धीरे कम करने की तरफ उन्मुख है, लेकिन भारत में धन की कमी के कारण पहले से ही सबिड़ी की मात्रा कम है। इसलिए भारत विकसित देशों से कृषि क्षेत्र में उदारीकरण की माँग करता है। इसके विपरीत उद्योग की स्थिति है, जहाँ भारतीय उद्योगों को संरक्षण की आवश्यकता है। लेकिन सरकार अंतर्राष्ट्रीय बाध्यताओं के कारण धीरे-धीरे संरक्षण को कम करती जा रही है। ऐसे में लघु एवं कुटीर उद्योगों को कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। मालवीय जी के विचारों में इन सभी समस्याओं का निदान खोजा जा सकता है। उन्होंने इन सभी बातों का अभास वर्षो पहले कर लिया था।

मालवीय जी देश की आर्थिक दशा की उन्नति के लिए कृषि और औद्योगिक विकास दोनों को आवश्यक मानते थे।[1] मालवीय जी ने कहा था कि सर्वांगपूर्ण कृषि सभी व्यापार तथा व्यवसाय की जननी है तथा राज्य की समृद्धि का आधार है। इसलिए भारत की आर्थिक उन्नति का कृषि व्यवसाय की उन्नति से गहरा सम्बन्ध है। फिर भी मालवीय जी का विचार था कि शुद्ध कृषि प्रधान देश व्यवसायी और उद्योगधन्धी देश की अपेक्षा कभी अधिक समुन्नत और आत्मसंरक्षण के योग्य नहीं हो सकता। इसलिए वे भारत के लिए एक ऐसी सन्तुलित आर्थिक नीति और व्यवस्था के पक्ष में थे, जिसके द्वारा कृषि ब्यवस्था समृद्ध हो, पुराने कुटीर उद्योगों का पुनरूत्थान

[1] प्रांतीय कौंसिल में भाषण सन् 1907।

हो तथा आधुनिक औद्योगिक तकनीक के आधार पर देश का औद्योगीकरण हो सके। इस प्रकार मालवीय जी बड़ी मशीनों का पक्ष लेते हुए देश को फिर से कृषि-प्रधान और उद्योग-प्रधान दोनों बना देना चाहते थे।

भारतीय उद्योगों को पहले संरक्षण प्रदान किया जाय, फिर उन्हें स्वतन्त्र व्यापार-विनिमय हेतु विश्व-प्रतिस्पर्द्धा के लिए खोला जाय। उन्होंने इंग्लैण्ड का उदाहरण दिया था कि ''स्वयं इंग्लैण्ड ने कड़े संरक्षणों द्वारा अपना व्यवसाय स्थापित किया है और जब इस उपाय से वह अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा व्यापार और व्यसाय में सबल हो गया और उसे किसी प्रतिस्पर्द्धा का भय नहीं रह गया तब उसने स्वतंत्र व्यवसाय नीति का अवलम्बन किया।[1] इस प्रकार मालवीय जी ने उद्घोषित किया कि न तो संरक्षण न स्वतन्त्र व्यवसाय ही प्रत्येक देश के लिए प्रत्येक दशा में उन्नति के लिए आवश्यक है। जहाँ इग्लैण्ड जैसे उद्योग धन्धों में समुन्नत देश के लिए स्वतंत्र व्यवसाय अनुकूल है, वहां व्यवसाय में अनन्त भारत के समान देश के लिए संरक्षण की नीति बुद्धिमानी और रक्षा की नीति है।[2]

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 38 के द्वारा सम्पत्ति के कुछ हाथों में संकेन्द्रण का विरोध किया गया है। तथा राज्य को यह कर्तव्य सौंपा गया है कि वह यह प्रयास करें कि समानता के आधार पर सम्पत्ति का वितरण पूरे समाज में हो सके। प्रारम्भ में जमींदारी और प्रीवीपर्स के उन्मूलन के रूप में सरकार ने कुछ प्रयास भी किया परन्तु उदारीकरण के बाद अमीरी और गरीबी के बीच का अंतर और अधिक बढ़ता जा रहा है। धनी अधिक धनी तथा गरीब अधिक गरीब होते जा रहे हैं। धन लोलुपता समाज की स्थाई समस्या बन चुकी है। इस समस्या का समाधान मालवीय जी के विचारों में मिल सकता है। वे चाहते थे कि वृहद् उद्योगों तथा अन्य वित्तीय संस्थानों का सार्वजनिक क्षेत्र में गठन किया जाय एवं आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित सभी लोग न्यासित की भावना से अनुप्राणित हों, देश के सारे भौतिक वैभव को राष्ट्र

---

[1] प्रान्तीय कौंसिल में भाषण सन् 1907।

[2] प्रोसिडिंग इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल, सन् 1911

की सम्पत्ति और धरोहर समझ सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करें। वे चाहते थे कि धनी लोग यह समझें कि ईश्वर ने जो धन दिया है, वह उनका नहीं है, बल्कि उसी का है ओर उसी के प्राणियों की सहायता के लिए उसे व्यय करना चाहिए।[1] महामना यह चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्त आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति के अनुरूप पुरस्कार मिलना चाहिए, जब तक वह व्यक्ति योग्यताओं के अनुसार और ईमानदारी के साथ समाज के लिए काम करता है।[2] इसलिए मालवीय जी चाहते थे कि न्याय की प्रतिष्ठा तथा देश हित में यदि आवश्यक हो तो भारतीय विधानसभाएं कानून द्वारा मुआवजा देकर जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर सकती है।[3] मालवीय जी की यह उत्कट इच्छा थी कि सम्पन्न लोगों के साथ गरीबों में भी आत्मसम्मान, आत्मनिर्णय और आत्मगौरव की भावना पुष्ट की जाय। सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों तथा जमींदारों और उनके कारिंदों की ओर मुँह उठाकर देखने की उनमें शक्ति पैदा की जाय। उन्हें बताया जाय कि उन्हें नागरिकता के वे सभी अधिकारी प्राप्त हैं जो उनसे अधिक सम्पन्न भारतीय नागरिकों की प्राप्त हैं।32 वे चाहते थे कि भारत के सभी लोग (विशेषकर किसान और ग़रीब) स्वयं यह अनुभव करें कि राष्ट्र कल्याण की पुष्टि और बृद्धि में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। उन्हें समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त करने का तथा सुखी, उत्कृष्ट जीवन बितवाने का नैतिक अधिकार है औरअपने लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रयोग कर वे अपने न्यायसंगत हितों की पुष्टि और वृद्धि कर सकते है, अपने भाग्य के विधाता और राष्ट्र के निर्माता बन सकते हैं। इस प्रकार महामना ने देश के कमजोर वर्गो में समानता की भावना को विकसित करने का प्रयत्न किया ताकि वे आत्म संतुष्ट जीवन व्यतीत कर सके और देश के विकास में अपना अमूल्य योगदान दे सके।[4]

---

[1] अभ्युदय, 26 मार्च सन् 1909।

[2] भारतीय लेजिस्लेटिव असेम्बली में भाषण सन् 1929।

[3] सर्वदलीय कान्फरेंस कलकतता अधिवेशन सन् 1928।

[4] एग्रीकल्चर कमीशन के सामने गवाही सन् 1927।

प्राचीनता की दृष्टि से यदि महामना को भारत का महर्षि कहा जा सकता था तो आधुनिकता की दृष्टि से तत्कालीन नेताओं में उनको 'राजर्षि कहना अत्युक्ति नहीं होगी। महान कार्य करने के कारण उनको महामना कहा गया।[1]

आज के नवयुवकों एवं नेताओं के लिए मालवीय जी का जीवन -चारित्र औषधि के तुल्य है। उनका चरित्र निष्कलंक और राष्ट्र-निष्ठा असंदिग्ध थी। उनके कार्य राष्ट्रीय सम्मान और मानवीय संवेदना सेअनुप्राणित जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता तथा सामाजिक प्रगति के सम्वर्द्धन की प्रेरणा से आत-प्रोत होते थे। वे पद के प्रलोभनों, सम्मान तथा पुरस्कार या सस्ती लोकप्रियता के कलंक से मुक्त थे। निष्ठावान हिन्दू होते हुए भी मालवीय जी राष्ट्र एवं धर्म के प्रति की गयी अपनी समस्त सेवाओं के बदले में अपने लिए मोक्ष तक की कामना नहीं करते थे। वे सही अर्थो में महामना थे।[2] वे भारत राष्ट्र की समस्त प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, परम्परा और प्रकृति के समन्वय, समुच्यय तथा सम्मिश्रण क़े मूर्त रूप थे।

महामना वर्तमान के सक्षम द्रष्टा और भावी प्रगति के अग्र दृष्टा थे। इसी प्रकार वे भारत के भूत, वर्तमान तथा भविष्य की सम्पूर्ण उत्कृष्टताओं के साक्षात् प्रतिनिधि थे अपनी मात्रभूमि की जिन गौरवपूर्ण प्राचीन श्रेष्ठताओं को हम विस्मृत कर चुके थे, उन्हें उन्होंने हमारे सामने नये रूप में उपस्थिति किया। वर्तमान काल की हमारी दबी हुई शक्ति का उद्घाटन कर उन्होंने हमें उसका ज्ञान कराया तथा भावी भारत का रूप कैसा होना चाहिए, इसका उन्होंने स्पष्ट निर्देश दिया।[3]

स्वतंत्रता के बाद भारत के सामने एक प्रमुख समस्या राष्ट्र निर्माण की थी, क्योंकि देश को विभाजन के कारण एक तरफ जहाँ साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना थी, वहीं दूसरी ओर देश के सामने विकास की समस्या थी। इसके लिए देश के नागरिकों में अटूट एकता की भावना का विकास अत्यंत आवश्यक था, लेकिन सही

---

[1] ईश्वर प्रसाद वर्मा: महामना मालवीय, पृ0 15।

[2] प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, महामना –स्मृति.अंक सन् 1993-96, पृ0 419।

[3] सोरेन सिंह : मदन मोहन मालवीय, व्यक्तित्व एवं कृत्रित्व, पृ0 507।

नीतियों एवं कार्यक्रमों को न अपनाये जाने के कारण राष्ट्र- निर्माण एवं राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या आज भी ज्यों की त्यों पड़ी हुई है। यद्यपि स्वयं सेवी संगठनों द्वारा इस क्षेत्र में प्रयास जारी हैं ताकि सर्वोदय की भावना के द्वारा राष्ट्र का विकास हो सके और देश जैसा कि महामहिम राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम के सपनों के आधार पर सन् 2020 तक विकसित राष्ट्र बन सके। इसके लिए जातीय, साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय, वर्गीय तथा लिंग सम्बन्धी विभेदों को मिटाना होगा। महामना ने बहुत पहले ही इन सभी क्षेत्रों में भारत की एकता के लिए प्रयास किया था।

मालवीय जी सभी जातियों, सम्प्रदायों, और प्रांतों के भारतीयों को मिलाकर भारत राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे। वे एक ही समय में विभिन्न प्रकार के सेवा कार्यो में संलग्न रहते थें उनका कार्यक्षेत्र निःसन्देह बड़ा ही विस्तृत और व्यापक था। समाज सेवा का ऐसा कौन सा कार्य होगा, जो उन्होंने न किया होगा। सनातन धर्म का प्रचार, प्राचीन भारतीय संस्कृति का समर्थन, हिन्दू हितों की रक्षा, हिन्दी का प्रसार, देश की स्वतंत्रता, गौ सेवा, सामाजिक कुरीतियों का विरोध, स्वयं सेवकों का संगठन, नाना ज्ञान-विज्ञान को वृद्धि, शिक्षा का विस्तार, मल्लशालाओं का उद्घाटन, दीनों के कष्टों का निवारण, स्त्रियों का उत्कर्ष, हरिजनों का उत्थान, समाज की आर्थिक उन्नति, लोकतांत्रिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठा, देश प्रेम पर आश्रित राष्ट्रीय भावना की पुष्टि, प्रगतिशील सिद्धान्तों का प्रतिपादन, संस्कृति का विकास, नवयुवकों का निर्माण आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। दैवी सम्पत्तियों से विभूषित जीवन को उन्होंनें समाज सेवा में लगाया और समाज सेवा द्वारा अपने जीवन को उठाया तथा व्यक्तित्व का विकास किया।[1]

पूरे विश्व में इस समय बेरोजगारी की गम्भीर समस्या है, कई देशों में बेरोजगारी के कारण आन्दोलन, आतंकबाद, अपराध आदि में वृद्धि हो रही है। अमेरिका में बेरोजगारी के निदान के लिए 'आऊटसोर्सिग' के खिलाफ कानून पारित किया जा

---

[1] मुकुट बिहारी लालः वही,पृ0 579।

रहा है। पश्चिमी देशों में आब्रजन कानूनों को सख्त किया जा रहा है। भारत में तो स्वतन्त्रता के समय से ही बेरोजगारी एक प्रमुख समस्या रही है। आतंकवाद, नक्सलवाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद आदि अनेक वादों के जन्म में बेरोजगारी की प्रमुख भूमिका रही है। अभी हाल ही में आसाम, बिहार और महाराष्ट्र में चतुर्थ श्रेणी की सेवाओं में भर्ती को लेकर हुए दंगे इसकी विभीषिका को स्पष्ट करते हैं। यह समस्या (बेकारी की समस्या) दिनों-दिन विकराल रूप ग्रहण करती जा रही हैं। सरकार ने कभी भी इसके लिए योजनाबद्ध रूप से प्रयास नहीं किया। वर्तमान में तो उदारीकरण के बुखार में छँटनी की प्रक्रिया चल रही है। बेकारी की समस्या के कारण एवं निदान तथा उपचार के लिए मालवीय जी ने उसी समय अपना विचार स्पष्ट कर दिया था।

उन्होनें नवयुवकों को बेकारी की समस्या से मुक्ति दिलाने के लिए व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षा पर बल दिया बेकारी का कारण बताते हुए उन्होंने कहा था कि आज बेकारी का प्रधान कारण है-हमारे शिक्षा संस्थान विविध विषयों की शिक्षा प्रदान नहीं करते। उनके द्वारा प्रदत्त शिक्षा अर्थपरक नहीं है। कला एवं विज्ञान के विद्यार्थी मात्र एक अध्यापक अथवा राजय कर्मचारी पद के लायक ही रहते हैं, परन्तु पहले से ही भरे हुए पदों पर अल्प संख्या में ही नियुक्ति हो सकती है। अतएव इस समस्या के हल का एक मात्र उपाय है कि व्यापार, कृषि, शिल्प अभियंत्रिकी तथा प्रयोगात्मक रसायन में शुद्ध ढंग पर भरपूर शिक्षा का उन्नयन हो। शिक्षा को ऐसा क्रियात्मक रूप प्रदान किया जाय जो प्रत्येक युग में प्रासंगिक और उपयोगी हो।[1]

मालवीय जी की वर्तमान समय में प्रासंगिकता को कुछ महान लोगों के वक्तव्यों एवं विचारों में देखा जा सकता है-

जैसा कि भारत के पहले राष्ट्रपति डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने कहा-" पंडित मालवीय के काम और उनके नाम से भावी पीढ़ी को यह प्रेरणा मिलेगी कि दृढ़ भक्ति से मनुष्य के लिए सब कुछ सम्भव है। मालवीय जी की सेवाएं बहुत ऊँची है और कुछ

---

[1] वही पृ0 59।

शब्दों में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे सच्चे देशभक्त थे।[1] देश भक्ति की वह चिनगारी जिसने उन्हें कांग्रेस के एक शुरू के अधिवेशन में लब्धिप्रतिष्ठित बना दिया था, वह दूसरों के मार्गदर्शन के लिए अग्निशिख बन गयी और उनके जीवन के अंतिम दिनों तक, उस समय भी जबकि आयु के कारण वह दुर्बल हो गये थे, जलती रही। आयु के भार ने देश प्रेम को और देश की प्रगति से सम्बन्धित हर चीज की चिन्ता को कम नहीं किया। उन्होंने बहुत से क्षेत्रों में , जिनमें उन्होंने बड़े बड़े काम प्रारम्भ ओर पूरे किये, देश के लिए समर्पित सेवा और बलिदान की मूल्यवान बपौती हमें छोड़ी है। उनकी याद हमें और नवयुवक पीढ़ी को प्रोत्साहित और अनुप्राणित करती रहेगी।[2]

सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा- मालवीय जी की सेवाओं का इतिहास देश की प्रगति का इतिहास है। उनका निकृष्टतम निन्दक भी उनके आदर्शो और लक्ष्यों की उच्चता के विरूद्ध एक शब्द भी नहीं कह सकता। सम्भवत: मालवीय जी हम लोंगो के समय में प्राचीन हिन्दू संस्कृति और दर्शन के सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे।[3]

पं0 हृदयनाथ कुंजरू ने कहा- मालवीय जी ने 60 वर्ष तक जिस श्रद्धा, लगन तथा नि:स्वार्थ भाव से राष्ट्र की सेवा की है, वह किसी भी देश के इतिहास में अद्भुत और स्मरणीय है।[4]

आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा- ''मालवीय जी भारत के गौरव स्तम्भ थे। उनकी देशभक्ति और सेवा भारतीयों को नया उत्साह देती रहेगी। देश की पुकार पर उन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी। देश में शिक्षा का प्रचार कर उन्होंने अमूल्य सेवा की है। हिन्दू विश्वविद्यालय उनका सर्वोत्तम स्मारक है।''[5]

---

[1] आज, 15 नवबर सन् 1946।

[2] महामना मालवीय जी: बर्थ सेनेटरी को मेमोरेशन वाल्यूम।

[3] आज 15 नवम्बर सन् 1946।

[4] वही।

[5] वही।

श्री श्रीप्रकाश ने कहा-मालवीय जी बड़े ही निर्भीक, सत्यनिष्ठ और परम्परानुसार चलने वाले थे। उन्होंने अपने जीवन में कभी किसी की बुराई नहीं की- और यह मिसाल रख दी कि आदमी ईमानदारी, सच्चाई और हिम्मत से अपने उद्देश्य को पूरा कर सकता है।[1]

स्वामी श्रद्धानन्द ने कहा- "दलबन्दी कर नेता बनने की इच्छा से वे (मालवीय जी) कोसों दूर थे। वह जो कुछ करते, उसमें देशभक्ति और सेवाभाव सर्वोपरि रहता था।"[2]

जवाहरलाल नेहरू ने कहा- "वे महान क्रान्तिकारी थे, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन उनके सामने हमेशा बनाने की बात रहती थी, बनाने के सिलसिले में चीजें टूट भी जाती थी और वे हटा दी जाती थीं। वे इससे घबराते नहीं थे- किसी के टूटने में या झाडूदेकर साफ कर देने में। लेकिन उनका खास ध्यान हमेशा बनाने की ओर रहा। खाली यही नहीं कि संस्थायें बनायी हों- बहुत सारी बनाई उन्होंने, बल्कि उन्होंने भारत के लोगों को बनाया। वे चाहते थे कि भारत के लोगों में हिम्मत पैदा हो, उनका सिर ऊँचा हो, उनमें अपने ऊपर भरोसा हो।[3]

प्रो0 शांतिलाल कायस्थ, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने अपने संस्मरण में बताया कि किस व्यक्ति से किस प्रकार काम निकाला जा सकता है यह मालवीय जी को बखूबी आता था। एक बार की बात है, प्रो0 त्रिगुणायक जी उस समय स्वदेशी और देशभक्ति के प्रतीक खद्दर के लिबास में गाँधी टोपी पहने विभाग में जाया करते थे। वह नित्य की तरह एक दिन विभाग में पहुँचे, तो मालूम हुआ कि एक अंग्रेज परस्त मुसलमान गवर्नर के साथ मालवीय जी विभाग के निरीक्षण हेतु आने वाले हैं। प्रो0 त्रिगुणायक और भी चुस्ती के साथ लैब को ठीक-ठाक करने में लग गये और उत्सुकता से इंतजार करने लगे।

---

[1] वही ।

[2] मालवीय जी, जीवन झलकियाँ, वही पृ0 10।

[3] वही, पृ0 6।

जब गवर्नर साहब और मालवीय जी आये, तो आते ही मालवीय जी की पैनी दृष्टि त्रिगुणायक जी की ओर गयी, जो गाँधी टोपी और खद्दर का कुर्ता, पायजामा पहने हुए थे। मालवीय जी ने उन्हें तुरन्त वहाँ से हट.जाने का संकेत दिया। त्रिगुणायक जी हट तो गये, पर मन ही मन झुँझलाये कि स्वदेशी पहनावा कोई गुनाह तो नहीं है कि सामने से ओझल हो जाया जाय। आखिर मालवीय जी भी तो स्वदेशी के हिमायती थे। एक दिन प्रो0 त्रिगुणायक जी से रहा नहीं गया और उन्होंने मालवीय जी से शिष्टता के साथ कहा कि आपने मुझे उस दिन हट जाने को क्यों कहा था? मालवीय जी ने समझाया कि यह गवर्नर अंग्रेज परस्त टोडी था। स्वदेशी वस्त्रधारी देशभक्तों से उसे बेहद नफरत थी। ऐसी स्थिति में बड़े विवेक से काम लेना चाहिए। जब हाथ दब जाता है, तो एसे धीरे से निकालना पड़ता है, नहीं तो उगलियाँ टूट जाती हैं। यह सुनते ही त्रिगुणायक जी का कोध शान्त हो गया। साथ ही वह महामना जी के सूझ-बूझ के प्रति नतमस्तक हुए और इस नेक सलाह के लिए धन्यवाद देने लगे। त्रिगुणायक जी इस घटना का स्मरण कर बड़े प्रसन्न होते थे और दूसरों को सुनाते थे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बीसवीं शताब्दी के नवें दशक में कुलपति रह चुके प्रो0 रघुनाथ प्रसाद रस्तोगी ने अपने सभी कार्यों के पीछे महामना के दैवी आशीर्वाद के प्रभाव का बल माना है। उनका संस्मरण है कि विश्वविद्यालय में ऐसे अनेक अवसर आये जब उन्हें कठोर, निर्णय लेने पड़े,पर जब भी मन में दुविधा होती थी वे मालवीय जी के चित्र के समक्ष खड़े हो जाते थे, सही निर्णय पर मालवीय जी के चेहरे पर ओज प्रकट होता था। महामना का यह परोक्ष वादहस्त उनके लिए बहुत बड़ा सम्बल था।

श्री श्रीशचन्द्र पाण्डेय, जिन्होंने मालवीय जी के सानिध्य में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययन किया था, अपने संस्मरण में बताया है कि ,"जो लोग मालवीय जी को कट्टर ब्राह्मण और छुआछूत का समर्थक मानते हैं वे यह नहीं जानते

कि उन्होंने सन् 1928 में दशाश्वमेध घाट पर हरिजनों को गंगाजल छिड़ककर पवित्र किया,धर्मोपदेश दिया एवं प्रसाद वितरण भी किया। मैं स्वयं उस अवसर पर वालेन्टियर के रूप में सेवारत था। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि आखिरकर कौन सा मन्त्र दिया जायेगा। उन्होंने असवर्णो को मांस, मद्यादि से विरत रहने का उपदेश दिया तथा "ॐ नमः शिवाय"मन्त्र की दीक्षा दी।" उन्होंने बताया कि उनके ऊपर महामना का जो प्रभाव पड़ा, उसी के कारण वे बहुत से छल-छद्मों से बच सके।

महामना की महानता का आदार सभी धर्म जातियों के लोग करते थे। सन् 1927 के मद्रास कांग्रेस अधिवेशन में महामना का ऐतिहासिक भाषण आज भी प्रासंगिक है, जिसके मुख्य बिन्दु थे-1-सभी मतभेदों से ऊपर उठकर स्वराज्य के लिए संघर्ष करना, 2- पृथक् निर्वाचन की समाप्ति और संयुक्त निर्वाचन, 3- प्रांतों के आर्थिक हित में भाषा के आधार पर उनका पुनर्गठन, 4- मुसलमानों द्वारा गोवध और हिन्दुओं द्वारा मस्जिद के सामने बाजा बजाने पर प्रतिबन्ध, 5- सभी जातियों, सम्प्रदायों और बिरादरियों में एका, और 6- एक ही परमात्मा और एक ही माता-पिता में निष्ठा। मौ0 मुहम्मद अली ने मालवीय जी के अद्‌भुत भाषण पर टिप्पणी करते हुए कहा, था " कि अल्पसंख्यकों के वास्तविक हिमायती पण्डित मदन मोहन मालवीय हैं। मैं पण्डित मदन मोहन मालवीय में विश्वास रखने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं उन्हें धोखा नहीं दूँगा। मैं विश्‍वास करता हूँ कि वे मुझे धोखा नहीं देंगे।[1]

इसी प्रकार साइमन कमीशन पर मालवीय जी के विचारों का सम्मान करते हुए जिन्ना ने कहा था कि "मैं पण्डित मदन मोहन मालवीय के विचारों का स्वागत करता हूँ।[2]

यह सही है कि मालवीय जी कट्‌टर सनातनी ब्राह्मण थे और हिन्दू तथा हिन्दू हितों के प्रबल समर्थक थे। परन्तु उनके हिन्दूवाद का भारतीय राष्ट्रवाद से वैसा टकराव कभी नहीं हुआ या मालवीय जी ने नहीं होने दिया जैसा डा0 मुंजे और गोलवरकर

---

[1] इंडियन क्वाटरली रजिस्टर, 1927 जि0 2 पृ0 408-410।

[2] वही जि0 1।

के हिन्दूवाद का हुआ। मालवीय जी कांग्रेस को स्वतंत्रता का मूल मंच स्वीकार करते थे, और उसे इस रूप में सुदृढ़ एवं सबल बनाना प्रत्येक देशभक्त का कर्त्तव्य समझते थे। उनकी दृष्टि में कांग्रेस की गलत नीति -रीति और कियाकलापों की खुली आलोचना हो सकती थी और तगड़ा विरोध किया जा सकता था पर उसके पीठ पीछे या उसके विरोध में साम्राज्यशाही से समझौता, उनकी दृष्टि में एक ऐसा अपराध था, जिसे जनता कभी सहन नहीं कर पाती।[1]

परन्तु दुःखद तो यह है कि मालवीय जी को न सिर्फ उनके जीवनकाल में ही गलत समझा गया, बल्कि उनके मृत्युपरान्त भी उनका सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया गया। हिन्दू मुस्लिम सम्बन्धों पर समय-समय पर दिये गये उनके वक्तव्यों से यह स्पष्ट होता है कि वे भारतीय मुसलमानों के शत्रु नहीं अपितु शुभचिन्तक थे। उनके अनुसार हिन्दुस्तान जैसे हिन्दुओं का प्यारा जन्मस्थान है, वैसा ही मुसलमानों का भी है। ये दोनों जातियां अब यहाँ बसतीं है और सदा बसतीं रहेंगी।[2]

मालवीय जी को मुस्लिम विरोधी कहे जाने पर गाँधी जी ने 29 मई, सन् 1924 को 'यंग इंण्डिया' में लिखा था कि " मै मालवीय जी को हिन्दुओं में सर्वोत्कृष्ट होने के कारण सम्मान की निगाह से देखता हूँ, जो यद्यपि रूढ़िवादी होने के बावजूद सर्वाधिक उदार विचार रखते है। वे मुसलमानों के शत्रु नही है।" उन्होंने मुसलमानों को सम्बोधित करते हुए कहा-आपका काम मालवीय जी के बगैर वैसे ही नहीं चलेगा जैसे हिन्दुओं का हकीम अजमलखान के बिना।[3]

वस्तुतः मालवीय जी धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर बल देते थे। उनकी धारणा थी कि यदि प्राणि-मात्र में धर्म का यथार्थ बोध हो जाय तो मानव की पशुता और पारस्परिक द्वन्द्व समाप्त हो जाय। अतः समाज में सामाजिक सम्बन्धों की निरन्तरता और समन्वय हेतु वे धर्म को आवश्यक समझते थे। धर्म के सम्बन्ध में मालवीय जी की

---

[1] मुकुट बिहारी लाल, महामना मदन मोहन मालवीय, वहीं पृ0 330 ।

[2] पद्मकान्त मालवीय (संपा मालवीय जी के लेख वहीं पृ0 24-25 ।

[3] परमानन्द, मदनमोहन मालवीय वाल्यूम-द्वितीय, पृ0 651 ।

अपनी विशिष्ट विचारधारा थी। उनका सामाजिक और राजनैतिक नेतृत्व भी उनकी धार्मिक विचारधारा से विशेषरूप से प्रभावित था। उनकी धार्मिक भावना से हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी प्रभावित थे। उनकी प्रशंसा में जहाँ कविगुरू रविन्द्रनाथ टैगोर ने खण्ड-काव्य की रचना की, वहीं अकबर इलाहाबादी जैसे मुसलमान साहित्यकारों ने अपने शेरों में उनकी प्रशंसा की।[1].

इस प्रकार उस समय के लगभग सभी महान ब्यक्तियों ने महामना की महानता का गुणगान किया और बताया कि महामना के विचार सदैव प्रासंगिक है, क्योंकि महामना देशभक्ति के आगे सभी भावों को दबा देना चाहते थे, ऐसा कर ही भारत राष्ट्र को दुनियां की महाशक्ति बनाया जा सकता है। महामना मानव में मानवता की भावना का विकास चाहते थे, जिस पर आज तमाम मानवाधिकारी संगठन जोर देते हैं। वे प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना चाहते थे, जिसको आज जैव-विविधता तथा जीन-संरक्षण के नाम पर बढ़ावा दिया जा रहा है।

इसी प्रकार मालवीय जी देश के विकास के लिए छोटे उद्योगों के साथ बड़े उद्योगों का भी महत्व स्वीकार करते थे। जातिवाद का वे विरोध करते थे। धर्म के नाम पर राजनीति करने वालों की वे आलोचना करते थे तथा यह मानते थे कि सच्चा धार्मिक व्यक्ति कभी साम्प्रदायिक नहीं हो सकता। वे दलीय राजनीति का विरोध करते थे तथा चाहते थे कि वैचारिक भिन्नता के बाद भी देशहित में सभी दलों को एकमत से जुट जाना चाहिए। वैचारिक विभिन्नता के कारण मनमुटाव का वे सदा विरोध करते थे। आज जहाँ धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक भावनाएं उभारी जाती हैं, दंगे फसाद होते हैं, मालवीय जी की धर्म के बारे में धारणा थी कि "मनुष्य के पशुत्व को ईश्वरत्व में परिणत करना ही धर्म है। मनुष्यत्व का विकास ही ईश्वरीय और ईश्वर है।"[2]

अस्तु इस प्रकार हम यह देखते हैं कि देश, काल और परिस्थितियों के अनुरूप मालवीय जी के सामाजिक, राजनीतिक विचार उनके द्वारा बताये गये मूल्य एवं आदर्श

---

[1] प्रज्ञा, वहीं, पृ0 327

[2] अभ्युदय, 19 मई, सन् 1912

वर्तमान में एक सम्पूर्ण सामञ्जस्यपूर्ण तथा सहयोगी राजनीतिक समाज के निर्माण के लिए उतने ही प्रासंगिक एवं अनुकूल प्रतीत होते है, जितने तत्कालीन समाज की परिस्थितियों हेतु प्रासंगिक थे। वर्तमान समय में मानव जिस परिवेश में रह रहा है, उसके समक्ष अनेक प्रकार की समस्याएं सुरस की तरह मुँह बाए खड़ी हैं, उसके मार्ग में अनेक बाधाएं इस प्रकार अवरोध पैदा कर रही हैं कि वर्तमान समाज समस्याओं के इस अंबार से जूझता प्रतीत हो रहा है। जहाँ प्राचीन समय की स्वर्णिम सुखानुभूति एवं समाज की व्यवस्थित अवधारणा हमें आज भी आलोकित करती है, वहीं मध्यकाल की आकामक, विभेदीकारी, एवं सामंतवादी नीतियों ने जो हमारे समक्ष संकट पैदा किया उसे अंगेजों ने अपने 'फूट डालो और राज करो' की नीति से आगे बढ़ाया और वे सपोले जो जाति सम्प्रदाय एवं रंग आदि के आधार पर हममें विभाजन पैदा कर रहे थे, वे अंग्रेजों के विभेदीकारी एवं कलुषित मनोवृत्तियों के चलते आज विशाल वृक्षों में परिवर्तित हो चले हैं, जिनके कुफलों से समाज की जड़ें हिल चुकी हैं। आपसी मनोमालिन्य, टकराव एवं वैमनस्यता के रूप में समाज में प्रकट होने लगा, वहीं, बाहरी हस्तक्षेपों ने हिंसा के तांडव को आतंक के राज्य में बदल दिया। वोट की राजनीति ने मानव-मानव के बीच की खाई को इतनी चौड़ी कर दिया है कि उसे पाट पाना साधारण मानव के बस से परे की बात हो चली है। ऐसे में मालवीय जी की सोंच, उनकी सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों की विशाल अवधारणा जहाँ एक ओर हिन्दू मुस्लिम एकता जाति एवं धर्म से ऊपर उठकर समाज को सम्पूर्ण, सर्वस्व समर्पित करने का उनका आवाहन आज भी हमें अलौकिक आशा की किरणें प्रदान करता है, क्योंकि मालवीय जी एक सच्चे, अच्छे एवं महान राष्ट्र के सपूत थे। वे एक महान हिन्दू तो थे ही, लेकिन उससे आगे बढ़कर एक महान मानव थे, जिनके लिए भारत एक राज्य का आदर्श नहीं था, बल्कि भारत को एक राष्ट्र बनाने की उनकी संकल्पना थी जो भारतीय "आदर्श सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्, दुःख भाग भवेत्" के द्वारा सम्पूर्ण मानवता को अपने आप में समाहित कर मानववाद और एक विश्व समाज की पकिल्पना हमारे समक्ष रखना चाहते थे। जिसमें

मानव, मानव के बीच टकराव ही नहीं दूर होगा वरन् समता का भाव आयेगा। भारत राज्य ही स्वतंत्र नहीं होगा वरन् सुराज्य के माध्यम से लोग अपने दायित्वों का निर्वहन भी करेंगे। साम्प्रदायिकता का दानव आपसी प्रेम एवं भ्रातृत्व में बदलकर एक ऐसे समाज का सुगठन करेगा जिसके आलोक में मानवता पल्लवित एवं पुष्पित होगी। ऐसे उदात्त मालवीय जी के विचार ही वर्तमान के गहन अंधकार के धुंध को मिटाकर प्रकाश की किरणें विखेर सकते हैं, जिससे भारत एक उन्नत, महान और समृद्ध राष्ट्र के निर्माण की दिशा में अग्रसर हो सकेगा। यही आशा की किरणें मालवीय जी की वर्तमान समय में प्रासंगिकता को अक्षुण्ण बना देते हैं।

* * * * *
* * *
*

संदर्भ ग्रन्थ-सूची एवं पत्र-पत्रिकाएं

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

पं0 सीताराम चतुर्वेदी : महामना पं0 मदन मोहन मालवीय (खण्ड-1), वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, संवत् 1993 विक्रमी।

पद्मकान्त मालवीय : मालवीय जी, जीवन झलकियाँ, (संकलन), दिल्ली नेशनल, 1962।

पद्मकान्त मालवीय : मालवीय जी के लेख (संकलन), दिल्ली, नेशनल, 1962।

वासुदेव शरण अग्रवाल (संपा0) : महामना मालवीय, लेख और भाषण (धार्मिक-1) का.हि.वि.वि. 1962।

डॉ0 कृष्ण दत्त द्विवेदी : भारतीय पूनर्जागरण और मदन मोहन मालवीय, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1981।

संसार चन्द : भारत के आदर्श पुरुष, दिल्ली, उमेश प्रकाशन, 1971।

वेंकटेश नारायण तिवारी : महामना पं0 मदन मोहन मालवीय की जीवनी (संकलन संपादन), वाराणसी, का.हि.वि.वि., 1962।

डॉ0 ईश्वरी प्रसाद वर्मा : मालवीय जी के सपनों का भारत, दिल्ली, सस्ता साहित्य केन्द्र, 1967।

पं0 रामनरेश त्रिपाठी : तीस दिन मालवीय जी के साथ, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, 1946।

ब्रजमोहन व्यास : महामना मालवीय, संस्मरणात्मक सचित्र जीवनी, साधना सदन, लूकरगंज, इलाहाबाद, 1963।

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी, आचार्य श्री केशवचन्द्र मिश्र, श्री रामायण उपाध्याय, श्री राम नक्षत्र त्रिपाठी : सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय जीवन (महामना मालवीय स्मारक व्याख्यान माला ग्रन्थ) भारतीय प्रकाशन मन्दिर, काशी सदन, पान दरीबा, लखनऊ, 1975।

प्रो0 मुकुट बिहारी लाल : महामना मदन मोहन मालवीय, जीवन एवं नेतृत्व, मालवीय अध्ययन संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1978।

यमुना प्रसाद श्रीवास्तव : महामना मालवीय, अशोक पुस्तक मन्दिर, वाराणसी, 1961।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री : हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, लाहौर, मेहर चंद कम्पनी, 1946।

स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ पंडित मदन मोहन मालवीय : जी.ए.नेटशन एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1991।

सोमस्कन्दन एवं एस. एल. दर : हिस्ट्री ऑफ द बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस हिन्दू यूनिवार्सिटी प्रेस, वाराणसी, 1966।

महात्मा गाँधी : आत्मकथा, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, 1946।

वी.ए. सुन्दरम : महामना मालवीय जी (फ्रॉम, टोर्च-बीयरर्स) बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, 1948।

मालवीय जी : लाइफ एण्ड स्पीचेज, मद्रास, गणेश एण्ड कम्पनी 1978।

डॉ0 देवी प्रसाद सिंह : हिन्दू समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया, गोरखपुर, पूर्वी प्रकाशन, 1984।

काशीनाथ द्विवेदी (अनुवादक) : राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी (गाँधी जी), अहमदाबाद, नवजीवन, 1959।

सी.एच. सेटलवेड : रीकलेक्शन्स एण्ड रिफलेक्शन्स, बाम्बे, पद्मा पब्लिलेशन्स, 1931।

आई. के. पी. शर्मा कं0 : लाइफ स्केच ऑफ पंडित मदन मोहन मालवीय, भारतीय आयुर्वेद पब्लिकेशन सीरीज, बंग्लौर, 1961।

बी.बी. शुक्ला (अनु0) : माननीय पं0 मदन मोहन मालवीय के जीवन और व्याख्यान, कानपुर, कल्युगी पुस्तकालय, 1953।

पी. सितामैय्या : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस, बाम्बे, पद्मा पब्लिकेशन्स 1947।

एस0 के0 सिंह : माननीय पं0 मदन मोहन मालवीय और हिन्दू विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, वी. एन. भार्गव प्रेस, 1916।

वी.ए. स्मिथ : आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, क्लेरेन्डन प्रेस, 1958।

आर. सुमन : हमारा स्वराज्य, राष्ट्र निर्माता, इलाहाबाद (1948)।

वी.ए. सुन्दरम (एडीशन) : बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी 1905-1935, वाराणसी, बी.एच.यू. 1936।

वी.ए. सुन्दरम (एडीशन) : बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी 1916-1942, वाराणसी, बी.एच.यू. 1942।

वी.ए. सुन्दरम (एडीशन) : होमेज टू मालवीय जी, वाराणसी, बी.एच.यू. 1949।

वी.ए. सुन्दरम : महामना मालवीय, बनारस, बी.एच.यू. प्रेस, 1948।

वी.पी. वर्मा : माडर्न इण्डियन पॉलिटिकल थॉट, आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल एजूकेशनल पब्लिकेशन।

विलियम फ्रेडरिक विल्सन : इण्डियन चाओस, लन्दन, इयरे, स्पोटीसूद, 1932।

डॉ0 लक्ष्मी शंकर व्यास : महामना मालवीय और हिन्दी पत्रकारिता, वाराणसी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1987।

बी.आर. नन्दा : गोखले, लन्दन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1977।

एम.के.गाँधी : दी स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेन्ट्स विद टूथ, अहमदाबाद, नवजीवन, 1927।

जवाहर लाल नेहरू : ए बन्च ऑफ ओल्ड लेटर्स, बाम्बे, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, द्वितीय एडीशन, 1960।

माइकल ब्रेचर : नेहरू: ए पॉलिटिकल बायोग्राफी, लन्दन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959।

के.बी. कृष्णा	:	दी प्राब्लम ऑफ माइनारिटीज आर कम्यूनल रीप्रेजेन्टेशन इन इण्डिया, लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड अनविन्, 1939।
डी.एन. सेन	:	दी प्राब्लम ऑफ माइनारिटाज, सी.यू. पब्लिकेशन, 1940।
बी.आर. अम्बेडकर	:	ह्वाट गांधी एण्ड दी काँग्रेस हैव इन टू दी अनटचेबल्स, द्वितीय एडीशन, बाम्बे, ठाकर एण्ड कम्पनी, 1946।
जय प्रकाश नारायण' स फारवर्ड टू जे.डी. सेठी	:	गाँधी टूडे, नई दिल्ली, विकास पब्लिशिंग हाऊस, 1978।
धूरजती मुखर्जी	:	दी टावरिंग स्पिरिट, नई दिल्ली, चेतना पब्लिकेशन्स, 1978।
मदन मोहन मालवीय	:	इकॉनामिक डिक्लाइन इन इण्डिया, मद्रास, सन्स ऑफ इण्डिया, 1918।
मदन मोहन मालवीय	:	हिन्दू यूनिवर्सिटी ऑफ बनारस, (ह्वाई इट इस वान्टेड एण्ड ह्वाट इट एम्स एट), इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।
महादेव देसाई	:	द गीता एकार्डिंग टू गाँधी, अहमदाबाद, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1956।
गाँधी	:	हिन्दू धर्म, अहमदाबाद, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1940।
एस.एल. मल्होत्रा	:	सोशल एण्ड पॉलिटिकल ओरिएन्टेशन ऑफ नीओ – वेदान्तीज्म, दिल्ली, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, 1970।
यू.एस. मोहन राव (एडीशन)	:	द मैसेज ऑफ महात्मा गाँधी, नयी दिल्ली, पब्लिकेशन डिविजन, 1968।
मैजिनी	:	दी ड्यूटीज ऑफ मैन, लन्दन, एसवरीमैन्स एडीशन, 1929।

सी.एफ. अनटूटाह्नटिनेन : दी कोर ऑफ गांधीज फिलॉस्फी, नयी दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशन, 1979।

अरविन्दो : ऑन नेशनलिज्म, आई, पाण्डिचेरी, 1965।

पं0 सीताराम चतुर्वेदी : महामना पं0 मदन मोहन मालवीय (प्रेसेन्टेड ऑन द 75 वाँ एनीवर्सरी) काशी, पूष कृष्णाष्टी 1973 वी. एस.।

डॉ0 उमेश दत्त तिवारी : महामना के प्रेरक प्रसंग, खण्ड-1-5, वाराणसी, महामना मालवीय फाउन्डेशन, वाराणसी 1996-2002।

एम0एम0 मालवीय : भारत की माँग, प्रयाग, अम्यूदय प्रेस 1917।

मदन मोहन मालवीय : ईश्वर, गोरखपुर, गीताप्रेस 1932।

मदन मोहन मालवीय : स्पीचेज, मद्रास, जी.ए. नटेशन एण्ड कम्पनी, 1916।

मदन मोहन मालवीय : स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, मद्रास, जी. ए. नटेशन एण्ड कम्पनी, 1916।

मदनमोहन मालवीय : स्वराज्य पर मालवीय जी या महामना पं0 मदन मोहन मालवीय : स्वराज्य सम्बन्धी व्याख्यान, कानपुर, प्रताप प्रेस, 1917।

मोहम्मद नोमन : मुस्लिम इण्डिया, इलाहाबाद, किताबिस्तान, 1942।

वी0एन0 नायक : इण्डियन लिब्रलिज्म, सिल्वर जुबिली वाल्यूम, बाम्बे, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1945।

प्रोसीडिंग्स ऑफ द फोर्थ यूनाइटेड प्रोविन्स : पॉलिटिकल साइन्स कान्फ्रेन्स, बनारस, 1910।

वी.वी. रामन्नामूर्ति : नान वायलेन्स इन पोलिटिक्स, दिल्ली, फ्रैंक ब्रदर्स एण्ड कम्पनी, 1958।

डी.एस. शर्मा : स्टडीज एण्ड द रेनाशां ऑफ हिन्दूइज्म, वाराणसी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1944।

चतुसेन शास्त्री : गोल सभा, लखनऊ, गंगा फाईन आर्ट्स प्रेस, 1931।

पी.चन्द्र एण्ड सत्यपाल : सिक्स्टी इयर्स ऑफ कांग्रेस, 1946।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी : मालवीय कोमेमोरेशन वाल्यूम, बी.एच.यू0 1932।

एम.आर. जयकर : स्टोरी ऑफ माई लाइफ, बाम्बे, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, 1959।

लॉवेट वर्मी : हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेन्ट, लन्दन, जॉन मूरे, 1921।

मालवीय और पंजाब अर्थात् अप्सर मोक्षदायिनी बिल पर बहस, प्रयाग, अभ्युदय प्रेस, 1919।

जे. अटवा : मेन एण्ड सुपरमेन ऑफ हिन्दुस्तान, बाम्बे, ठाक्कर एण्ड कम्पनी, 1943।

आर.पी. भण्डारी एण्ड एल.एस. भण्डारी : कांग्रेस कारवां, बाम्बे, नेशनल, यूथ पब्लिकेशन, 1954।

पी.एन. आचार्य : हमारा कुलपति मालवीय जी, काशी, गीता धर्म प्रेस, 1931।

परमानन्द : महामना मदन मोहन मालवीय : एन हिस्टोरिकल बायोग्राफी, वाराणसी, मालवीय अध्ययन संस्थान, बी.एच.यू. 1985।

जी.डी. बिड़ला : इन द शैडो ऑफ द महामना, बाम्बे, ओरियन्टल लॉगमैनस, 1953।

ए.आर. देसाई : सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, सोश्योलॉजी सीरीज, यूनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे पब्लिकेशन, पी.बी. डिपॉट, 1948।

एन.के. द्विवेदी : मदन मोहन मालवीय के जीवन चरित्र।

इम्पीरियल कोर्नेसन दरबार, दिल्ली, 1911, लाहौर, इम्पीरियल पब्लिकेशन।

इण्यिन इण्डस्ट्रियल कमीशन (1916 - 1918) : रिपोर्ट, लन्दन, एच.एम. स्टेशनरी आफिस, इम्पीरियल हाउस, 1919।

जगप्रवेश चन्दर : कांग्रेस फेस, लाहौर, फ्री इण्डिया पब्लिकेशन्स, 1943।

के0पी0 जैन : हिन्दू राष्ट्र के पितामह स्वराज्य महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय, दिल्ली, जयभारत साहित्य मण्डल, 1946।

एल.आई. रुडोल्फ एण्ड एस.एच. रुडोल्फ : दी माडर्निटी ऑफ ट्रेडीशन, पॉलिटिकल डेवेलपमेन्ट इन इण्डिया, शिकागो, 1967।

के.जी. सैयदैन : प्राब्लम ऑफ एजुकेशनल रीकन्सट्रक्शन, बाम्बे, 1926।

बी.एच. बेडेनपावेल : दी लैण्ड सिस्टम ऑफ ब्रिटिश इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1892, तीन वाल्यूम में।

जे0एन0 फर्कइार : माडर्न रीलिजिअस मूवमेन्ट इन इण्डिया, न्यूयार्क, 1918।

हुमायूँ कबीर : एजुकेशन इन न्यू इण्डिया, लन्दन, जार्ज एलेन एण्ड उनविन लिमिटेड, 1961।

कार्ल मेनिन्जर : दी विताल वैलेन्स, न्यूयार्क, वाइकिंग, 1963।

करेन हॉर्नी : दी न्यूरोटिक पर्सनालिटी ऑफ आवर टाइम, न्यूयार्क, नांर्टन, 1937।

रोनाल्ड डंकन (एडीशन) : सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी, वोस्टन, बीकॉन, 1951।

मैक्स वेबर : दी थिअरी ऑफ सोशल एण्ड इकोनॉमिक आर्गेनाइजेशन, न्यूयार्क, अक्सफोर्ड प्रेस, 1947।

सी.वाई. चिन्तामणि : इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स म्युटिनी, लन्दन, जार्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1940।

पत्र-पत्रिकाएं

प्रज्ञा (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका), मालवीय जयन्ती विशेषांक, 1961।

प्रज्ञा (वही) महामना हीरक जयंती अंक, 1976-77।

विश्व ज्योति (मासिक), 'मालवीयांक', होश्यारपुर, पंजाब, जनवरी 1962।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, 'मालवीय शती विशेषांक' संवत् 2018 विक्रमी।

'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय समाचार', तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन विशेषांक, सितम्बर, अक्टूबर, 1983।

सबकी बोली (मासिक), अंक-1, अक्टूबर, 1939।

'आज' हिन्दी दैनिक समाचार पत्र, वाराणसी।

'आजकल' (हिन्दी मासिक), नवम्बर, 1956।

'स्मारिका' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय विशेषांक, 25 दिसम्बर, 1985, लखनऊ, महामना मालवीय मिशन।

'कादम्बिनी' (मासिक), फरवरी, 1987।

सम्मेलन पत्रिका, श्रृद्धाञ्जलि विशेषांक, भाग-48, शक सम्वत् 1884।

हिन्दूस्तान टाइम्स, 24 नवम्बर सन् 1927।